THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180761

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-1-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83/R14P Accession No. H 3137

Author राघव, रांगेय

Title पक्षी और उनकी उड़ान

This book should be returned on or before the date last marked below

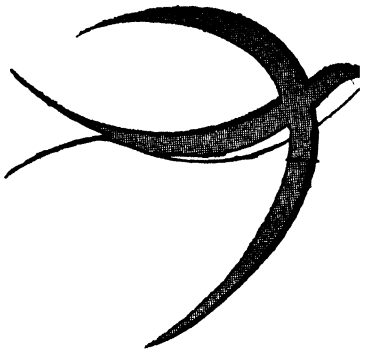

पक्षी और आकाश

रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य	:	चार रुपये (४·००)
प्रथम संस्करण	:	फ र व री , १ ९ ५ ८
आवरण	:	न रे न्द्र श्री वा स्त व
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

परिचय

'पक्षी और आकाश' में आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की कथा है। सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और राजनीतिक चित्रण में यह उपन्यास उस युग को तो सामने रखता ही है, मनुष्य की शाश्वत समस्याओं को उभार लाता है। इस तरह आज से हज़ार साल बाद भी इस उपन्यास की रोचकता वही रहेगी, जो आज है। धन और व्यक्ति, प्रेम और परिवार, समाज और उत्तरदायित्व के प्रति तब के मनुष्य की खोज आज तक अपना महत्व खो नहीं सकी है। समय की महान पटी में लेखक ने मनुष्य को देखा है और इसीलिये यह उपन्यास देश-काल की सीमा में रहते हुए भी देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। रोचक इतना है कि पाठक कौतूहल में ही नहीं डूबता, भावों के सत्यों में भी खो जाता है। ऐसा ऐतिहासिक उपन्यास है यह, जैसे लेखक ने एक सामाजिक उपन्यास लिखा है; सब कुछ जैसे पहले लेखक में आत्मसात् होकर फिर आया है बाहर; कल और आज को एक करता हुआ, आने वाले कल को रास्ता दिखाता हुआ। इसीसे यह उपन्यास एक देन है, नई देन !

१

कल तक सब कुछ था । आज कुछ भी नहीं है ।

कुछ लोग कहते हैं कि सुख और दुख का आरम्भ तब से होता है जब मनुष्य उनका अनुभव करने लगता है । अर्थात् सारी सृष्टि एक अनुभूति है । मनुष्य चाहे तो अनुभव करे अन्यथा नहीं करे । लोक के सुख और दुख उसी अनुभूति पर आश्रित हुआ करते है । मैंने अनेक मुनियों के साथ समय व्यतीत किया है । या कहूँ कि उनके साथ व्यतीत हुआ हूँ क्योंकि मैने क्या किया और क्या नहीं किया, यह मै अपने आप कैसे बता सकता हूँ ? परन्तु कुछ साधुओं ने मुझे बताया है कि जो कुछ है वह केवल इसीलिये है कि हम उसका अनुभव करते हैं । असली मनुष्य का उच्चस्तर है, जब वह अनुभव करना छोड़ देता है । लेकिन ऐसा हो कैसे सकता है, यह मैं अभी तक समझ नहीं पाया हूँ; जबकि मेरी आयु अब चौबीस वर्ष की हो चुकी है । मैं अनुभव करता हूँ एक विशेष आयु से, किन्तु कुछ स्मरण की धुँधली रेखाएँ हैं जो मेरे आसपास के लोग अपनी बातों की तूलिकाओं से गहरी करते है और मुझे पता चलता है कि मेरा अनुभव जब प्रारम्भ होता है, मेरी सत्ता उससे पहले से प्रारम्भ हो चुकी हुई मिलती है और मेरा 'मैं' एक पुराने रूप का उत्तराधिकार है और अब शायद वह एक क्रम है, जिसे विराम कहाँ मिलेगा, यह मैं नहीं जानता ।

सामने पथ पड़ा है । बरसात की एक मुस्कान ने धरती में एक पुलक भर दी है । चारों तरफ़ हरियाली उठने लगी है । आकाश मे बादलों के सार्थ घूमते फिरते हैं । न जाने वे कितने अज्ञात क्षितिजों तक जाते हैं और जहाँ ठहरते हैं वहीं पानी का दान करते हैं, पाल देते हैं और कहते हैं कि यह बहुत दूर जाते हैं, समुद्र से व्यापार करते हैं ।

थक ही तो गया हूँ। क्यों न इसी घने वृक्ष के नीचे बैठ जाऊँ। उफ़! धूल छा गई है। मेरे इस वैभवशाली वेश पर धूलि चढ़ गई है। कल तक मैं नगर-सेठ था। लोग नगर-श्रेष्ठि को देखकर सम्मान से सिर झुकाते थे। आज वह सम्मान और वह गौरव कहाँ है? व्यक्ति उन सीमाओं को छोड़ आया है। तो यह सब जो कुछ है घटनाओं का चक्र है। इनके भीतर रहने से व्यक्ति को उन्हें झेलना पड़ता है। जब वह उनमें से हट जाता है तो उसका अभाव वहाँ 'हो जाता' है। लेकिन यह भूल है। क्या व्यक्ति उस 'घटनाचक्र' से अलग हो जाने पर दूसरी जगह फिर किसी 'घटनाचक्र' में नहीं फँस जाता?

जीवन घटनाओं का चक्र है। निरंतर चलने वाला चक्र—अविराम··· अथकित···फिर निरंतर होते रहने वाले में एक यह क्या है जो सबका अनुभव करता है? वह है आत्मा!! इस आत्मा को यह चक्र कब छोड़ सकता है? सत्ता में दुख है, घृणा है, अहंकार है; प्रीति में स्वार्थ और वासना है·· फिर मुक्ति कहाँ है?

चौबीस वर्ष का हूँ और सम्भवतः मुझे यह सब नहीं सोचना चाहिये, क्योंकि पिता यही कहते थे। न जाने उनकी याद आने पर मुझे कुछ अजीब-अजीब-सा लगने लगता है। सच तो यह है कि आज घर से भाग आने पर भी मुझे अच्छी तरह यही याद है कि उस घर में यदि सचमुच कोई मुझे चाहता था, तो वे पिता ही थे। अनहोनी-सी बात है कि मैं घर में सबसे छोटा लड़का हूँ, किन्तु माता का सहज दुलार जितना मुझे मिलना चाहिये था, उतना नहीं मिला। माँ उन तीनों बेटों को अधिक चाहती थी। पिता ने जन्म से ही मुझे प्यार किया। हो सकता है कि इसीने उन मेरे तीनों भाइयों में ईर्ष्या को जगाया और माँ ने इसे अनुभव किया कि पिता को सचमुच मुझपर अधिक स्नेह था। स्पष्ट ही पिता के स्नेह का कारण था मेरा विवेक! जो कुछ मैं हूँ, वे इसे मेरा विवेक भी मानते थे और भाग्य भी। क्या सचमुच भाग्य कोई ऐसी वस्तु है, जो बाहर रहती है, और मनुष्य उसके हाथ में यन्त्र-सा चलता रहता है? क्या ऐसी कोई नियामक शक्ति है? किन्तु मुनि तो कहते थे कि कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो चलाती हो। प्रकृति अपने आप अपना काम करती रहती है। आत्मा के लिये भी प्रकृति के अनुसार ही नियंत्रण है। वही नियंत्रण भाग्य है। यह नियंत्रण बड़ा निर्मम होता है। पाप और पुण्य—जो भी व्यक्ति करता है;

उसका फल ही भाग्य है। और यह फलाफल उसके एक जीवन में ही सीमित नहीं होता, जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। इसीलिये वह कई तरह से जगत में जन्म लेता है। तीर्थंकर अपने कर्मों का क्षय कर देते हैं और इसीलिये उनका फिर जन्म नहीं होता। किन्तु ब्राह्मण तो ऐसा नहीं मानते। वे तो परमात्मा को मानते हैं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि भाग्य एकमात्र सहायक या घातक नहीं है। भाग्य से प्राप्त होने वाली वस्तु भी तभी मिलती है, जब मनुष्य उद्योग करता है। उद्योग ही पुरुषार्थ है। फिर भी अपने पुरुषार्थ और उद्योग पर व्यक्ति को घमंड नहीं करना चाहिये, क्योंकि उससे अहंकार पैदा होता है, और उससे व्यक्ति एक प्रकार के मोह में पड़ जाता है, जो उसके विवेक को नष्ट कर देता है।

सूर्य डूब रहा है। खेतों में उदासी की लाल-लाल छाया पड़ रही है जो सूर्य की अन्तिम रश्मियाँ बिखरा रही हैं। सामने की वह पहाड़ी अब नीली-नीली-सी दीख रही है। असंख्य पक्षी घरों की ओर लौट रहे हैं। न जाने कब से ऐसा ही होता आ रहा है और होता चला जायेगा। मैं एक पेड़ के नीचे बैठा हूँ और मेरे पास कोई नहीं है। दूर ज़रूर वहाँ कोई गाँव है। क्योंकि कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आ रही है, जो मेरे पीछे के टीलों में से सुनाई देती सियारों की हुँआँ-हुँआँ से बिल्कुल अलग है। वह आबादी की गूँज है, यह वीराने की चिल्लाहट है। इन दोनों के बीच मैं बैठा हूँ, जो कल तक नगर-सेठ था, और आज कुछ भी नहीं हूँ। कैसे कह दूँ कि मैं भिखारी हो गया हूँ, क्योंकि मुझे घर छोड़े शायद दो पहर ही हुए हैं। अभी भी मेरे कानों में दास-दासियों, परिजनों और सेठों के शब्द गूँज रहे हैं। भिखारी होने के लिये मुझे भीख माँगना आवश्यक है, और भीख मैंने माँगी नहीं है। फिर मैं भिखारी कैसे कहला सकता हूँ। कुछ भी पास नहीं है। जिनके पास है वे अधिक से अधिक चाहकर कम से कम बदले में देना चाहते हैं। यह मैं देख चुका हूँ और देख रहा हूँ। इसलिये ही मैंने धन को घृणित समझा है और मनुष्य के संबंधों को इस धन से ऊपर स्थान देने की चेष्टा कर रहा हूँ। जानता हूँ यह धन बहुत ही आवश्यक है। न कुछ की अवस्था में भी यह विश्वास बना ही रहता है कि कुछ मिलेगा। और मिलने पर भी अभावों की तृप्ति नहीं होगी, किन्तु गाड़ी फिर खिंच चलेगी। तो इस विश्वास को मैं अपना पुरुषार्थ कहूँ या भाग्य ? मैं इसे

भाग्य ही कहूँगा क्योंकि पुरुषार्थ तो मैं बहुतों को करते देखता हूँ, जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता। अगर मैं यह कहूँ कि मैं ईमानदार हूँ, या मेरे पुरुषार्थ में औरों के पुरुषार्थ की तुलना में अधिक विवेक है, तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी ? इस क्षण में जो अनेक वस्तुओं के मिलन से एक 'समय' बना है, वह अगले क्षण में वस्तुओं के किस प्रकार के 'संबंध' में प्रगट होगा, यह कौन जानता है ?

इन संबंधों का नाम ही मनुष्य का जीवन है। यदि मैं इस दृष्टिकोण से देखूँ तो मैं कहूँगा कि यह जो मैं हूँ सो मेरा नाम धनकुमार है। क्योंकि मेरे शरीर को लोग धनकुमार के नाम से जानते है। खाली शरीर नहीं, बल्कि कर्म करने वाले शरीर को यह नाम दिया गया है; क्योंकि जब मैं कर्म करने योग्य नहीं रहूँगा तब लोग मेरे शरीर को देखकर कहेंगे कि यह धनकुमार नहीं है, यह तो धनकुमार का शव है।

यह धनकुमार, जो मैं हूँ, है कौन ? मेरा प्रारम्भ सुनी-सुनाई बातों पर आधारित है। उसके हिसाब से पुरपइठान एक पुराना और समृद्ध नगर है। मैं उसी नगर के श्रेष्ठि धनसार का सबसे छोटा पुत्र हूँ। मेरा धनसार से जो संबंध है वह मैंने आँख खुलते ही नहीं जाना, जाना है क्रमशः चेतना आने पर। जब मैं छोटा ही था तब तीन लड़के उसी घर में और थे। बड़ा धनदत्त कहलाता था, मँझला धनदेव और छोटा धनचन्द्राधिप। वे तीनों मेरे बड़े भाई थे। वे तीनों मुझसे खेला करते थे। मैं उन्हें बड़े भैया, मँझले भैया और छोटे भैया कहा करता था। मुझे बहुत धुँधली-सी याद है कि एक बड़े-से प्रकोष्ठ में बहुमूल्य चिकने पारसीक कालीन पर मैं घुटनों के बल चला करता था और मेरे तीनों भाई मेरे पास ही खेलते थे। जब मुझे कुछ और अकल आई तब मैंने जाना था कि वे तीनों ही मुझसे बड़े थे, बड़े इतने कि अब जब मैं चौबीस वर्ष का हूँ, बड़े भैया धनदत्त बत्तीस वर्ष के हैं। इकत्तीस के हैं मँझले भैय्या धनदेव और तीस के हो गये हैं छोटे भैया धनचन्द्राधिप। उन तीनों की पत्नियाँ हैं। सुभामा बड़ी भाभी हैं, सुमुखी मँझली हैं और छोटी भाभी हैं अलका। उन तीनों ने मुझे स्नेह दिया है, और स्नेह जीवन में बहुत ही मूल्यवान होता है, इसलिये मुझे लगता है वे मेरे बहुत ही पास हैं।

किंतु अब जब कि मैं चला आया हूँ तब घर की क्या हालत होगी ? कल रात चाँदनी छिटकी हुई थी और मैं उस समय देर तक चंद्रमा को देखता रह

गया था। पिता सोये थे, सोया था सारा घर। दास, दासियाँ, अनुचर, आये-गये व्यापारी। सो रहे थे अपने सारे पशु। द्वार पर कुत्ता भी ऊँघ गया था। केवल कहीं-कहीं मणिदीप जल रहे थे और सुवास से गमकते प्रकोष्ठों में हवा आ रही थी। नगर भी सोया था। सोया था राजमहल; पण्यहाट। और आज प्रातःकाल हलचल मच गई होगी कि नगर-श्रेष्ठि धनकुमार कहीं नहीं मिल रहा है। क्या उसे चोर उठा ले गये या भूत या प्रेत या विद्याधर! भाभियाँ सुभामा, सुमुखी और अलका जानती है, और संभवतः उन्होंने पिता से कह भी दिया होगा। तो क्या पिता अपने अन्य पुत्रों पर क्रुद्ध हुए होंगे? क्या यह समाचार छिप सकेगा कि धनकुमार सब कुछ छोड़कर चला गया क्योंकि उसके भाई उसके प्राण लेने को तैयार हो गये थे! जब महाराज को ज्ञात होगा, सभा-समाज में विदित होगा तब क्या उन लोगों से सब घृणा नहीं करेंगे?

अवश्य करेंगे, किन्तु मेरा इसमें क्या उत्तरदायित्व है? क्या मुझे उनके हाथों मर जाना अच्छा था? क्या मैं इसीलिये जन्मा था कि उनकी ईर्ष्या मुझे काटकर फेंक दे। कितना-कितना विक्षोभ मुझे इसे सोचते हुए ही ग्रस लेता है। परन्तु विक्षोभ से लाभ भी क्या? वे मेरे और कोई नहीं? भाई ही तो हैं? मैं उन्हें क्षमा करने को ही तो विवश हूँ? आखिर मुझे बचाया किसने? उनकी स्त्रियों ही ने तो? क्या उनका प्रतिकार करना मेरे लिये शोभन होगा? मुझे आवश्यकता ही क्या है?

वे अपने भले, मैं अपना भला। मैं क्या कमा नहीं सकता? मेरी ज़रूरतें ही क्या हैं? मनुष्य को भरना है अपना पेट, और पेट भरने के लिये उसे पचीस काम हैं। हाथ-पाँव साबुत हों तो आत्मसम्मान को जीवित रखते हुए ईमानदारी से जो कुछ मिल जाये वही मेरे लिये काफ़ी है। ईमानदारी वैभव का मुँह नहीं देखती, वह तो मेहनत के पालने पर किलकारियाँ मारती है और संतोष पिता की तरह उसे देखकर तृप्त हुआ करता है। और मैं समझ गया हूँ कि शांति बाह्य तृप्तियों में नहीं है, वह तब होगी जब प्रतिस्पर्धा का साँप ईर्ष्या का विष उगलना बंद कर दे। मुझे क्या है? मेहनत-मज़दूरी करके भी कमा लूँगा, परन्तु निरन्तर कलहपूर्ण जीवन की तुलना में वह कहीं अधिक अच्छा होगा। पिता ने मुझे जो शिक्षा दी है, जो कुछ मैंने स्वयं सीखा है, वह सब तो मेरा ही है। ज्ञान ही मेरी जीविका का संबल है, अध्यात्म का वह भी नहीं है।

मुझे झंझटों से दूर रहना है। यों सब लोगों ने कहा है कि मेरा भाग्य बहुत बली है और उसका बलवान होना इससे कितना अधिक प्रगट है कि मैं आज अज्ञात बना हुआ राह पर एक पेड़ के नीचे बैठा हूँ। और काली रात घिरती आ रही है। उस अंधेरे में अब सब कुछ डूब जायेगा, लेकिन दीपक की तरह मेरा चिंतन जलता रहेगा।

सच कहता हूँ कि उसी भाग्य के बारे में मैं नहीं सोचना चाहता कि वही मेरा दुर्भाग्य है।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझे पाला। माँ के दूध को छोड़ने पर उसीने मुझे अपने पास सुलाया। पज्जा की यादें बहुत मीठी हैं। उन दिनों वह मुझे सोने के रत्न-जटित पालने में से मखमलों पर से उठाती थी तो छाती से लगा लेती थी। सुवर्ण और रत्नों से भी अधिक सुख मिलता था मुझे अपनी पज्जा अम्मा की छाती पर सोने में; वह हालाँकि सिर्फ़ एक दासी थी, साँवली-सी। अब मैं देखता हूँ कि और धायों की तुलना में पज्जा कितनी अधिक अच्छी थी। उसने मुझे कितनी कहानियाँ सुनाई थीं। पज्जा अम्मा की कथाएँ मेरे लिये चेतना का पहला संसार थीं। मै उनमें रहता हुआ अपने चारों ओर घूमता था, जहाँ धीरे-धीरे मैने बहुत कुछ सीखा।

पज्जा ने मुझे बताया था कि जब मैं पैदा हुआ था तब वह मेरी नाल लेकर भवन के पिछवाड़े की अशोक-वाटिका में गाड़ने गई थी। उसने कुदाल से धरती को खोदा और अंधेरे में ही वह एक बार अज्ञात भय से काँप उठी। उसकी कुदाल किसी वस्तु से टकराकर खन्न करके बज उठी। यह क्या होगा? सोचा उसने। और उसने ही बताया था कि उसका लोहू सहसा जम गया था। उसने देखा था कि ढक्कन हटाते ही देग में सुवर्ण भरा हुआ-सा मुस्कराया था। वह ठहरी दासी! सामने सोने का ढेर! मन किया कि पज्जा, कुबेर ने संपदा दी है। ले और सँभाल! अपने भाई के साथ चुपचाप भाग चल!

यह मुझे पज्जा ने ही बताया था। अपने मन की बात कहते हुए उसे डर नहीं लगा था मुझसे। उसने सोचा था—पज्जा! तू तो दासी है। दास है तेरा भाई। धनसार पार्श्वनाथ का अनुयायी है, तभी दासों को भरपेट खाना देता है। उसके कारखानों में काम करती श्रेणियाँ भी धन पाती हैं। धनसार को विदेशों से सार्थ अपार धन लाकर देते हैं, जिन्हें वह श्रेणियों में भी बाँटता है।

फिर भी तू दासी है। इस धन को लेकर भाग जा और पुरपइठान को छोड़ दे। सुदूर, बहुत दूर कहीं अपने भाई के साथ जाकर बस जा। भाई का ब्याह कर, अपना भी कर ले। सुख से स्वतंत्र बनकर रह !

परन्तु ! पजा का मन अब काँप उठा। उस समय अँधेरा था, लेकिन पजा ने देखा कि आकाश में नक्षत्र चमक रहे थे। भवन के बाहर भीड़ थी; दास, दासियाँ, श्रेणियाँ, श्रेष्ठि के भृत्य, सैनिक, पड़ोस के श्रेष्ठि लोग, और कुलीन राजन्य मित्र; कुछ मुनि भी थे। थे, पर सब दूर थे।

स्वयं पजा ने मुझे बताया था कि फिर भी पजा को लगा था कि कोई उसे देख रहा था। पजा के मन ने कहा था कि रत्नगर्भा पृथ्वी बहुत बड़ी है। अवंतिका, मगध, वत्स और इतनी ही नहीं; धरती और भी बड़ी है। कहीं भी जाकर बस जा। कौन जान पायेगा ? परन्तु सहसा ही वह डर गई थी। उससे किसीने कहा था कि पजा ! तू दासी है। उसने भी कहा था—'हाँ, मैं दासी हूँ।'

उसी ने पूछा था : 'पजा ! तू दासी क्यों है ?'

पजा उत्तर नही दे पाई थी।

उसी ने फिर पूछा था : 'पजा ! तू स्वामिनी क्यों नहीं है ? इसी संसार में कोई स्वामी क्यों है ? कोई दास क्यों है ? कोई उच्च जाति क्यों है ? कोई निकृष्ट क्यों है ? कोई उच्च जाति का सम्मान पाकर भी धनहीन क्यों है ? और कोई निकृष्ट जाति का होकर भी धनवान कैसे है ? कोई राजकुमार होकर भी रोगी क्यों रहता है ? और कोई दास होकर भी, न अच्छा भोजन पाता है, न पूरी नीद सोता है, मगर स्वस्थ और सुन्दर क्यों होता है ? पजा ! यह क्यों होता है ?'

तब पजा ने सोचा था कि यह सब जो दीख रहा है वह किसी का फल ही है। और वह है कर्म का फल। कर्म—अच्छे-बुरे—का फल। और उसी के अनुसार प्राणी को जन्म मिलता है। उसी फल के अनुसार वह आदमी बनता है और उसी के फलस्वरूप वह गधा भी बनता है, जो जीवन भर बोझा ढोता है; कोल्हू का बैल भी बनता है, जो आँखों पर पट्टी बँधवा कर निरंतर घूमा करता है। तो पजा ! यह धन लेकर तू चली भी गई तो क्या वह चोरी नहीं होगी ? जिस धरती में यह धन गड़ा है, वह धरती बहुत पुरानी है। इस धरती

पर तो हम सब लोग आते हैं और चले जाते हैं।

पज्जा ने ही बताया था कि उस समय भवन के सिंहद्वार की ओर मर्दलराव सुनाई देने लगा था, जिसे सुनकर पज्जा सोचने लगी थी कि देखो, अब घर में श्रेष्ठि-स्वामी पुत्र-जन्म पर आनंद मना रहे हैं। यह धरती जिसमें धन गड़ा है, धरती का यह टुकड़ा इस समय भाग्य ने उनको दिया है! यद्यपि वे भी इस धरती पर सदा नहीं रहेंगे। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिसने इस धन को किसी प्राचीन काल में अपना समझकर गाड़ा था, यह धन उसका बनकर नहीं रहा। जिसने गाड़ा था, यह उसका ही नहीं बना। श्रम करके उसने पाया, सहेज कर गाड़ा, परन्तु काम यह उसके भी नहीं आया। तो इसका अर्थ है कि धन कर्मफल का एक भोग है। आत्मा की परीक्षा के लिये प्रकृति के यह भिन्न रूप हैं—धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच। अमीर और गरीब में एक ही आत्मा है। जब यह आत्मा गरीबी में लोभ में पड़ता है तो और भी अधिक कष्ट भोगता है और जब अमीरी में धन का मद इस पर छा जाता है, यह बेईमानी और घमंड में डूब जाता है, तब कर्मफल से यही आगे चलकर दासत्व, रोग और दारिद्र्य भोगता है। यही तो इस दारुण चक्र का रहस्य है, अन्यथा यह क्यों बना रहता?

पज्जा के सामने श्रेष्ठि धनसार के पास एक मुनि यही कहते थे और वे नंगे रहते थे, क्योंकि उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था। पज्जा उनकी सेवा करती थी। जब पज्जा ने मुझे यह बात सुनाई थी, तब मैं सिर्फ़ आठ साल का था। उसने मुझसे कहा था: 'धन वत्स! तू नहीं समझेगा अभी कि वे मुनि कितने महान थे। उन्होंने काम को जीत लिया था।' सचमुच उस समय मैं नहीं समझा था और मैंने पूछा था: 'पज्जा अम्मा! काम कौन होता है?'

पज्जा अम्मा ने कहा था: 'धन वत्स! तू बड़ा होगा तो जानेगा', और स्नेह से मुझे सहलाकर फिर अपनी उसी रात की कहानी सुनाने लगी थी:

'तो मुझे नया विचार आया। मैंने सोचा कि श्रेष्ठि धनसार को यह धन इतने दिन नहीं मिला, फिर अब कैसे मिला? यहाँ मैं इस बालक की नाल गाड़ने आई थी और खोदते में मिला यह धन! तो यह धन इसी बालक का हुआ न?'

मैं देखता रहा था। पज्जा के मुख पर कितनी शान्ति थी। पज्जा ने

कहा था : 'तब मैं श्रेष्ठि के पास गई और मैंने धीरे से कहा : स्वामी !

'क्या है पज्जे ?—उन्होंने सम्मानित अतिथियों से बात करना रोककर पूछा था।

'मैंने कहा : स्वामी ! तनिक एक आवश्यक कार्य है। स्वयं आपको ही चलना होगा।

'उन्हें विस्मय हुआ था। अतिथियों से क्षमा माँगकर वे मेरे साथ आये थे और जब वे अलिंद में आ गये और मैं अंधकार की ओर बढ़ी थी तब वे कुछ शंकित हो गये थे। सोचा होगा दासी कोई कुटिलता तो नहीं कर रही। दास-दासी कभी-कभी इस तरह छल से स्वामियों को डाकुओं के हाथ में जो फँसवा देते थ। रुककर बोले : कहाँ जाती है ?

'मैंने कहा : स्वामी ! एक अद्‌भुत बात हुई है। आप प्रभु है, आपकी कमर में खड्ग लटक रहा है। फिर मैं स्त्री ही तो हूँ, और आपके भृत्य भी समीप हैं। मेरे साथ अशोक-वाटिका में आइये।

'वे मेरे पीछे-पीछे आये थे। वे वीर थे। मैंने अशोक-वाटिका में उस जगह पहुँचकर कहा था : प्रभु ! अपनी संपत्ति स्वीकार करें।

'उजाला अधिक नहीं था। दूर एक दास दीप लेकर जा रहा था। स्वामी की आज्ञा से पास आ गया और स्वामी ने देखा था—स्वर्ण !—ढेर !

'पज्जा !—वे गद्‌गद-से कह उठे थे—तुझे मिला ?

'हाँ, स्वामी !

'पज्जा ! यह किसका है !

'मैंने कहा था : आपका !

'उन्होंने कहा था : ऐसा नहीं हो सकता पज्जे ! मेरा होता तो तुझे क्यों मिलता ?

'पर स्वामी ! यह मेरा होता तो मैं दासी क्यों होती ?

'स्वामी ने अत्यन्त कृतज्ञ नेत्रों से मुझे देखा था और कुछ कह नहीं पाये थे। तब मैंने कहा था : स्वामी ! यह आपका तो नहीं है। यह तो उस नये बालक का है, जिसकी नाल गाड़ने को मैंने यह गड्ढा खोदा था।'

पिता की आँखें भर आई थीं और धीरे-धीरे यह संवाद तब सारे नगर में फैल गया था जब मेरे जन्म के आनंदोत्सव में उसी धन को खर्च करके पिता ने

ज़बर्दस्त भोज दिया था। उस सुवर्ण से शायद पुरपइठान का कोई एक आदमी भी भूखा नहीं रहा था।

पज्जा की कथा ने मुझे बताया था कि मैं बड़ा भाग्यवान था और बड़ा धनी होने वाला था, परन्तु सच कहता हूँ कि पज्जा जैसी निस्पृह स्त्री ने मेरा लालन-पालन किया और उसी से मैंने सीखा है कि धन आत्मा को छलने वाली चीज़ है। इसे जितना ही जो बाँध-बटोरकर, दूसरों को धोखा देकर, निचोड़कर इकट्ठा करता है, वह उतना ही बुरा बनता जाता है।

तो क्या मैं यह कहूँ कि मैं इसी कारण घर छोड़कर आ गया हूँ? इस समय क्या मेरे वियोग में पज्जा को अत्यन्त क्लेश नहीं हुआ होगा?

बचपन की यादें मुझे अधिक विकल ही बनाती हैं। पाँच धायें थीं पज्जा के नीचे, जो मेरी सेवा करती थीं। एक मागधी थी, दूसरी द्राविड़; तीसरी, चौथी, पाँचवीं नर्मदा-तीर की थीं। उनके नीचे थीं अठारह दासियाँ। अब मुझे ज्ञात है कि वे कहाँ-कहाँ की थीं। एक थी पारसीक, एक यवन (ग्रीक)। मिस्र, सुवर्णदेश, बंग, कलिंग, कोसल, वत्स, कर्णाटक, सिंहल, लिच्छवि गण, शूरसेन देशों की दासियाँ उनके नीचे थीं। बाकी छः में एक कुलिंद थी, एक विंध्याटवी में से आई नाग जाति की थी। उनकी याद तो मुझे है ही, परंतु जो जहाजों में पकड़-कर लाई गई थीं उनमें एक यहूदिन थी। दासों का व्यापार करने वाले अनेक दस्यु थे। श्रेष्ठि धनसार ने दया भाव से इन्हें खरीदा था। वे जानते थे कि अन्यत्र क्षत्रियों में इन्हें बड़ा कष्ट दिया जायेगा। पौण्ड्र, सिन्धु और मद्र देश की दासियों को भूमि पर चलते सार्थ ले आये थे। वे अपनी-अपनी भाषाएँ बोलती थीं और उन्हीं से मैंने जाना था कि प्रत्येक देश की अपनी भाषा है, हर एक के रीति-रिवाज़ अलग-अलग थे; वस्त्र-भूषा अलग थी; नियम, पाप, पुण्य, सब ही विभिन्न थे; विभिन्न देवी-देवता भी, परन्तु एक सत्य था कि सब जगह धनी-दरिद्र थे; भाग्य सब जगह था और यह भी कि जितनी धरती पर मनुष्य रहता था, संसार उससे कहीं बड़ा था, क्योंकि मैं ऐसी जगहों का भी नाम सुनता था, जिनके लोग हमारे यहाँ नहीं आते थे; जैसे कुरु, अंग, गांधार, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप (जावा), बर्हिण द्वीप (बोर्नियो), बावेरु (बैबीलोनिया), लाट और न जाने कितने-कितने! मैं पज्जा से पूछता था कि पज्जे अम्मा! इतने देश हैं धरती पर! सब जगह मनुष्य रहते हैं?

'हाँ वत्स धन !' पज्जा कहती थी। 'यह संसार बहुत ही विचित्र है, इसका अन्त कौन जानता है !'

वह बातें अनन्त थीं, अछोर थीं। उन्होंने मुझमें जो एक अकूत जिज्ञासा भरी वही तो आज मुझमें उमड़ नहीं आई है ? मैं नगर-सेठ था, वह सब वैभव मेरा था। क्या यदि मैं चाहता तो महाराज से कहकर उन भाइयों को दण्ड नहीं दिला सकता था ? नहीं। वह मैं कैसे कर सकता था ? लोग क्या कहते ? पज्जा अम्मा को मैं मुँह कैसे दिखाता ? आज मैं सोचता हूँ कि दया और आत्म-सम्मान का यह अद्‌भुत सम्मिश्रण मुझमें कैसे है जो मेरे भाइयों में नहीं है ? यह पिता की विशाल हृदय-वत्सलता और दासी पज्जा की करुणा का ही तो मुझमें ऐसा प्रभाव पड़ा है ! मेरे भाइयों को कुलीनों ने पाला है और तभी उनमें इतना अहंकार भी है।

स्नेह ही विष के वृक्ष उगा सकता है। इसे भी कोई मान सकेगा ? पिता का मुझपर अतुल अनुराग मुझे एक ओर ऊपर उठाने लगा। मैंने कलाएँ सीखीं, विद्याएँ सीखीं, और अनेक शास्त्र पढ़ गया। परन्तु दूसरी ओर, भाई मुझसे घृणा करने लगे। प्रतिस्पर्धा बढ़ चली। मैंने तो कुछ नहीं किया ! पिता उनकी ईर्ष्या देखकर उन्हें डाँटने लगे और इसीने एक दिन उस भयानक नाटक का सूत्रपात किया जिसके पहले अंक का अन्त इस प्रकार हुआ है कि मैं घर छोड़ने को विवश हो गया हूँ।

वे तीनों आपस में सलाह करते थे। उनकी पत्नियाँ भी साथ रहती थीं।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझसे कहा : 'वत्स धन ! जानते हो घर में क्या हो रहा है या केवल कला-विलास में ही डूबे रहते हो ? इस तरह संगीत में ही सब भूले रहोगे कि कुछ चारों तरफ़ का भी ध्यान रखोगे ?'

मैंने पूछा : 'क्या हुआ पज्जा अम्मा।' और मैंने चाँदी की चौकी खींचकर बैठते हुए कहा : 'क्या बात हो गई ?'

'अरे !' पज्जा ने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़कर माथे पर बल डालकर भौहें ऊपर चढ़ाते हुए कहा : 'वत्स धन ! तीनों भाई तुमसे ईर्ष्या करते हैं।'

'कैसे जानती हो ?' मैंने पाँवों से पंखों का जूता सरकाकर कहा।

दासी खड़ी थी—एक यवनी।

'तू जा री !' पज्जा ने उसे जाने को कहा।

वह चली गई तो पज्जा ने बड़े हौले से कहा : 'वत्स धन ! तुम मेरे पुत्र हो, जानते हो ?'

'इसमें क्या विचित्रता है अम्मा ! तू कहती क्यों नहीं ?'

'बेटा !' पज्जा ने कहा : 'तुम अब सत्रह साल के हो गये। तुम्हारे सीधेपन पर वारी जाती हूँ। और तुम्हारी आयु के लडकों के प्रासादों-भवनों में तो तरुणियाँ रहती हैं, यहाँ सब तुम्हारी माता ही हैं !'

'तो अम्मा ! तुम सबने ही तो मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया है। तुम सब माँ ही तो हो।'

पज्जा की आँखों में आँसू भर आये।

मैं जानता था, पज्जा ने मुझे पालने के लिये यौवन के सुखों को भी छोड़ दिया था।

'क्यों रोने लगी अम्मा !'

'स्वामी !' पज्जा ने रोते हुए मेरे घुटनों पर सिर रखकर कहा : 'मुनि की करुणा ही है वत्स धन ! तुम स्वामी हो, हम दासियाँ हैं। कल तुम्हारा विवाह होगा तब भी क्या दासियों से ऐसे ही बोलते रहोगे ?'

'तो क्या तब तुम मेरी अम्मा नहीं रहोगी ?'

'पर वधू तो कुलीन होगी न ?'

'तो क्या वधू माँ नहीं बनेगी अम्मा ! उसका पुत्र क्या कर्मफल से उसे त्याग नहीं देगा ?'

पज्जा चकित-सी देखती रही थी।

दीपाधार जल उठे थे। उन दीपों की लौ की ओर जब ध्यान जाता है, तो अचानक मुझे अपना वह रूप याद आता है जो पिता के प्रकोष्ठ मे जलते दीपाधारों के सम्मुख मैने स्वयं देखा था।

पिता एक चौकी पर बैठे थे और उनके सामने मेरे तीनों भाई खड़े थे—एक ओर। मैं बुलवाया गया था। दूसरी ओर मैं खड़ा हुआ था।

'पिता ! आज्ञा !' मैंने पूछा था।

वे सोचते-से लग रहे थे। उन्होंने कुछ नहीं कहा। उस समय भी उनके सिर के बाल बिल्कुल काले थे, जो इन सात वर्षों में ही खिचड़ी हो गये हैं। वे कितने स्वस्थ और उत्फुल्ल रहने वाले व्यक्ति थे। आज मैंने देखा, वह कितने

उदास थे। उन्होंने मुझे नहीं देखा। फिर सहसा उनकी ओर मुँह करके कहा : 'धनदत्त ! क्या यही होना था ?'

वे तीनों खड़े रहे।

मैंने देखा, धनदत्त—बड़े भैया—स्तब्ध थे। मँझले भैया धनदेव गम्भीर और छोटे भैया धनचन्द्राधिप कुछ उद्विग्न !

कोई नहीं बोला। माँ वहाँ नहीं थी। पज्जा अम्मा मेरे प्रकोष्ठ में मेरी राह देख रही होगी।

सहसा पिता ने मेरी ओर देखा और कहा : 'धनकुमार ! तूने देखा ? बता सकता है तेरा अपराध क्या है ?'

मैं नहीं समझ पाया। पूछा : 'अपराध !! कैसा पिता ?'

'तो यह तीनों तुझसे इतना द्वेष क्यों रखते हैं ?'

'मुझसे द्वेष क्यों रखेंगे अग्रज ?' मैंने पूछा। परन्तु धनदेव ने काटकर कहा : 'हो चुका ! आप तो उसके सामने ही हमारा अपमान कर रहे है। यह न्याय नहीं है, पक्षपात है। आप हमें द्वेषी कह रहे हैं। क्या है इसमें द्वेष करने योग्य ?'

'यही मैं भी सोचता था मँझले भैया !' मैंने कहा था।

'क्या मै तेरी बहुत प्रशंसा करता हूँ ?' पिता ने मुझसे पूछा।

'यदि थोड़ी भी करते है पिता ! तो क्या वही मेरे लिये अयोग्य को दान के समान नहीं है ?' मैंने पूछा।

पता नहीं क्यों उनके नयन गीले हो गये थे। पज्जा अम्मा भी आ गई थी। और माँ भी।

भैया धनदत्त ने कहा : 'हमे इससे कोई ईर्ष्या नहीं है पिता ! आपको प्रारम्भ से ही इस पर अधिक स्नेह रहा है। उसी स्नेह के कारण आप इसीको अपने स्नेह का केन्द्र बनाना चाहते थे। जितना ध्यान इसके लालन-पालन का आपने रखा है, उतना हममें से किसीका नही।'

'यह तुम कहते हो !' पिता ने पूछा।

'हम नहीं कहते', भैया धनदेव ने काटकर कहा : 'नगर कहता है।'

पिता ने माता की ओर देखा। परन्तु उन्होंने दृष्टि फेर ली। शायद वे नहीं चाहती थीं कि उनके तीनों पुत्रों को घर छोड़ना पड़े।

'तुम्हारा भाग्य तुमसे ऐसा कहला रहा है।' पिता ने सहसा तीक्ष्ण किन्तु सधे हुए स्वर से कहा। 'जिस दिन धनकुमार जन्मा था, उसी दिन अशोक-वाटिका में धन मिला था·····

वे तीनों ही इस बात पर हँस पड़े। पिता ने आश्चर्य से देखा।

'क्यों ? हँसते क्यों हो ?'

'अपराध क्षमा करें। नागरिक तो कुछ और ही कहते हैं।'

पिता को जैसे झटका लगा। 'क्या कहते है वे ईर्ष्यालु ! धनसार उनकी आँखों में इतना गड़ने लगा है कि उसके वैभव से दग्ध होकर वे उसके परिवार में ही कलह फैलाना चाहते हैं !'

तीनों पुत्र चुप रहे। अन्त में धनचन्द्राधिप ने कहा : 'वे कहते हैं कि श्रेष्ठि धनसार अपने चौथे पुत्र के जन्मोत्सव पर उसके भाइयों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यय करना चाहते थे, जो वैसे अनुचित लगता। इसीलिये उन्होंने ही अशोक-वाटिका में धन गड़वाकर पज्जा दासी के मुख से यह प्रवाद फैलवाया था। अन्यथा ऐसी दासी कौन है जो उस धन को लेकर भाग नहीं जाती ?'

पिता के नयन शून्य को देखते रहे। परन्तु मुझे लगा धरती काँप रही थी। यह सत्य था ! क्या यही मेरे भाग्य की छलना थी ? परन्तु पिता की शोकग्रस्त मुद्रा देखकर यह विश्वास मुझे हो ही नहीं सका। और पज्जा के लिये दासी शब्द सुनकर मुझे बहुत ही क्रूर लगा। मैं जिसे अम्मा कहता था, उसे ऐसे तिरस्कार से दासी कहा गया था ! और जिसके प्रति मेरे हृदय में इतना सम्मान था, उसे इन लोगों ने चोर के रूप में प्रदर्शित किया था। परन्तु विद्रोह मैं कर नहीं सकता था। जानता था पज्जा अम्मा स्वयं ही मुझे बुरा कहेगी, यदि मैं बड़े भाइयों को जवाब दूँगा। वह क्षण मुझे बहुत ही तीखे शूल-सा गड़ने लगा।

और अत्यन्त कठोर स्वर से धनदेव ने कहा : 'हमारी समझ में परिवार में से इतना धन नष्ट करवाने वाला भाग्यहीन है !'

पिता ने देखा और कहा : 'धनदेव, तू सबसे अधिक जड़ है। तू उद्दण्ड भी है, अविनीत भी। मेरे धन का स्वामी तू अभी से बन जाना चाहता है ?'

'स्वामित्व मुझे असम्भव नहीं पिता !' धनदेव ने कहा : 'मैं भी उपार्जन

कर सकता हूँ, परन्तु आपने मुझे अवसर ही कब दिया ? आप तो अपने कनिष्ठ पुत्र को ही योग्य बना रहे हैं !'

पिता जैसे कुछ नहीं समझ सके। उठ खड़े हुए। और वे घायल-से घूमने लगे। वह पल कितने भारी थे। पद्मा अम्मा चुप खड़ी थी और मैं घृणा कर रहा था—अपने आपसे, क्योंकि यह कलह क्यों हुआ था आखिर ? मेरे ही कारण न ?

'पिता।' मैंने कहा था : 'मुझे कुछ कहने की आज्ञा है ?'

पिता ने रुककर कहा था : 'तुम भी मुझपर कुछ आक्षेप करना चाहते हो ?'

'मैं', मैंने कहा था : 'आज्ञा चाहता हूँ कि अंग्रजों के सुख से रहने के लिये मुझे कहीं भेज दिया जाये।'

'बोलो !' पिता ने मुड़कर चुनौती देते हुए अंग्रजों से कहा।

परन्तु वे मुस्करा पड़े। उसी व्यंग्य से धनदेव ने कहा : 'अवश्य भेज दें ! यहाँ तो हमें पता चल जाता है, किन्तु विदेश में तो आप इस पर चाहे कितना व्यय कर सकते हैं। हमें क्या पता चल सकेगा ?'

'नीच !' पिता का संयम खो गया। उन्होंने कहा : 'बैठे-बैठे खाकर तू मस्त हो गया है। बिना हल कंधों पर धरे बैलों को चराने से आखिर वे आपस में एक दूसरे को सींग मारने लगते हैं। यदि तेरी माता आज सामने न होती, तो तुझे घर से निकाल देता। परन्तु तूने लांछन लगाया है, इसके लिये मैं आज तुम चारों की परीक्षा लूंगा।'

पिता बढ़े और एक द्वार में घुसकर चले गये। कुछ देर तक हम देखते ही रहे कि वे फिर लौट आये और उन्होंने कहा : 'यह मैं तुम चारों को देता हूँ। बराबर का स्वर्ण है। इसे ले जाकर व्यापार करो और इस धन को मुझे लौटा दो। इसकी आय से तुम्हें कुटुम्ब के समस्त लोगों को भोजन कराना होगा। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे घर में कौन योग्य है, कौन मूर्ख है।'

'यह क्यों पिता ?' धनचन्द्राधिप ने टोककर कहा : 'आप हम तीनों को अलग क्यों करते हैं ? हम क्या एक साथ व्यापार नहीं कर सकते ? हम तीन दिन तक इसी द्रव्य की आय से भोजन करा देंगे !'

पिता की आँखों में भयानक प्रतिहिंसा एक क्षण को झलकी, फिर लुप्त हो गई। उन्होंने स्थिर स्वर से कहा : 'यही सही। तो धनकुमार ! अभी तू व्यापार

न कर। तीन दिन बाद मुझसे धन लेकर जाना।'

मैंने धन रख दिया।

'तुम सब जा सकते हो।' पिता ने भारी स्वर से कहा।

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ गया।

'पज्जा अम्मा! यह क्या हुआ?'

'यही होने को था।'

'क्यों?'

'उन्हें भय है कि कहीं पिता तुम्हें अधिक संपत्ति नहीं दे जायें?'

'वे क्या कहीं जा रहे हैं?'

'अरे तू तो भोला ही है। वे उनके बाद की सोचते है!'

मुझे लगा, मैं किसी भयानक अंधकार मे घूम रहा हूँ। यह सब क्या है?

किन्तु चौथा दिन आया और मेरे लिये वही समस्या खड़ी हो गई। तीनों व्यापार कर चुके थे और उनको लाभ बहुत कम हुआ। लाभ होने के पहले ही वे सारे कुटुम्बियों को निमन्त्रण दे आये थे।

जब पज्जा प्रकोष्ठ में आई तब दासियाँ हँस रही थी। वे नही जानती थीं कि पर्दे के पीछे मैं खड़ा था।

'अरी क्यों हँसती हो?' पज्जा ने मुस्कराकर पूछा।

'मैं तो भोज की याद करके हँसती थी।' यवनी ने कहा। 'सारे परिवार में श्रेष्ठि धनसार के वैभव की बात चल रही है।'

'वह भोजन था?' पारसीक दासी ने कहा: 'छिः! धनसार के घर ऐसा भोजन! यह तीनों तो इतने बुद्धिमान हैं!'

पज्जा ने काटा: 'कुछ पूर्वजन्म में किया था जो ऐसे कुल में जन्म मिल गया। अब ईर्ष्या से अपने लिये काँटे ही बोयेंगे!'

पज्जा के स्वर में एक विचित्र भय था। मानो वह एक भयानक अंधकार में से सबको चलता हुआ देखा करती थी। उसके सामने यह एक जीवन जैसे कुछ था नहीं। जैसे अगले और पिछले के बीच की कड़ी बनाकर ही वह इस जन्म के कर्मों का निरूपण किया करती थी।

किन्तु मुझे जब परीक्षा में उतरना ही पड़ा तो पज्जा अम्मा के नयनों ने मुझे उभाड़ा और कहा: 'वत्स धन! अब तू बड़ा हुआ। तुझे तो वणिक्पुत्र

होने के कारण व्यापार करना ही होगा। अच्छा है अभी से प्रारम्भ कर दे।'

मैंने कहा : 'पज्जे अम्मा ! मैं कौन-सा व्यापार करूँ ?'

'पुत्र ! मैं क्या कहूँ ? इतना जानती हूँ कि व्यापार वही व्यापार है जिसमें किसी दीन-दुखी को सताना नहीं पड़े, अनुचित रूप से किसी को दबाया न जाये। अन्यथा व्यापार चतुर व्यक्ति का कौशल है।'

पज्जा अम्मा की बात वहीं रह गई। जब मैं हाट में पहुँचा तो मेरा मन धुक-धुक कर रहा था। मेरे सामने अध्ययन था, पिता का वैभव था; परन्तु यह मैं नहीं जानता था कि हाट एक ऐसी जगह है, जिसका पज्जा अम्मा की बात से कोई सम्बन्ध नहीं है। और मुझे लगा कि मेरे भाई इसी बाहर की दुनिया की तरह सोचते थे, जब कि मैं इधर की नहीं सोचता था। परन्तु तभी मुझे पिता का ध्यान आया और तब मुझे स्मरण हुआ कि सम्बन्ध का स्नेह इस व्यापार के ऊपर भी हो सकता है, और उसी के लिये मनुष्य जीवित रहता है। तब वह इतना संकुचित क्यों होता है कि लाभ को अपने, अपने संकुचित परिवार तक सीमित रखता है ? मनुष्यों की विवशताओं और आवश्यकताओं को स्वर्ण नापता है और सुवर्ण के हृदय नहीं है, इसलिये हमारा पारस्परिक व्यवहार भी हृदयहीन है। लाभ होता है कौशल से। यही तो पज्जा अम्मा ने कहा था। अपनी आवश्यकता और दूसरे की विवशता का अधिकाधिक ज्ञान ही लाभ का आधार है और इसी के कारण संग्रह भी सम्भव हो पाता है। सदा से लोक में यही होता आया है। राजा कर कैसे लेता है ? उसने सेना बना ली है और दूसरे की विवशता यह है कि वह उस सेना को नहीं जीत सकता, इसी से कर देना पड़ता है। राजा को उसकी आवश्यकता होती है। किन्तु आवश्यकता प्रजा को भी तो पड़ती है कि आपस में एक दूसरे को लोग लूट न खायें, इसलिये राजा हो। विवशता ही आवश्यकता को जन्म देती है। अच्छा राजा वही है जो अपनी आवश्यकता के लिये प्रजा की विवशता का अनुचित लाभ उठाकर अत्याचार नहीं करता। यही व्यापार में भी होना चाहिये। उस समय मेरी अवस्था कम थी। उस बात को आज सात बरस हो गये हैं। मेरी आवश्यकता थी परिवार को भोजन कराने की। यह मेरे आत्मसम्मान का विषय था। पहले मैंने सोचा कि दासों की हाट में चलूँ और एक सुन्दर दासी खरीद लाऊँ। सम्भवतः वह बाद में ऊँचे मोल बिक जाये ! किन्तु न जाने क्यों मुझे इस विचार

पर लज्जा हो आई। मान लो, नया स्वामी उससे दुर्व्यवहार करे। फिर पद्मा अम्मा सुनेगी तो क्या कहेगी !

इसी समय मेरे कंधे पर किसी ने हाथ रखा। मुड़कर देखा—माणवक; कलावस्तु (कलाबत्तू) का व्यापारी। उसका पिता बड़ा धनाढ्य था। माणवक स्वयं घिसा हुआ व्यापारी था।

बोला : 'चलो मेरे साथ !'

मैंने अचकचाकर पूछा : 'कहाँ ?'

'मैं कुछ माल लेना चाहता हूँ। चलो, बातें करते चलेंगे।'

मैंने उसके साथ चलते हुए कहा : 'माणवक ! मैं आज व्यस्त हूँ।'

माणवक ने अपने उत्तरीय को पीछे खिसकाकर कंधे पर धरते हुए कहा : 'व्यस्त ? और तुम ?'

फिर वह हँसा। हम लुहारों और सुनारों की दुकानें पार करके वीथिका पर आ गये, जहाँ से एक मार्ग तो रत्नहाट की ओर जाता था, जहाँ कुलीन नागरिक और नागरिकाएँ प्रायः पालकियों पर बैठे दोनों ओर की दूकानों में सामान देखते हुए आगे बढ़ते, और दूसरा मार्ग धान्य की मण्डी की ओर जाता था। असंख्य हैं धंधे, मैंने सोचा, कोई अन्त ही नहीं। लाक्षा की चूड़ियाँ दूर से दूकान पर दीख रही थीं। उधर मदिरा की दूकान थी, जहाँ मैंने अधनंगी दासियों को क्षत्रियों को मदिरा ढाल कर पिलाते देखा। रंगशाला में शायद दिन होने के कारण रात में होने वाले नाटक का अभ्यास किया जा रहा था। उसी के पीछे के मार्ग पर वारवनिताएँ रहती थीं।

लोगों की आवा-जाही के कारण वह मुझे एक ओर ले गया, जहाँ से मांस-विक्रेता की दूकान दीख रही थी। क्षत्रियों के मुकुट बेचने वाले की दूकान उधर ही थी। वहीं अस्त्र-शस्त्र वालों की दूकानें थीं। फिर वह बोला : 'व्यस्त हो ? क्या कहीं किसी सुन्दरी·····

किन्तु मैंने बीच में ही काट दिया और सारी कथा कह सुनाई, जिसे सुनकर वह ठठाकर हँसा। बोला : 'एक ही दिन में इतना लाभ चाहते हो !'

मैंने कहा : 'नहीं तो पिता को तीनों दबा डालेंगे।'

वह अपनी पैनी आँखों से क्षणभर सोचता रहा, फिर उसने कहा : 'ऐसा करो, लेकिन धन तो तुम्हारे पास बहुत कम है। मैं कुछ दे दूँ ?'

'यह तो पिता से विश्वासघात होगा !'

'तो मित्र ! तुम्हारा कुटुम्ब भी तो कोई छोटा-मोटा नहीं, और फिर सब ही धनी हैं। उनके अनुरूप भोज कोई सस्ता काम भी तो नहीं है ! फिर भी एक काम है। एक तरकीब बताता हूँ।'

मुझे उजाला-सा दिखाई दिया। मैंने उसकी ओर अत्यन्त जिज्ञासा से देखा।

उसने कहा : 'धनकुमार ! उधर की हाट में एक ताम्रलिप्ति का व्यापारी आया है। उसके पास बहुत अच्छा कार्पास का अत्यन्त पतला कपड़ा है। उसमें सुवर्ण के तार हैं। वह प्रत्येक के लिये दस सुवर्णखण्ड माँगता है। निश्चय ही एक ले लो।'

'पर मेरे पास तो एक ही खण्ड है।'

'तुम मुझे बिठा दो उसके पास। कहना—स्वामी को दिखला आऊँ। मैं बंधक रहूँगा। ले जाकर क्षत्रिय-वास में बेच डालो। इसमें तुम्हें दो खण्ड तो बच ही जायेंगे।'

'देखो माणवक !' मैंने कहा : 'मैं तुमसे कुछ ऊँची आशाएँ रखता था।'

'जी हाँ ! आप एक के दो पा रहे हैं। अपनी पूँजी भी देखते हो !'

'पूँजी देखता हूँ, तभी तो राय लेता हूँ। अन्यथा पूँजी ही राय देती। तुम दो-चार कर्पदिका कमवाना चाहते हो। मैं ऐसी टुटपूँजिया सलाह नहीं चाहता।'

'अच्छा !' माणवक ने कहा : 'तो फिर ऐसा करो। मैं एक सिन्धु के कारीगर को जानता हूँ, अभी ही आया है। एक पीतल का अच्छा-सा सिंगार-दान इस सुवर्णखण्ड से खरीदो। उस सिन्धुवासी में सोने का मुलम्मा करने का वह कौशल है कि पूछो मत। जब तक तपाकर न देखा जाये तब तक पहचानना असम्भव है। उसे ले जाओ और वेश्याओं की हाट में जा बैठो। वहाँ जब प्रेमी आयें तो किसी को वेश्या के सामने दिखाकर कहना कि वह तो इनके योग्य है। अवश्य ही प्रेमी मना करेगा और वेश्या हठ करेगी। बिना परख के माल ले लिया जायेगा। तुम्हें काफ़ी लाभ हो जायेगा। बस इतनी जल्दी और कुछ नहीं हो सकता।'

'लेकिन !' मैंने कहा : 'यह बेईमानी है। वस्तु का मूल्य अधिक लेना व्यापार

है, न कि नकली वस्तु बेचना।'

'ओहो!' माणवक ने कहा : 'तो इस सारी हाट में ईमानदारी है? तोल का फरक नहीं चलता? व्यापारी बाहर से लाते हैं तो महँगा बेचते हैं। उसीको और महँगा नहीं बेचा जाता?'

'वह और बात है', मैंने कहा : 'व्यापारी को खर्चा पड़ता है, एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते समय जो वन पड़ते हैं, उनमें डाकू होते हैं। जान पर खेलकर यात्रा करनी पड़ती है। फिर जो जहाँ नहीं है, उसे वह पहुँचाता है; तभी लाभ उसका अधिकार होता है।'

'तो', माणवक ने कहा : 'तुम व्यापार कर चुके!'

मैं उदास हो गया।

माणवक ने कहा : 'अच्छा मैं और सोचता हूँ। अब चलते चलो। मुझे वणिक् ईश्वरदत्त के यहाँ कुछ काम है। तनिक बातें करता चलूँगा। तुम दो पल बैठना, फिर तय करेंगे।'

हम नाग देवता के मंदिर के पीछे होते हुए, फूल वालों के रास्ते से होकर यक्ष के चैत्य के आगे से निकलकर, फिर ऊनी कपड़ों की हाट में आ गये, जहाँ से ईश्वरदत्त की दुकान दिखाई दे रही थी। पश्चिम की तरह छीपी लोगों की श्रेणी कारखाने में काम में लगी थी और एक मोटा-सा वैश्य बैठा अपनी गंजी खोपड़ी को खुजा रहा था और सामने बैठे एक क्रीट के निवासी म्लेच्छ व्यापारी से बातें करता जाता था। उस म्लेच्छ के वस्त्र विचित्र थे।

जब हम ईश्वरदत्त के पास पहुँचे, वह व्यस्त बैठा था। बुड्ढा शायद कम देखने लगा था। उसके हाथ में एक लम्बा कपड़ा था। मैने उसके ऊपर-नीचे काठ के गोल डंडों से समझ लिया कि यह कोई पत्र पढ़ने में लगा है।

'प्रणाम पितृव्य!' माणवक ने कहा।

वृद्ध को सम्मान के कारण ही पितृव्य कहा था उसने।

मैं उसके सामने पाँव नीचे लटकाकर बैठ गया।

'अरे कौन? श्रेष्ठि माणवक!' ईश्वरदत्त ने पत्र को मोड़ते हुए कहा : 'आओ-आओ! कहो कैसे कष्ट किया?'

'आपने कहा था कि क्षौम और गंधद्रव्य हमें देंगे। वह काम अभी नहीं हुआ?'

'हो जायेगा !' ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा। उसका सिर ही नहीं, विशाल पेट भी हिल उठा। वह सुनहले तारों से मण्डित उत्तरीय पहने था। उसकी हाथीदाँत-जड़ी पालकी सामने एक किनारे रखी थी, जिसके पास उसके आठ दास बैठे थे।

'आपने हमें आश्वासन दिया है। आपका सार्थ कब तक आयेगा ?'

ईश्वरदत्त ने कहा : 'कल तक।' और रहस्य भरी दृष्टि चुपचाप पत्र पर डाली।

मुझे कौतूहल हुआ, परन्तु मैंने कहा कुछ नहीं।

'अच्छा', माणवक ने कहा : 'मैं यह प्रतिज्ञापत्र तैयार कर लाया हूँ। आप इसे देख लें। मैं जाकर एक लक्ष रजत मुद्रा भेजता हूँ। माल आते ही हमारा है।'

'अरे माल तो बहुत है।' ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा।

'तो जो हम चाहते हैं, उसका ही तो मूल्य देंगे।'

'हाँ, ठीक है श्रेष्ठि माणवक। प्रतिज्ञापत्र ठीक है। मैं तो कई श्रेष्ठियों से प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका हूँ।' और उसने फिर उसी पत्र को देखा।

'तो मैं आश्वस्त हुआ', माणवक ने कहा और मुझसे कहा : 'तुम ठहरो, मैं अभी बल्लभ से जरा और बातें कर लूँ।'

बल्लभ का नाम सुन ईश्वरदत्त ने कहा : 'चले जाओ। बुनकर श्रेणी की ओर है। भीतर है।'

वह चला गया। तब ईश्वरदत्त फिर पत्र खोलकर देखने लगा। मैं सामने बैठा था। वृद्ध ने कम दिखने के कारण पत्र को धूप में कर लिया था। न जाने क्यों मैं उसकी रहस्यमय मुस्कान का स्मरण करके उसका वह पत्र पढ़ने लगा। मेरी ओर से अक्षर उल्टे थे। किन्तु ब्राह्मीलिपि का मैंने काफ़ी अभ्यास किया था। मैंने धीरे-धीरे सब पढ़ लिया—हमारा सार्थ डाकुओं ने लूट डाला है, परन्तु भरुकच्छ का एक सार्थवाह आ रहा है; पत्रवाहक जिस दिन पहुँचेगा उसके तीसरे दिन वह भी पहुँचेगा। उसका धन समाप्त हो चुका है अतः वह सस्ते ही बेच देगा। उसके पास प्रायः वही वस्तु है जो कि हमारे सार्थ में थी। उसे खरीद लें और अपना वचन हाट में निर्वाह करें। अन्यथा मार्ग नहीं है। मैंने दिन-रात घोड़ों पर यात्रा की है, तभी इतनी शीघ्र आ सका हूँ। वह नगर के

के उत्तर द्वार पर पहुँचेगा। भरुकच्छ का व्यापारी सौवीर है।

अभी वृद्ध पढ़ ही रहा था कि माणवक आ गया और बोला: 'चलो। अच्छा पितृव्य प्रणाम !'

वृद्ध ईश्वरदत्त ने सिर हिला दिया और उसके होठों पर झूठी मुस्कान भी खेल गई।

मैं जब चला तो मेरा मस्तक खलबला रहा था।

चतुष्पथ पर आकर माणवक ने कहा : 'तो मित्र ! फिर क्या करोगे ?'

मैंने कहा : 'अभी तो घर जाता हूँ। फिर तुम्हारी दुकान आऊँगा।'

माणवक ने अत्यन्त निराशा से मेरी ओर देखा, जैसे तुम क्या व्यापार करोगे।

घर आने पर मुझे दास सुलक ने कहा : 'कुमार ! आप कहाँ गये थे ? भोजन भी नहीं किया ?'

'हाँ' मैंने अश्वशाला की ओर जाते हुए कहा: 'अभी लौटकर करूँगा सब काम। तू जाकर पज्जा अम्मा से कह दे। उससे कह दे कि वह खा ले।'

मैने एक श्वेत घोड़ा खोला और पथ के बाहर आते ही घोड़ा उत्तर द्वार की ओर दौड़ा दिया।

उस समय मेरे मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार टकरा रहे थे। भरुकच्छ का सौवीर व्यापारी उत्तर द्वार पर ही आयेगा ! ईश्वरदत्त ने कई लोगों को अपने सार्थ के आने की आशा में वायदा कर लिया है। यदि वह समय पर माल न दे सका तो दिवालिया समझा जायेगा। हाट से उसकी साख उठ जायेगी। उधर उसका सार्थ भी लुट चुका है। उसकी घबराहट इतनी बढ़ गई कि उसने घोड़े पर मारामार अपना आदमी भेजा जिसने भरुकच्छ के व्यापारी को इधर भेज दिया है। सौवीर का भी धन बीत चुका है। ऐसी अवस्था में वह भी माल रोक नहीं सकता। ईश्वरदत्त इसमें लाखों का लाभ उठायेगा और उसकी हानि भी दबी रह जायेगी। ऐसी परिस्थिति में वह इस सार्थ के माल को खरीदे बिना कभी नहीं छोड़ेगा।

जब मैं उत्तर द्वार पर पहुँचा तब वहाँ कोई भी सार्थ मुझे नहीं दिखाई दिया। आँखों के सामने अंधेरा छा गया। अचानक मुझे ध्यान आया। कहीं एक दिन बाद तो वह नहीं आने वाला है।

अभी मैं इसी सोच-विचार में था कि मुझे दूर एक पताका दिखाई दी। मैंने उधर ही घोड़ा दौड़ा दिया।

सौवीर सार्थवाह को पहचानते मुझे देर नहीं लगी, क्योंकि उसका उष्णीश पश्चिम वासियों का-सा ही था। मैंने घोड़ा रोककर कहा : 'यह सार्थ किसका है ?'

'मेरा है युवक !'

'कहाँ से आ रहे हो ? भरुकच्छ से ?'

भरुकच्छ से सुनकर वह चकित रह गया।

मैं घोड़े से उतर पड़ा। मैंने कहा : 'तब तुम ही हो वह सौवीर ?'

मेरी बात सुनकर उसे आश्चर्य भी हुआ और शंका भी। किन्तु नगरद्वार सामने ही दीख रहा था, यहाँ रक्षक नियुक्त रहते थे, अतः उसे भय नहीं हुआ।

उसने पूछा : 'तुम कौन हो ?'

'इधर आओ !' मैंने उसे पथ के दूसरी ओर ले जाकर एकांत में कहा : 'तुम मुझे नहीं जानते सौवीर के वणिक् ! परन्तु मैंने तुम्हें रात ही स्वप्न में देखा था। यक्ष ने कहा है मुझसे कि उत्तरद्वार से आगे बढ़ने पर तुम्हें एक भरुकच्छ से आता सौवीर सार्थवाह मिलेगा। उसके पास जो कुछ भी माल है वह तुम खरीद लेना क्योंकि वह इस समय संकट में है। नगर में व्यापारी उसकी विवशता का अनुचित लाभ उठाकर उसे हानि पहुँचायेंगे। कहो, यह बात ठीक है ?'

मैं जानता था कि प्रायः सौवीर के वैश्य यक्षोपासक होते हैं।

मेरी बात सुनकर वह गद्गद हो गया। उसने मेरे हाथ दबाकर स्नेह से कहा : 'यक्ष ! यक्ष ही के कारण मैं बच गया युवक ! इस बार जिस पथ से हम आये हैं, उधर दो सार्थ लुट चुके हैं। पता नहीं, क्यों इतने छोटे-छोटे राज्य हैं ये। कुछ भी तो नहीं कर पाते ! एक राज्य से दूसरे में आते-जाते समय कर लेने को तो यह गणराज्य और एक तंत्रों के राज्य इतने तैयार रहते हैं, किन्तु सीमावर्ती वनों के डाकुओं का कोई प्रबन्ध नहीं करता। उधर विंध्य के दक्षिण में तो कुछ पूछो ही नहीं। कहते हैं, उत्तरापथ में तो मगध और वत्स के राजाओं ने अवंती से भी सम्बन्ध जोड़े हैं; कोसल से भी। कैसे भी हो युवक श्रेष्ठि ! यदि एक विशाल राज्य बन सके और शांति स्थापित हो सके। चारों ओर

अहिंसा हो। यह क्षत्रिय बड़े हिंसक होते हैं।'

मैंने मौका न चूककर कहा : 'हिंसा का उत्तर तो हम वैश्य ही देते हैं सौवीर बन्धु ! वैश्य वैश्य एक हैं। क्षत्रियों के यह गण क्या टिक सकते हैं दासों पर इतना अत्याचार करके ? असंभव ! आओ, यहीं पथ के किनारे वृक्षों की छाया में बैठें।'

जब हम बैठ गये तब मैंने कहा : 'अब कहो, कितना माल है। और क्या लोगे।'

'तुम देख तो लो।'

'सज्जन का वचन बड़ा है मित्र ! देखा-दिखाया है। मुझे तो यक्ष की आज्ञा का पालन करना है। मूल्य कहो।'

'सबका बता दूँ ?'

'सबका मित्र !'

'अच्छा बीस लाख रजत खण्ड दे दो।'

'बीस लाख ! मित्र ! मेरी अवस्था तो देखो। मित्रता बड़ी है न ? पन्द्रह रखो।'

'तुमने माल तो देखा होता···

'माल से बड़ा वचन है तुम्हारा। कुछ तुम भुगतना, कुछ मैं भुगत लूँगा··· बालो स्वीकार है ?'

'मेरे क्षौम देखते तो···

'मेरे आदमी आ रहे हैं पीछे। वे सब मूल्य यहीं चुका देंगे। तुम इस समय यह स्वर्णखण्ड लो और वायदा करो। बोलो सौदा हो गया ?'

'वायदा ही हो गया !' सौवीर ने प्रसन्नता से कहा और अपने दूर खड़े साथी की ओर देखकर मुस्कराया जिसने उसे मुस्कराते देखकर सारे सार्थ को आज्ञा दी : 'खोल दो पशुओं को।'

मैंने कहा : 'मित्र ! भोजन करो तुम लोग। सन्ध्या तक शकट लेकर वे आ जायेंगे। तब तक मैं यहीं ज़रा लेट लेता हूँ।' उत्तरीय बिछाकर मैं लेट गया। अब वह तो निश्चिन्त चला गया पर मैं सोचने लगा कि यदि ईश्वरदत्त के सेवक न आये तो ! यह सौवीर मेरा स्वर्णखण्ड तो ले ही लेगा और अपमानित करेगा तो अलग। जो हो ! एक बार तीर्थंकर पार्श्वनाथ को मन ही मन

स्मरण किया और आँखें मूंदकर लेट रहा। ठंडी हवा ने मेरी पलकें झपका दीं।

जब मेरी आँखें खुलीं तो मैंने कुछ धीमा कोलाहल-सा सुना।

सौवीर कह रहा था : 'अब मैं क्या कर सकता हूँ। माल बिक चुका है और साही मिल चुकी है। धनी वहाँ पेड़ के नीचे बैठा अपने सेवकों की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके भृत्य ही बाकी रकम लेकर आवेंगे। मैं तो हल्का हो गया।'

मैं उठकर बैठ गया और मैंने अँगड़ाई ली। एक आँख डालते ही मैं समझ गया कि यह आदमी ईश्वरदत्त के ही हैं। मेरी जान में जान आई।

जब मैं घर पहुँचा, घोड़े से उतरते ही मैंने देखा कि प्रतीक्षा भरे नयनों से पज्जा अम्मा बाहर ड्योढ़ी में ही खड़ी थी।

मेरी प्रसन्न मुद्रा देखकर भी वह रुष्ट ही रही।

प्रकोष्ठ में पहुँच मैं चाँदी की चौकी पर बैठ गया और वह मेरे जूते खोलने लगी। परन्तु बोली नहीं। मैंने द्वार बन्द कर दिया और फिर बैठ गया। मैंने कहा : 'पज्जा अम्मा ! तूने खाना खा लिया ?'

उसने मुँह फेर लिया।

मैंने कहा : 'पज्जे अम्मा ! देख ! यह मैं क्या लाया हूँ !'

पज्जा ने एक बार कनखियों से रूठे मुँह से देखा किन्तु जब दृष्टि पड़ी तो मुँह और आँखें आश्चर्य से खुली रह गईं। रत्नों पर दीपकों का प्रकाश पड़ते ही आँखों को चौधियाने वाली ज्योति तड़पने लगी।

'कहना नहीं किसीसे।' मैंने धीरे से कहा।

'कहाँ से लाया वत्स धन !'

मैंने सुनाया और कहा : 'जब ईश्वरदत्त के लोग मेरे पास आये तब मैंने कहा कि माल तो मैं ले चुका हूँ। वैसे मुझे तो बेचना ही है। यहीं कुछ लाभ मिल जाये तो इतनी मेहनत ही क्यों करूँ ? मैं जानता था कि वे खाली हाथ नहीं लौट सकेंगे। एक लाख का मुनाफ़ा तय करके मैंने दाम ले लिये और वह पिता का दिया स्वर्णखण्ड भी।'

पज्जा अम्मा ने उठकर मेरी बलैया ली और मुझे छाती से लगा मेरा माथा चूम लिया और मेरे सिर को आँसुओं से भिगोने लगी।

मैंने कहा : 'अम्मा ! क्यों रोती है तू ! मैं देर से आया इसलिये ? तू भी तो भूखी रही है व्यर्थ !'

'और तू नहीं रहा ?'

'मैं तो व्यापार में लगा था।'

वह नृत-सी बोली : 'खाना खा लो चलकर। पर यह आभूषण क्यों लाये हो।'

'बता दूँ ?'

'अच्छा मत बताओ।'

तब मैंने जो कुछ कहा, सुनकर वह बोली : 'वत्स धन ! तू कितना अच्छा है ! तेरा हृदय कितना विशाल है !'

'अभी किसी से न कहना !'

'भला क्यों कहूँगी मेरे लाल।'

पिता को मैंने भोजन के बाद जाकर स्वर्णखण्ड लौटा दिया।

पिता ने भूर्जपत्र की पुस्तक रख दी। वह एक नाटक था—रंभा रावण। दीपालोक में मैंने वह नाम पढ़ लिया।

'वत्स ! यह क्यों लौटाता है ?'

'व्यापार कर चुका हूँ। आज्ञानुसार पूँजी वापिस कर रहा हूँ।'

'क्या अर्जन किया ?'

मैंने इधर-उधर देखकर निश्चय कर लिया, कोई नहीं था। तब धीरे से कहा : 'एक लाख !'

पिता को विश्वास नहीं हुआ। बोले : 'क्या कहा !'

'सच कहता हूँ पिता ! एक लाख !'

'झूठा !'

'सच पिता ! यह भोज के लिये १००० रखिये। रजतखण्ड हैं मुद्रांकित !'

'और बाकी दिखा !'

'अभी नहीं दिखाऊँगा !'

'क्यों ?'

'आप कह देंगे !'

किन्तु पिता नहीं माने, तब आभूषण भी दिखाने पड़े।

'निन्यानवे हज़ार के हैं यह तीन जोड़े कंकण !'

'हाँ पिता !'

'क्यों खरीदे हैं ये भला !'

मैंने जब सिर नीचा करके बताया तो पिता हिल उठे और मैंने जीवन में उन्हें पहली बार विचलित होकर रोते देखा। पता नहीं मेरी बात में ऐसा था ही क्या ? परंतु कुछ ही देर में वे स्वस्थ हो गये और जिस दृष्टि से उन्होंने मुझे देखा उसका मैं आज भी वर्णन नहीं कर सकता ! वे शायद बहुत पास थे या वे बहुत दूर थे, यह मैं निश्चय नहीं कर सका। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख कर कहा : 'धनकुमार ! पुत्र ! चिरंजीव हो ! युगान्तर तक तेरी गौरवगरिमा अखण्ड और प्रोज्ज्वल रहे !'

उनका स्वर थर्रा गया, जैसे गद्‌गद् हो गया था।

कुछ देर बाद पूछा : 'अब बता कैसे कमाया ?'

मैंने जब बताया तो वे खूब हँसे और प्रशंसा भरे नेत्रों से मुझे देखकर कहा : 'और वे तीनों मूर्ख अब क्या कहेंगे ?'

'ऐसा न कहें पिता ! वे विक्षुब्ध होंगे !'

'मैं कहता हूँ मेरे पास क्या नहीं है। विधाता ने सब दिया है। फिर खायें-पियें। ईर्ष्या क्यों करते हैं ? अब तू ही देख, जो भोज उन्होंने दिया था, उसे खाकर क्या परिवार के लोग फिर आयेंगे हमारे यहाँ ? वह हमारी और उनकी मर्यादा के अनुकूल था ?'

मैंने कहा : 'मैं उनको लाऊँगा पिता ! घर-घर जाऊँगा, एक-एक को मना लाऊँगा। आप विश्वास रखिये। अभी किसी से भी नहीं कहें।'

दूसरे दिन जब भोज हुआ तब उस उत्सव-आनन्द को देखकर कुटुम्बी जो डर-डरकर आये थे; प्रसन्न हो गये, पायस, दधि, दुग्ध की सामग्रियाँ, मिष्टान्न और स्वादिष्ट भोजन से उड़ती सुगंधि से घर भर गया। उन लोगों के विवश करने पर मुझे गाना पड़ा, जिससे उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की।

आर्यश्रेष्ठ क्षत्रिय व्याघ्रशौर्य पिता के विशेष निमन्त्रित मित्र थे। बोले : 'मित्र ! आज क्या बात है ?'

'आज मेरे कनिष्ठ पुत्र ने व्यवसाय प्रारम्भ किया है और पहले ही दिन एक लाख कमा कर लाया है।'

पिता की छाती गर्व से फूली हुई थी।

'एक लाख ! श्रेष्ठि ! इसमें विस्मय क्या है !' व्याघ्रशौर्य ने कहा :

'कोट्याधीश के यहाँ लाख लगते हैं, लाख आते हैं।'

'परन्तु मैंने उसे एक स्वर्णखण्ड दिया था और उसने उतनी ही पूँजी से एक लाख कमाये हैं।'

कोलाहल मच उठा।

कैसे ? कैसे ? की पुकार उठ खड़ी हुई।

मैं लाया गया। मैंने कहा : 'व्यवसाय भाग्य से होता है। मैंने एक सार्थवाह को देखा। बहुमूल्य वस्तु जानकर खरीद लिया सब माल। जानता था, सब बिक जायेगा। भाग्य से कुछ व्यापारी वहीं आ गये। सार्थवाह मुझसे वादा कर चुका था। मैंने व्यापारियों से लाभ लेकर वहीं सब माल बेच डाला।'

बड़े भैया धनदत्त, मँझले भैया धनदेव, और छोटे भैया धन चन्द्राधिप स्तब्ध बैठे थे। इलायचियाँ बँट रही थीं। गंध प्रकोष्ठ में फैल रही थी। माँ प्रसन्न थीं। पिता भी। सब लोग जा चुके थे। केवल पज्जा अम्मा खाने से बची थी। वह अब घर के समस्त दास-दासियों को खिला रही थी। पिता की यही आज्ञा थी। मैंने देखा, वह हमारे प्रकोष्ठ के द्वार के पास ही खड़ी थी।

बड़ी भाभी सुभामा, मँझली भाभी सुमुखी और छोटी भाभी अलका माँ के बगल में बैठी थीं। वे बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहने थीं। कटि पर रत्न-जटित मेखलाएँ थीं। उनका वेश अत्यन्त धन-सम्पन्नता का प्रतीक था।

'पज्जे !' माँ ने कहा : 'दीप उठा दे।'

पज्जा अम्मा ने शिखाएँ उठा दीं। प्रकोष्ठ में प्रकाश भर गया।

पिता ने मुझे गर्व से देखा और कहा : 'पुत्रो ! अपने कनिष्ट भ्राता को आशीर्वाद दो। उसने कुल का नाम उज्ज्वल किया है।'

'किन्तु !' धनदेव ने कहा : 'पिता ! हमने तो अभी एक ही हज़ार का हिसाब देखा है। लाख में तो निन्यानवे हज़ार और होते हैं ! हमें तो सच विश्वास ही नहीं होता !'

'तो,' पिता ने कठोर स्वर से कहा : 'यही क्यों नहीं कहते कि तुम्हें यह भी संदेह हो रहा है कि कहीं इस छोटे बेटे के गौरव की स्थापना करने को मैंने इसे एक लाख न दे दिये हों !'

धनदेव ऐसे चुप हो गये जैसे उनके मन की बात पकड़ी गई हो।

'पूछना जाकर !' पिता ने कहा : 'सौवीर व्यापारी जो भरुकच्छ से सार्थ

लेकर आया था उससे किसने एक सुवर्णखण्ड देकर माल खरीदा और ईश्वरदत्त के भृत्यों ने सारा माल एक लाख का लाभ देकर किससे खरीद लिया।'

अलका भाभी के मुख से आश्चर्य की ध्वनि निकल गई। भाभी सुमुखी ने मेरी ओर संदेह से देखा। भाभी सुभामा के नयनों में तो मुझे कुछ ईर्ष्या भी दिखाई पड़ी।

'पर ९९ हज़ार कहाँ गये ?' धनदत्त भैया ने फिर भी टोक ही दिया।

'पुत्र ! बाकी धन दिखा !' पिता ने आज्ञा दी।

मैंने बढ़कर कहा : 'धन प्रस्तुत है। मैंने कमाया है अतः मेरी ही इच्छा से वह योग्य स्थान पर जायेगा !'

और मैंने तीनों जोड़े कंकण तीनों भाभियों के चरणों के आगे रखकर दण्डवत प्रणाम करके कहा : 'भाभी ! तुम मेरी माताओं के समान हो। तुम ही मेरी अकिंचन भेंट स्वीकार करो।'

पिता के नेत्र फिर भीग गये। माँ ने मुझे जीवन में शायद पहली बार देखा !

भाभियों को शायद विश्वास नहीं हुआ। तब पज्जा अम्मा ने उन्हें वे कंकण पहना दिये। कहा : 'स्वामिनी वधू ! तैंतीस-तैंतीस हज़ार का एक-एक जोड़ा है। देवर को आशीर्वाद दो !'

तब उन तीनों के नयनों में आँसू भर आये और उन्होंने मेरे माथे को सूँघा और कहा : 'धनकुमार ! तू सचमुच देवता विद्याधर है। तू सदा ही यशस्वी बने।'

उसके बाद की यादें अब मैं सोचना नहीं चाहता। नहीं जानता कि वह मेरे जीवन की पहली हार थी या जीत ! मैंने कभी यह नहीं सोचा कि मैंने कभी कुछ प्रशंसनीय कार्य किया है। वह भी मैंने वास्तव में स्वार्थ से प्रेरित कार्य किया था, कि भाभियों के प्रति मेरा सेवा भाव देखकर शायद मेरे अग्रज मुझसे द्वेष करना छोड़ दें ! परन्तु क्या वह स्वप्न पूरा हो सका ! नगर में मैं विख्यात हो गया। ईश्वरदत्त भी मुझे स्नेह और आदर से बिठाने लगा। अब मैं धनकुमार नही था। मुझे लोग श्रेष्ठि धनकुमार कहते थे। तब मैंने जाना कि संसार में वैश्य के लिये धन ही मुख्य था। और मैं सोचता था कि क्या सचमुच धन इतनी बड़ी चीज़ है ? फिर मुझे यह इतना बड़ा क्यों नहीं लगता ?

इस धन के कारण मनुष्य कैसे ऊँच-नीच हो जाता है ? धन न रहने पर दिवालिया हो जाने पर किस तरह इसी पुरपइठान में श्रेष्ठि सागरदत्त को मैंने अपमानित होते देखा था, वह मुझे याद आता था और मैंने एक दिन पज्जा अम्मा से कहा था : 'पज्जे अम्मा ! सागरदत्त क्या सचमुच नगर छोड़ गया ?'

'और बेचारा करता भी क्या ?' पज्जा ने कहा। उसने वातायन खोल दिया। हवा आने लगी। मैंने कोमल परों वाले गद्दे पर बैठते हुए कहा : 'अम्मा ! संसार में लोग धन को सबसे बड़ा समझते हैं।'

'तेरी आयु के लोग धन की बात नहीं करते वत्स धन !'

मैंने कहा : 'फिर ? आखेट ?'

'आखेट तो क्षत्रियों का क्रूर कर्म ठहरा। वैश्य न जुआ खेलते है, न मदिरा पीते हैं। अच्छे वैश्य न मांस खाते है, न वेश्या गमन करते हैं।'

'फिर ?'

'परन्तु विवाह तो करते है !'

'विवाह ! मैं नही करूँगा अम्मा !'

पज्जा अम्मा जैसे नाराज हो गई।

'क्यों ?'

'मैं नहीं बोलूँगी।'

'अच्छा कर लूँगा।'

उसके दाँत हास्य से चमक उठे।

मैंने फिर कहा : 'पर अभी नहीं अम्मा !'

'क्यों ?'

'जब परिवार में शांति आ जायेगी।'

सोचता हूँ आज। उस समय परिवार की शांति की बात मैं सोच रहा था। आज अपनी शांति की सोच रहा हूँ। शांति लोक को भी तो चाहिये ! वह है कहाँ ? वासना के उद्वेग को परिवार शांति देता है, लोक के दुःख को देते हैं तीर्थंकर ! और मन को ? धन ! धन ! धन का तादात्म्य तो वासना से ही है न ? नहीं धनकुमार ! धन का पेट से सम्बन्ध है और आज तुझे वही शांति तो चाहिये !

क्या है तेरा आधार अब ! इतना समझ पाया हूँ कि इस लोक के मनुष्यों

में उन्नति का माध्यम बन गया है प्रतिस्पर्धा और आज धन ही इसका उप-माध्यम है।

मेरे परिश्रम को भाइयों ने दुस्साहस के रूप में उपस्थित किया और कहा कि यदि ईश्वरदत्त के आदमी न आते तो कितनी बड़ी हानि होती! पिता ने कहा : 'व्यापार साहस ही है मेरे पुत्रो! वणिक् का साहस क्षत्रिय के साहस से कहीं अधिक बड़ा होता है। वणिक् चतुर क्यों होता है? क्यों वह अन्यों की भाँति रूढ़िग्रस्त नहीं बना रहता? क्यों वह दया और ममता को प्रश्रय देता है? मैं बताता हूँ अपने यौवन के अनुभवों के आधार पर। वह अज्ञात धरती पर घूमता है, नये-नये आकाशों के नीचे निराश्रित-सा सोता है। वह विभिन्न प्रकार के लोगों को देखता है और समझता है कि मनुष्य का वास्तविक आधार स्नेह और ममता ही है, क्योंकि वही उसे नहीं मिलता। धन स्वार्थ है अवश्य, परन्तु सच्चा वणिक् मनुष्यत्व के ऊपर लाभ नहीं रखता।'

मैं जानता हूँ ऐसा नहीं होता। ममता को खोजने वाला व्यापारी वास्तव में बहुत निर्मम होता है। वह प्रायः धन ही से सबको आँकता-कूतता है, फिर भी पिता ने जो आदेश दिया था वह क्या बुरा था!

परनिन्दा से प्रारम्भ होता है हीनत्व की भावना की विकृत तुष्टि और बढ़ते रहने दी जाये तो वह अपने ही मन को आरे की तरह काटने लगती है। और इस बार फिर परीक्षा हुई। पिता ने उन तीनों को पाँच-पाँच स्वर्ण-खण्ड देकर भेजा और उनके व्यापार का अन्त परिवार के लिये ऐसा रूखा-सूखा भोज लाया कि माँ रोने लगी और पिता ने लज्जा से बाहर आना अस्वीकार कर दिया। आई मेरी बारी। मुझे झुँझलाहट आ रही थी। सोच रहा था कि यहाँ रहने से लाभ ही क्या? परन्तु पिता के नयन और पज्जा अम्मा का मन क्या मुझे जाने दे सकते थे? इस बार मैंने निर्णय किया कि कुछ ऐसा काम करना चाहिये जिससे लाभ तो दूर, हानि हो जाये तो अच्छा। यह रोज़ की परेशानी तो दूर हो।

आज मैं माणवक से भी नहीं मिला। मुझे तो काम बिगाड़ना था। मैं सोचने लगा कि धन तो नहीं ही कमाना है। पिता का क्रोध है, शान्त हो ही जायेगा और फिर मैं एकान्त जीवन व्यतीत करूंगा। सारा जग आज प्रशंसा कर रहा है, कल निन्दा करेगा।

और जब मैं राजपथ से हटकर गलियों में चलने लगा तब मुझे अपनी जाति की लोलुपता दिखाई देने लगी। गली के मकान बहुत गन्दे थे। उनके निवासी भी गन्दे थे। यह थे श्रेणियों के मकान। कहीं बुनकर रहते थे, कहीं कलाबत्तू के कारीगर। कही रंगरेज। और मैंने जिसे गन्दा और घृणित समझा वह सचमुच हमारे घरों से कितना अलग था! तब मुझे विचार आया कि यह भेद क्यों है? भाग्य के कारण, पूर्वजन्म के फलाफल के कारण? फिर मुझे ध्यान आया कि यह जो कमकर हैं, स्वतन्त्र हैं। मेहनत करते हैं, खाते है। यह दास नहीं है। यह दुस्साहस नहीं करते। लाभ तो साहस से आता है। कमकर जितना काम करता है उतना पाता है। वैश्यश्रेष्ठि अपना धन भी तो लगाता है? क्या इसका उसे मूल्य नहीं मिलना चाहिये? यों सोचते हुए मैं पशुओं की हाट से निकल गया। पशुओं की हाट मैंने पहले भी देखी थी, परन्तु तब मेरे साथ सेवक रहते थे। आज मैं अकेला था। दो जगह खड़े होते ही मैंने देखा कि यहाँ लोग एक दूसरे को पशु-लक्षण नहीं बताते, और काफ़ी गोलमाल चलता है।

मैंने स्वर्णखण्डों को टटोला और अभी मैं सोच ही रहा था कि क्या करूँ कि मेरी दृष्टि पड़ गई और मैंने तीनों भाइयों को मेरी ओर देखते हुए पकड़ लिया। यह यहाँ क्यों आये हैं? हठात् मुझे घृणा ने घेर लिया। यह अब मुझे देखने आये हैं कि मैं क्या करता हूँ? क्या है मेरी बुद्धि? वह क्षण मुझे याद है। उसने मुझमें एक प्रकार की विनम्र प्रतिहिंसा भर दी। मुझे लगा, कि मुझे उनका मुँह-तोड़ उत्तर देना चाहिये! परन्तु सहसा ही विचार आया, लेकिन क्यों? भाग्य अज्ञात है। मैं गर्व भी करूँ तो किस पर? लाभ निश्चित है नहीं। तो यही क्यों न दिखाऊँ कि मैं लाभ चाहता ही नहीं। ऐसा क्यों न करूँ कि लाभ नहीं हो, हानि हो। यह मेरा जीवन नष्ट करना चाहते हैं? अरे! यह क्या करेंगे मेरा जीवन नष्ट! उसे तो स्वयं मैं बिगाड़ूँगा। ऐसा कि पुरपइठान चौंककर देखे।

सामने जो देखा तो एक बलिष्ठ मेंढा बँधा था। मन तरंगित हो गया। उस समय मेरा मन भी उसी की भाँति विक्षुब्ध हो रहा था। मैंने सोचा, वह करूँ जो किसी वैश्य ने नहीं किया। मेंढा खरीदूँ, मेंढा लड़ाऊँ। क्षत्रियों और शूद्रों, ब्राह्मणों और म्लेच्छों की भाँति तीतर, बटेर, मुर्गे और मेंढे लड़ाऊँ।

वैश्यों में अपने आप मेरे प्रति घृणा हो जायेगी। हा-हा-हा···करके मन के भीतर ही भीतर ठहाका लगाकर हँसा। और तब मैंने जो पशुशास्त्र पढ़ा था, उसकी एक-एक बात याद आने लगी। बड़ा ज़बर्दस्त था वह मेंढा। मेंढा वाले से कहा : 'जानवर बोदा मालूम होता है।'

'अरे तो रहने दो !' मेंढे वाले ने मूँछों पर हाथ फेरकर कहा : 'पुरपइठान के मेंढे एक पाँत में खड़े कराके लड़ाके देखो।'

'तो', मैंने कहा : 'लड़ भी लेगा यह ?'

'अजी हाँ।' उसने अपने मेंढे पर हाथ धरकर कहा : 'यह मेरा छौना पत्थर तोड़ दे एक चोट में।' और वह अजीब-सी झन-झन करती हँसी हँसकर बोला : 'तुम्हारे नगर में माल की जाँच नहीं। बोलो क्या देते हो !'

'देना क्या है ?' न जाने मुँह से कैसे निकला। 'यही जरा लड़ाने का शौक था। मगर किस दम पर लें ! किस मुँह से ले जाकर अखाड़े में खड़ा करें इसे ! माल हो तो दाम भी दें। यों दाम धरती फेंके भी और धूल उठाके ले चले तो क्या लाभ ! हम तो खिलाड़ी हैं। हमारा धन तो जीत-हार है। गोबर फेंकते हैं तो धूल ले के उठता है। बोलो है यह किस लायक !'

मेंढे वाले ने कहा : 'युवक हो, पर पूरे गाँठ के पूरे हो। अच्छा हटाओ ले लो। बोलो क्या दे दोगे ?'

'यह भी कुछ देने लायक है', मैंने कहा : 'मेरे साथ चलो। पास ही तो अखाड़ा है। दाँव लगाता हूँ। लड़ाओ किसी से। जीत हुई तो सब तुम ले लेना, और हार हुई तो मैं हरजा भरूँगा। मगर एक शर्त है, मूँछें दे जाना मुझे अपनी।'

'तुम्हें लेना ही नहीं है।'

'ओ हो, यह यों ही लिये फिरते हैं ?'

कहकर मैंने कुछ स्वर्णखण्ड दिखलाये। वह अब दबकर बातें करने लगा।

अन्त में मैंने मेंढा ले लिया और उसे दो खण्ड दे दिये।

वह ऐसा प्रसन्न हुआ कि पूछो नहीं।

जब मैं मेंढा साथ लिये अखाड़े में पहुँचा तो भीड़ लगी थी। मैंने मेंढा अन्य पशुओं के साथ पशु-रक्षक के पास खड़ा किया और भीड़ में घुस गया।

भीड़ में घुसते ही मेरा सिर उस कोलाहल से फटने लगा। और कमाल

तो मुझे तब लगा जब मैंने मनुष्यों को पशुओं से भी अधिक पागल होते हुए देखा। दो मेंढे लड़ रहे थे और दोनों ओर से उनके स्वामी और उनके साथी इस बुरी तरह चिल्लाकर, कूद-कूदकर, उछल-उछलकर उन्हें बढ़ावा दे रहे थे, कि मैं यह नहीं समझ सका कि असल में लड़ कौन रहे हैं, पशु या मनुष्य !

'ओय आगे बढ़कर·····

'जय ! पुत्र ! जय·····

'हिक्का हिक्का·····'

भट्ट ! भट्ट !—सींगों के टकराने से आवाज़ उठती और फिर एक मेंढा दूसरे को पीछे हटाता ले जाता और एक ओर की साँसें खिंच जातीं, दूसरा पक्ष चिल्लाता और फिर क्षण भर बाद ही पाँसा पलटता कि निस्तब्ध पक्ष से गगन-भेदी निनाद फूट निकलता।

वह आदमी जो बहुमूल्य वस्त्र पहने पागल-सा चिल्ला रहा था, मुझे यह अत्यन्त आश्चर्य हुआ, स्वयं पुरपइठान का राजकुमार अरिमर्दन था; जिसके पशु-प्रेम की कहानियाँ दन्तकथाओं के रूप में प्रचलित थीं। क्षत्रिय को तो आवेश चाहिये। युद्ध नहीं है तो आखेट ! आखेट नहीं है तो सिंहयुद्ध, हस्तियुद्ध, और मेषयुद्ध और ज़रा बुढ़ापा छाया कि बटेर, तीतर, मुर्गा लड़ाने लगा। मैं भीड़ के बाहर आ गया। एक व्यक्ति अत्यन्त उदास खड़ा था। उसकी स्त्री रो-रोकर कह रही थी : 'अरे मूर्ख ! तू जूए में घर खो बैठा था तब मैं चुप रही, अब तो तूने सब कुछ खो दिया। उन बच्चों का मैं क्या करूँ ? तू भी क्या कोई कुलीन राजन्य था। अरे धनियों के खेल, गरीबों के लिये काल होते हैं। किसी श्रेणी में बैठता तो आज कुछ कमाता होता, तेरे बच्चे पथ पर भीख तो नहीं माँगते !'

और वह ऐसा खड़ा था जैसे कोई मुर्दा हो। मैंने देखा क्रोध उस पर चढ़ने लगा और तब उसने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया और बाल नोचता हुआ एक ओर भाग चला। स्त्री उसके पीछे भागने लगी और फिर आती भीड़ ने सब ढँक लिया। अचानक घोर कोलाहल हुआ और मैं भीड़ में घुस गया।

अरिमर्दन का मेंढा हार गया था। और एक लाख रजत मुद्रांकित खण्ड वह हार चुका था। मगर वाह रे क्षत्रिय ! उसके चेहरे पर ज़रा सिलवट भी

तो पड़ी हो ! थोड़ी देर पहले जो पागलों का-सा उछल-कूद रहा था अब फिर उसमें राजन्य गांभीर्य आ गया था और वह अपने मेषपालक भृत्य से कुछ कह रहा था।

मैंने बढ़कर कहा : 'देव ! आपकी पराजय से मुझे बहुत खेद हुआ।'

'खेद !' राजकुमार ने अपनी जाँघ पर हाथ मारकर कहा : 'जीत-हार में खेद किसलिये।' फिर स्वर बदलकर कहा : 'क्या बताऊँ ! पुरपइठान में मेरे योग्य मेंढा ही नहीं !'

मैंने कहा : 'सो न कहें राजकुमार !'

'क्यों ?'

'मेरा मेंढा देख के कहिये। वह हार जाये तो शर्त है।'

'क्या शर्त है !' राजकुमार ने बिना विचलित हुए पूछा। मैंने अचकचाकर कहा : 'शर्त ! आप लड़ाइये। बाज़ी दो लाख की। देखें किसका मेंढा आता है। जीते तो धन आपका, हारे तो हार मेरी; भुगतूँगा।'

'वाह रे धनकुमार !' भीड़ में से किसीने कहा : 'तूने भी श्रेष्ठिधनसार का नाम चमका दिया।'

कोई देखे न देखे, मैंने धनदेव का स्वर स्पष्ट पहचान लिया।

परन्तु मैंने ध्यान भी नहीं दिया।

अब और क्या कहूँ। वह क्षण आये कि मेंढे टूटे, टकराये, और अब मैं भी उछलने-कूदने लगा। न जाने क्यों मुझे भी आवेश हो आया।

जब मेरा मेंढा जीता तो राजकुमार ने मुझे हाथों पर उठा लिया और 'धनकुमार की जय' से सारा मैदान भर गया।

'ले लो धनकुमार, सब ले लो !' राजकुमार ने पुलककर कहा : 'तुम्हारा नाम पहले भी सुन चुका हूँ। तुम धन्य हो। आज से तुम मेरे मित्र हुए। दो लाख ले लो, मेंढा मुझे दे दो।'

मैंने कहा : 'राजकुमार ! मेरी-आपकी मित्रता कैसी ? आप स्वामी हैं, मैं प्रजा हूँ। परन्तु आपने जब इतना गौरव दिया है तो अकिंचन होने पर भी प्रयत्न यही करूँगा कि आपकी महानता में बट्टा नहीं लगने दूँ। मेरी हैसियत ही क्या है जो लेने-देने का स्वांग करूँ। आपने जब मित्र ही बना लिया तो मित्र का सब कुछ मित्र का है। धन भी आप लें, मेंढा भी ले लें।'

तभी धनदेव की शकल मुझे भीड़ में दिखाई दी। उस पर तिरस्कार था। स्पष्ट ही जो कुछ मैं कर रहा था वह वैश्यों के लिये निंदित था।

राजकुमार ने मुझे छाती से लगाकर कहा : 'धनकुमार ! तब हम मित्र हुए। पर मैं लेता ही रहूँ, दूँ कुछ नहीं; तो मित्रता क्या रही ! बोलो ! आज सौगात के रूप में कुछ तो ले लो ! दोनों लाख तुम्हारे तो निश्चय हैं ही, और भी कुछ माँगो।

'देंगे राजन् ?' मैंने पूछा।'

'प्रतिश्रुत तो हो ही चुका !'

'तो फिर दें। प्रजा को अनुकरण। जैसा राजा, वैसी प्रजा। आज से मनोरंजन में जुआ बंद !'

राजकुमार ने मेरी ओर देखा और घूरते रहे और तब भीड़ की ओर देखा। कई दरिद्र थे। राजन्य के नयन काँपे और फिर उसने कहा : 'प्रतिज्ञा करता हूँ।'

मैं चिल्लाया : 'राजकुमार अरिमर्दन की·····

भीड़ चिल्लाई : 'जय !'

परन्तु सायंकाल मैंने देखा कि भाई नतग्रीव थे, छटपटाते-से। पिता से मुझे कहने नहीं जाना पड़ा। प्रवाह की तरह बात घर, गवाक्ष, कोने में, नगर भर में भर चुकी थी। २००० का भोज तो परिवारवालों को मिला ही। एक सौ अट्ठानवे हजार का माल—वस्त्र-भूषण पाकर भाभियाँ तो बिछल-बिछल गईं ही, और वैश्यों में मेरे गुणगान तो उठे ही, परन्तु पज्जा अम्मा ने कहा : 'वत्स धन ! एक बात पूछूँ ?'

'पूछ अम्मा !'

'यह धन बड़ा अनमोल होता है। भाग्य कभी-कभी देता है। इसका संचय करना चाहिये। कभी दुर्भाग्य हो तो काम आता है।'

मैंने कहा : 'अम्मा ! दुर्भाग्य अर्जन पर ही नहीं, संचय पर भी आता है। धरा भी निकल जाता है। तूने ही तो कहा था कि देने के लिये हृदय बहुत विशाल होना चाहिये। उसीसे दूसरा जन्म सुधरता है।'

वह कुछ नही कह सकी।

तब मैंने कहा : 'अम्मा ! सबसे छिपाता हूँ, पर तुमसे सच कहूँगा।'

अम्मा ने मेरी ओर देखा।

मैंने कहा : 'जानती है, मैं वह धन भाभियों को क्यों देता हूँ ?'

'जानती हूँ कि वे तुम्हारे भाइयों को तुम्हारे प्रति अनुकूल बना सकें।'

'नहीं। वह नहीं होने की बात है। दूसरा कारण है।'

'वह क्या ?'

'कि ईर्ष्या में जब मनुष्य की निरंतर पराजय होती है, तब वह विवेक खो बैठता है। ऐसे किसी क्षण में जो वह भयानक कार्य करने की सोच लेता है, उस समय की सूचना मुझे भाभियों से बढ़कर कौन दे सकता है ? वे मेरी प्रशंसा करती थीं, सो मैंने उन्हें समझा कर रोक दिया है। उनके मुख से मेरी प्रशंसा आग बुझाती नहीं, भड़काती है। अतः वे बुराई करें तो भाई उनसे अपनी गुप्त योजनाएँ छिपायेंगे नहीं। वह मेरे लिये अच्छा होगा न अम्मा ! भाभियाँ मेरी बुराई करें तो बुरा न मानना तुम। वे सब मेरी ओर हैं। परन्तु कुछ भी हो, स्त्री का अंत पति में है अम्मा ! वे इससे अधिक कुछ कर भी नहीं सकतीं।'

पज्जा ने सिर हिलाकर कहा : 'अलग हो जाओ न वत्स धन ! धन कमाना क्या तुम नहीं जानते ?'

'वह कठिन नहीं, पर पिता को जो दुःख होगा।'

'वे मुझसे कहते थे कि मेरा कनिष्ठ पुत्र अलग रहे तो उसे यह संकट तो न रहेंगे।'

'फिर लोक क्या कहेगा ? पिता के रहते पुत्र अलग हो गया। मेरे आगे-पीछे है ही क्या ?'

'तो विवाह नहीं करोगे ?'

'नहीं पज्जे ! स्त्री आयेगी तो मुझे यह सब सचमुच ही संकट-सा लगने लगेगा। अभी तो कोई भार नहीं लगता।'

पज्जा ने सिर हिलाकर मुँह बनाया और कहा : 'वे तो मूर्ख हैं तीनों। कुटिल भी हैं। उनके पीछे तुम अपना जीवन क्यों नष्ट करो। धनी तो भाग्यवान ही होगा।'

'धन और भाग्य मिले हैं अम्मा ? तो जो तीर्थंकर थे धनी कहाँ थे; वे तो तो भाग्यवान थे न ?'

'आह पुत्र ! वे और लोग होते हैं। वे संसारी कहाँ होते हैं।'

तब मैं सोचने लगा कि संसार का कल्याण करते हैं तीर्थंकर, फिर भी संसारी होने का अर्थ लगाया जाता है निचले स्तर पर रहना ! ऐसा क्यों होता है ? क्या संसार में रहने के लिये सफल बनकर रहने के लिये चतुराई के बिना काम चल सकता है ? परन्तु यह चतुराई ! आखिर इसका मोल क्या है ? लाभ ! लाभ से मिलते हैं ऐहिक सुख। पर क्या ऐहिक सुख ही सब कुछ हैं ? इन सबको त्यागने से जो शान्ति मिलती है वही तो श्लाघ्य है। तब मेरे भीतर ही कुछ बोल उठा—धनकुमार त्याग किसका ? पहले यह तो हो कि तू पा सकता है। पाये को त्यागने में तो यश है। बिना पाये ही उद्योगहीन होकर छोड़ने में क्या यश ? यश ! यश तो अहं की तृप्ति है। परन्तु त्याग बिना क्या वास्तविकता है ? अपने को पता कैसे चलेगा कि वस्तु के प्रति वासना क्या है ? जब छोड़ेगा तभी तो जानेगा। छोड़ेगा कहाँ से जब होगा ही नहीं ? तब छोड़ने के पहले पाना होगा। पाने के लिये कर्म करना होगा। कर्म से प्राप्ति होगी, और प्राप्ति को त्याग कर अपना साहस देखना होगा। कैसा चक्र है ! अद्भुत ! और सच ही तो है। दारिद्र्य से अनेक घर छोड़कर मूड़ मुड़ाये तरह -तरह की साधनाएँ करते डोलते हैं। उन्हें कौन पूछता है ? सभी ही तो ऐसे नहीं होते ? तो क्या मैं भी वैसा ही हो जाऊँ ?

'अम्मा !' मैंने कहा : 'मुनि होने के लिये क्या यह सब ठीक है ?'

भय से विजड़ित हो गई पज्जा।

कहा : 'पुत्र ! ऐसा नहीं सोचते। तेरी काया सोने की-सी है। तू नहीं जानता, तू कितना सुन्दर है ! इस सोने जैसे रूप में तेरा हृदय सुहागा है। गृहस्थ धर्म में रह। बुढ़ापे में ही ऐसी बात कर।'

'जब वासनाएँ चुक जायें ?'

पज्जा हँसी। और कहा : 'पुत्र ! वासना यौवन में नहीं सताती। वह असल में बुढ़ापे में सताती है। उसी समय इसे जीतना चाहिये।'

वह मैंने अजीब-सी जो बात सुनी सो मेरे भीतर घूमती रह गई।

एक वर्ष बिल्कुल शान्ति से बीत गया। माँ ने कहा, विवाह की बात भाभियों ने भी उठाई, परन्तु मैंने नहीं स्वीकार किया। पज्जा ने भी कई दिन तक बात नहीं की। किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि पिता ने इस विषय में मुझसे नहीं कहा।

माणवक से मुझे पता चला कि एक बार उसके पिता की मेरे पिता से बात-चीत हुई।

माणवक के पिता ने कहा : 'पुत्र युवक हो गया है मित्र ! विवाह क्यों नहीं कर देते ?'

पिता ने कहा : 'मेरा पुत्र स्वयं विचारवान है। वह कभी कोई अनुचित करेगा, इसका मुझे विश्वास क्या, कल्पना भी नहीं होती।'

'विवेक और है यौवन और बात है मित्र !'

'यही तो उसमें आश्चर्य है कि यौवन में भी उसमें विवेक है।'

'कहीं बाद में दुख न हो।'

'भाग्य जब चाहता है, तब विवाहित भी दुश्चरित्र बनते हैं। शायद नगर में ही उदाहरण हैं और तुम मुझसे उनके बारे में कुछ न पूछोगे।'

माणवक के पिता ने सोचा कि व्यर्थ क्यों बात बढ़ाई जाये।

किन्तु मैंने अनुभव किया कि पिता की यह आशा मेरे लिये एक नये नियमन का आधार बन गई। अब मेरे साथ रामकुमार की मित्रता के कारण ऐसी ख्याति बँध गई थी कि मेरा अहं उस सबको करते हिचकने लगा, जो मेरी स्व-कल्पित मर्यादा के विरुद्ध था। पता नहीं इसमें कितनी मेरी हानि हुई, परन्तु एक सीमा तक अनुभव करता हूँ कि यौवन के सहज रस को मैंने अहं के पाषाणों में बन्द कर दिया और इससे मैं भले ही विनम्र अधिक हो गया परन्तु एक प्रकार का सूनापन मेरे भीतर समाने लगा, और जीवन के प्रति निराशा अधिक जागने लगी। इसे देखने वाला पज्जा अम्मा के अतिरिक्त कोई नहीं था। और तब मैंने यह अनुभव किया एक के सुख-दुःख से वही सहानुभूति रखता है जो उसके बहुत पास है। बाकी संग उठ-बैठकर, हँस-खेलकर भी हम असल में एक दूसरे की वास्तविकता नहीं जानते और इसीलिये उनके जन्म-मरण में भी हमारी सन्निहिति अधिक नहीं रहती। सुभामा भाभी बड़ी थीं। प्रायः अपने हाथ से मेरे लिये कुछ न कुछ बनाकर लाती थीं। मुझे खिलातीं। मेरे मनोभाव जानने की चेष्टा करतीं।

'तुम्हारे पिता !' वह कहतीं : 'कहते थे तुम्हारे भाइयों से, कि जीवन भर मेरे बल पर खाओ, और फिर छोटा भाई है ही, वह सँभाल लेगा।'

'ऐसा क्यों कहा भाभी ! कौन पुरुष अपने को हेठा मानने को तैयार होगा ?'

'पर देवर ! सच क्या छिपता है ? तुम्हारे भइया पूछते थे मुझसे कि तेरा देवर अच्छा तो है ?—मैंने कहा : मैं क्या जानूँ ? मुझसे सीधे मुँह बात नहीं करता ।—कहते थे : इतना तो उसने तुझे दिया ।—मैंने कहा : वह तो तुम्हें नीचा दिखाने को किया उसने ।'

'अच्छा ! अभी गुस्सा ठंडा नहीं हुआ उनका ?'

'सुनते चलो । अभी क्या है ?'

पज्जा अम्मा ने कहा : 'वधू ! तुम सौभाग्यवती हो । यह तुम्हारे पुत्र जैसा ही है ।'

'जानती हूँ । पर करूँ क्या ?' भाभी ने आँखें पोंछ लीं । 'झगड़ा फिर शुरू हो गया है ।'

भाभी की बात सच निकली । परन्तु इस बार तीनों भाइयों को परिवार को रूखा-सूखा भोज देने की भी नौबत नहीं आई । उन्होंने पिता से धन लिया और कपड़ा खरीदकर बेचने बैठे । हाट के कोने पर नट आये थे । एक खेल देखने चला गया, एक दूसरे काम से निकल गया, तीसरा भंग पीकर गठरी के पास बैठा नशे में झूमता रहा । कोई गठरी लेकर चंपत हो गया ।

और तब मेरी बारी आई । वे कहते रहे कि व्यापार मौके की बात है । फिर कभी दाँव आयेगा ।

रात को पिता ने मुझे बुलाकर दस खण्ड स्वर्ण दिये और कहा : 'पुत्र, एक बार और ! और अन्तिम बार ।'

आज्ञा शिरोधार्य कर मैं अपने प्रकोष्ठ में लौट आया । पज्जा अम्मा ने मेरे लिये सूखे खजूर खाने को सामने रखे और कहा : 'पुत्र ! तूने सुना ?'

'क्या अम्मा ?'

'श्रेष्ठि शकटदास मर गया ।'

'कौन ? वह कृपण !'

'हाँ, वही कंजूस ।'

'बुड्ढा तो था ही ।'

'बुड्ढा था, मगर मरते समय भी वैश्यों के ऊपर थुकवा गया ।'

'सो क्यों अम्मा ?'

पज्जा ने पलकें ज़रा फैला दीं और हाथ की कुहनी मुड़े घुटने पर रखकर कहा : 'सारा धन छिपा गया।'

'क्यों लड़के को नहीं दे गया ?'

'अरे दिया क्यों नहीं ? पर उसके पास तो बहुत बताया जाता था। अन्त में उसका दिमाग ही फिर गया। भला कोई बात है कि मरने से उसे ऐसा डर लगा। यों चिल्लाता रहा : हाय ये खाट अब मुझसे छूट जायेगी ! हाय ये खाट अब मुझसे छूट जायेगी !'

मैं हँसा। कहा : 'खाट छूट जायेगी ?'

'भला बताओ ! खाट का रोना लगाया उसने। सब कुछ जा रहा था, सो कुछ नहीं। विशेषता क्या थी ? खाट पर जीवन भर सोया था। थी वह बड़ी सुन्दर ! मगर आदमी भी कैसा विचित्र होता है ! खाट लाया था गोदावरी-तीर के किसी नगर से। उससे इतना मोह ? बेटों से नहीं, पत्नी से नहीं।'

सच ! यह मनुष्य है ही विचित्र। इसकी ममता जाकर कहाँ अटकेगी, इसे कौन जानता है ?

पज्जा ने फिर कहा : 'मरते वक्त बोला—खाट मेरे साथ मरघट ले चलना।' ले गये लड़के। खाट जलाने को हुए तो चाण्डाल ने कहा : यह नहीं जलाने दूँगा। शव का सामान मेरा सामान है।—तब चाण्डाल के पास पहुँची वह खाट। पुत्र भी न सो पाये उस पर।'

मैंने सुना और भूल गया।

दूसरे दिन व्यापार पर निकला। अभी मैं लकड़ी के सामानों वाली हाट से निकल रहा था कि एक ब्राह्मण का स्वर सुनाई दिया : 'दूर रह चाण्डाल ! दूर रह !'

मैंने देखा। एक चाण्डाल सिर पर खाट उठाये चला आ रहा था।

मुझे अचानक ही याद आ गया। ब्राह्मण एक ओर को बड़बड़ाता निकल गया : 'अरे यह वैश्यों का ही उपद्रव है। क्षत्रिय तो थे ही। अब यह भी बढ़ चले। चाण्डाल ऐसे मुक्त चल रहा है।'

'क्या कहते हैं भूसुर !' एक मसखरे मगर हट्टे-कट्टे व्यापारी मद्र ने कहा :

'हमारी तरफ़ तो ब्राह्मण विष्णु मंदिरो में चाण्डालों के कंधे से कंधा भिड़ाकर प्रवेश करते हैं।'

ब्राह्मण भुनभुनाता, मगर धीर पग रखता चला गया। जैसे वह विक्षुब्ध प्रलय था।

चाण्डाल ने खाट रख दी।

'खाट लोगे ?' उसने कारीगर से पूछा।

शिल्पी हँसा और बोला : 'किसकी खाट है ? शकटदास की ?'

मैं रुक गया।

तभी मैंने देखा कि मेरे भाई मेरा छिपकर पीछा करते हुए आ रहे थे। मुझे मसखरापन सूझा। मैंने मन ही मन कहा : 'देखो ! शकटदास की घटना कितनी प्रसिद्ध हो गई।'

चाण्डाल ने कहा : 'हाँ उसीकी है।'

'तो ले जा।' शिल्पी ने कहा : 'इसे यहाँ कौन लेगा ? मरघट की खाट पर सोयेगा कौन ?'

मैंने कहा : 'क्या है यह ? मरघट की खाट है ? इसे मैं लूँगा।'

'धनकुमार !' शिल्पी ने कहा : 'क्या करोगे इसका ?'

मुझे सब जानते थे। भीड़ इकट्ठी हो गई। धनदेव, धनदत्त और धनचन्द्राधिप भी आ गये।

मैंने कहा : 'यह खाट मुझे चाहिये चाण्डाल ! देगा ?'

वह समझा, मैं मज़ाक कर रहा हूँ।

उसने कहा : 'आप श्रेष्ठि ! मैं गरीब आदमी हूँ। मुझसे मज़ाक करते हैं ?'

मैंने कहा : 'चाण्डाल ! तू गरीब नहीं। तू गुरु है, पर लोग तुझसे शिक्षा नहीं लेते। शकटदास के लोभ की इति का इतिहास यह खाट है, जिसके कारण बच्चा-बच्चा आज हँस रहा है। इसे मैं सामने रखूँगा कि मेरा मन इस व्यापार का अन्त जानता रहे, याद करता रहे। मृत्यु ही इस जीवन का अन्त नहीं, नाम फिर भी बच रहता है। भाग्य से धन मिलता है। किन्तु धन सब कुछ नहीं है।'

न जाने घृणा के किस आवेश में अपने सारे स्वर्णखण्ड मैंने उसके ऊपर फेंक दिये, जो उसने ऐसे चुन लिये जैसे भूखा कुत्ता हड्डी उठा लेता है। सब अवाक्

खड़े रहे। चाण्डाल चला गया। मैंने पास खड़े एक कमकर से कहा : 'इसे मेरे साथ ले चल।'

किन्तु उस समय धनदेव ने आगे बढ़कर कहा : 'तू पागल हो गया है धनकुमार ! तू इस मुर्दे की खाट को घर ले चलेगा ?'

तू-तू मैं-मैं सुनकर भीड़ बढ़ चली।

'नहीं', धनदत्त विक्षुब्ध-सा चिल्लाया : 'श्रेष्ठि धनसार के यहाँ यह खाट नहीं जायेगी !'

भाइयों की लड़ाई सदा ही ऐसी आग रही है जिस पर पड़ोसी हाथ सेंकते रहे हैं।

मैं नहीं जानता, मैं इतना दुर्विनीत कैसे बन गया। मैंने कहा : 'हट जाओ बीच से ! यह अवश्य जायेगी ! यह मेरी इच्छा है !' मैंने मज़दूर से कहा : 'उठा ले तू।'

किन्तु उसने कहा : 'नहीं। यह तो मुर्दाखाट है। अपवित्र है। मैं इसे नहीं छू सकता। तुम्हारे धन के लिये क्या मैं धर्म छोड़ दूँगा ?'

मैं रोष से विह्वल हो गया।

आज सोचता हूँ, वह कौन-सा आवेश था कि मैं आगे-आगे खाट सिर पर उठाये जा रहा था और पीछे तीनों भाई और भीड़ व्यंग भरी बातें कहते हँसते चले आ रहे थे। अब जो देखता वही आवाज़ कसता। भीड़ मेरे पीछे चली आ रही थी। सच वह बड़ा भयानक था सब। यहाँ तक कि सामने से घोड़े पर राजकुमार भी आता दिखा। और उस कोलाहल का अंत हुआ जब मैं अपने भवन के द्वार पर चढ़ा। सोपानों पर चढ़कर देखा, पिता खड़े थे, माँ थी, भाभियाँ थीं। पज्जा पीछे थीं। भृत्य, दास, दासी सब एकटक खड़े थे। नीचे पथ पर ठसाठस भीड़ खड़ी थी। घोड़े पर से राजकुमार ने पुकारा : 'मित्र ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ !'

मैंने खाट उतारकर कहा : 'राजकुमार। मैं कमाई करके लाया हूँ।'

तीनों भाई हँसे। धनदेव ने स्वर उठाकर कहा : 'मुर्दे की खाट लाया है।'

पिता ने कहा : 'वत्स धन, क्या यह सत्य है ?'

भीड़ स्तब्ध थी। मैंने कहा : 'पूज्यपाद पिता ! महामान्य राजकुमार ! पुरपइठान के निवासियो ! मैं वैभव की पराकाष्ठा ले आया हूँ। धन ममता के

रूप में निरन्तर यहीं बिकता रहता है। इसमें जीव की मुक्ति नहीं है। मनुष्य जो यहाँ पाता है, यहीं छोड़ जाता है। इसीलिये पिता की आज्ञा से मैं यह कमाई करके लाया हूँ, क्योंकि मैं वह कमाना चाहता था जिससे परिवार को तृप्ति हो। देखिये राजकुमार ! यही है वह शकटदास का यश। इसकी वास्तविकता क्या है, जानते हैं ? इसका मूल्य जानते हैं आप ? दस स्वर्णखण्डों के थोड़े-से मूल्य में मैं कितनी अमूल्य वस्तु लाया हूँ जानते हैं !'

'जानते हैं !' धनदत्त ने मेरे मुँह पर घूँसा मारा और बोला : 'नीच ! कुल-कलंकी ! ज्ञान की बात करता है ! मैं इस खाट को तोड़कर फेंक दूँगा !'

इससे पहले कि मैं सँभलू, तीनों भाइयों ने उसकी पाटियों से पाये खींच-कर उसे तोड़ दिया और मेरे रोकने के पहले ही उन्होंने पाये उठाकर जो पत्थर पर ज़ोर से मारे, एक बार बिजली-सी कौध गई। यहाँ तक कि मुझे भी चक्कर आ गया। पज्जा ने लपककर मुझे पकड़ लिया। मेरा चक्कर खाना तो घूँसे के कारण समझा गया। राजकुमार ने मुझे छाती से लगा लिया। माँ और पिता की आँखों से आँसू बहने लगे। भाभियों के मुख खुल गये। भीड़ हहरा उठी। तीनों भाई स्तब्ध पाषाण-से खड़े रह गये।

शकटदास ने अमूल्य मणियों के रूप में अपना चिर संचित धन खाट के पोले पायों में भर रखा था और वह अमूल्य रत्न राशि अब पिता के चरणों पर पड़ी थी।

कुछ देर बाद भीड़ में जय-जयकार सुनाई दिया। मेरी मेधा और कुशाग्र बुद्धि घर-घर की बात बन गई। भाभियों को वह अमूल्य राशि मैंने बाँट दी। भोज ऐसा हुआ कि स्वयं महाराज और राजकुमार भी आये। किन्तु इसके बाद मैंने पिता की ओर देखा तो उन्होंने केवल यही कहा : 'पता नहीं। यह कौन है जिसने मेरे घर जन्म ले लिया है।'

पज्जा ने पूछा : 'सच बता वत्स धन ! तुझे पता था कि पायों में रत्न थे ?'

'क्यों पूछती है अम्मा !' मैंने पूछा।

'ठीक है, ठीक है,' पज्जा ने कहा : 'चक्कर तो तुझे इसलिये आया था कि उस मूर्ख भाई ने तेरे घूँसा मार दिया था। सच तू बड़ा ही बुद्धिमान है। उस जन्म में न जाने कितना देकर आया था जो इतना पा रहा है। और इतना सब जो दिये जा रहा है, उससे पता नहीं आगे चलकर अभी कितना और पायेगा !'

मुझे याद है, मैंने कहा : 'अम्मा ! देता कौन है ? वह जिसे ज़रूरत नहीं है। ज़रूरतें बढ़ाकर जो कहता है यह मुझे चाहिये, यह मुझे चाहिये, उसकी चाहना का अंत ही कहाँ है ? परन्तु जो कहते हैं नहीं चाहिये, वे अभाव से कचोट खाते हैं। हो और नहीं चाहिये—इसमें तो गौरव है।'

कहने के साथ ही मैंने अनुभव किया कि गौरव तो सबसे बड़ी चाहना है। तब ! तब मैंने कुछ नहीं दिया, खाने को था, पीने को था, ओढ़ने-बिछाने को था, दास थे, दासियाँ थी। घर में धनधान्य, सुवर्ण, रत्न, रेशम, कंबल, पशु सब कुछ था। इतना रखकर मैंने कहा है—दिया। तब क्या दिया।

शायद छः महीने बीते थे कि एक दिन एक अश्वारोही आया जिसने अपने घोड़े की लगाम द्वारपाल को थमा दी और जब दास उसे मेरे पास लाया तो उसने कहा : 'महाराज ने स्मरण किया है।'

मैंने कहा : 'अभी !'

'हाँ श्रेष्ठि अभी।'

'चलो !' मैंने कहा।

हम दोनों घोड़ों पर पहुंचे।

महाराज के भव्य प्रासाद मे घुसा तो वे रत्न-जटित चौकी पर बैठे थे। मुझे एक चाँदी की चौकी पर बिठाकर कहा : 'श्रेष्ठिपुत्र ! बहुत दिन से देखा नहीं।'

'महाराज की असीम अनुकम्पा हुई कि मुझे याद रखा।' मैंने विनम्रता से कहा : 'मेरे योग्य सेवा।'

'हाँ, बताता हूँ। बात यह है कि हमारे सार्थ जब एक देश से दूसरे देश जाते है तब वन-भाग में दस्यु हमारे यात्रियों को लूटते हैं। ऐसी कोई तरकीब हो कि वह लूट-मार बंद हो जाये !'

'देव !' मैंने कहा : 'यह तो राजकाज की बात है। मैं ठहरा वणिक्पुत्र ! इस पर क्या कह सकता हूँ !'

'अरे तुम बुद्धिमान व्यक्ति हो !' महाराज ने कहा : 'अवश्य ही बता सकोगे।'

मैंने कहा : 'महाराज ! बता सकता हूँ, परन्तु मुझे प्राणभय से···

'अभय !' महाराज ने कहा : 'निर्द्वन्द्व कहो।'

मैंने कहा : 'महाराज ! श्रेष्ठि शान्ति चाहते हैं, व्यापार के लिये। परन्तु महाराज क्षत्रिय ठहरे ! सीमाभूमि में शान्ति तभी हो सकती है जब दो महाराज परस्पर अनाक्रमण की सन्धि करके अपनी-अपनी सेना वहाँ नियुक्त करें। किन्तु क्षत्रिय ऐसा कैसे कर सकते हैं ? क्षत्रिय का तो धर्म है पराक्रम दिखाकर जयलाभ करना और उसके लिये आक्रमण आवश्यक है !'

महाराज ने कहा : 'चतुर वणिक् पुत्र ! साधु ! परन्तु हम आक्रमण नहीं करना चाहते।'

'तो देव ! अपने पड़ोसी महाराजाओं की ओर से भी स्वयं ही मन में आश्वस्त हैं ? उनका भी पूरा भरोसा कर लिया है क्या ?'

'वही तो मुझे शान्ति नहीं देता !'

'देव ! देगा भी कैसे ? पड़ोसी निर्बल रहे तभी श्रेष्ठ है। आप इतनी शक्ति बढ़ायें कि सब आपके आधीन हों। तब वन भूमि में शान्ति रह सकती है, अन्यथा अशासित भूमि में सदैव उपद्रवी ही बसे रहेंगे।'

'उन्हें कोई दण्ड देने वाला वहाँ नही है न ?' उन्होंने सोचते हुए कहा। फिर मुड़कर कहा : 'मैं शान्ति स्थापित करूँ तो तुम्हारे श्रेष्ठि-समुदाय से तो सहायता मिलेगी न ? जानते हो, गणराज्यों के क्षत्रिय कितने अभिमानी होते हैं ?'

'देव ! सहायता तो श्रेष्ठि स्वयं देंगे, वैसे मैं प्रतिनिधि नहीं। बड़े-बड़े हैं, वृद्ध हैं, वे ही बता सकेंगे। गणक्षत्रियों की क्या चलेगी देव ! अहिंसा की स्थापना के लिये एक राज्य आवश्यक है, अन्यथा यह निरंतर युद्ध होंगे जिनमें किसान के खेत जलते हैं, व्यापारियों को जगह-जगह कर तो देने पड़ते हैं, परन्तु सुरक्षा उनकी कहीं नहीं है। आप श्रेष्ठियों को बुलाकर पूछें।'

महाराज के नेत्रों में एक असीम महत्वाकांक्षा की झलक दिखाई दी। बोले : 'वणिकपुत्र ! कभी ऐसा हो सकेगा ? कभी सारा उत्तरापथ और दक्षिणापथ एक चक्रवर्ती के आधीन होगा ?'

'कहते हैं देव ! प्राचीनकाल में ऐसे ही भरत चक्रवर्ती थे।'

'चक्रवर्तित्व !' महाराज ने कहा : 'क्षत्रियों में यह बहुत दिन से प्रवाद चला आ रहा है। उत्तर के शाक्यों और वज्जियों में भी प्रचलित है कि शीघ्र ही चक्रवर्ती बनेगा कोई। मैंने यात्रियों से सुना है कि शाक्य गण राजा शुद्धोधन

का पुत्र सिद्धार्थ और वज्जियगण के ज्ञातृपुत्र सिद्धार्थ का पुत्र महावीर वर्द्धमान दोनों घर छोड़कर चले गये हैं चक्ररत्न प्राप्त करने।' महाराज ने हँसकर कहा : 'ऐसा क्या हो सकता है वणिक्पुत्र ? जानते हो अवन्तिका का चण्डप्रद्योत सेना बढ़ा चुका है। इतनी कि वह महासेन कहलाने लगा है ?'

मैं नहीं समझा कि महाराज ने मुझसे ऐसी बातें क्यों कीं ? फिर अन्त में वे बोले : 'चाहता हूँ सेना मैं भी बढ़ाऊँ। परन्तु श्रेष्ठिपुत्र ! उसके लिये धन चाहिये ! धन ! राज्य छोटा है। फिर कर कहाँ लगे ? धन बढ़ाने का उपाय बता सकते हो ?'

अब मैं समझा। मैंने कहा : 'महाराज ! धन तो बढ़ाये से बढ़ता है। आदमी चाहे तो क्या नहीं हो सकता ?'

'ऐसा कैसे हो सकता है ?'

'महाराज ! मैंने पुरानी पुस्तकें पढ़ी हैं। कोई खान मिला जाये तो काम चल जाये।'

'अपने राज्य में है ?'

'यहाँ तो नहीं है।'

'आसपास ?'

'कहाँ महाराज ?'

'तो खोज सकते हो ? वह भूमि जीती जाये !'

'आज्ञा देंगे तो यत्न करूँगा।'

इसके बाद मैं चला आया। घोड़े पर धीरे-धीरे जा रहा था कि श्रेष्ठि भौमिकदास के विशाल प्रांगण में भीड़ दिखाई दी। सोचा। क्या बात है। मैंने घोड़ा मोडा।

वहाँ तो राजकर्मचारी भी खड़े थे।

भौमिकदास के वंशजों में उसके मरने पर बँटवारा नहीं हो पा रहा था। भौमिकदास को मरे दो पीढ़ी हो चुकी थी। दो पीढ़ी शान्ति से रहने के बाद अब वंशजों में लड़ाई हो गई थी। माल का बँटवारा हो चुका था, परन्तु मुसीबत यह थी कि पूरे भवन की नीचे की मंजिल में बालू भरी थी। सुनते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

एक राज्यकर्मचारी से मैंने पूछा : 'क्या हुआ यहाँ ?'

मुझे वह जानता था। मुस्कराकर बोला : 'श्रेष्ठि के वंशजों ने माल तो बाँट लिया है, परन्तु सारे भवन में नीचे बालू भरी देखकर राज की मदद मँगाई है कि इसे राज नीलाम करदे तो मकान बनाने वाले कुम्हार और सुनार इसे उठा ले जायें, ताकि लदाई बच जाये।'

मैंने कहा : 'पर बालू भौमिकदास के यहाँ क्यों आई ?'

'श्रेष्ठिपुत्र !' उसने कहा : 'कहते हैं भौमिकदास बड़ा रँगीला था। उसने सोचा था कि एक विशाल सरोवर बनवायेगा। उसके तट पर डालने को रेत मँगवाई थी उसने, ताकि समुद्र की झलक मिल सके ?'

मैंने कहा : 'मैं वह रेत देख सकता हूँ ?'

'तुम भी सरोवर बनवाओगे ?'

'क्या हर्ज है, बनवा देंगे।'

अचानक भीड़ में से बढ़कर किसी ने मेरे घोड़े की लगाम पकड़ ली और कहा : 'मूर्ख ! क्या करता है ?'

देखा, वही धनदेव !

मैंने कहा : 'छोड़ दो मेरी वल्गा। दूर हट जाओ। राजकाज में बाधा मत डालो।'

राजकर्मचारी ने मेरी ओर देखा। मैंने धीरे से उसके हाथ में एक स्वर्ण-खण्ड सिक्का दिया। फिर क्या था। उसने दण्ड बढ़ाकर कहा : 'हट जाओ, हट जाओ।' मैंने उसे घोड़ा पकड़ा दिया।

मार्ग साफ़ हो गया।

भौमिकदास का परनाती गंधर्वदास मुझे देखकर बोला : 'अरे धनकुमार तुम ! कैसे आये ?'

'देखता था बहुत कोलाहल हो रहा है। बताओ तो ? कुछ झगड़ा-वगड़ा है क्या ?'

उसके दोनों भाई, चचेरे भाई, कुल मिलाकर छः-सात व्यक्ति, फिर उनकी पत्नियाँ, उनके बच्चे·····

मैंने फिर उसे देखा तो वह झेंपकर बोला : 'नहीं भाई। ऐसा नहीं है। औरतों में नहीं बनती।'

'मर्दों में तो बन जाती है ?'

'अब छोड़ो। तुम क्यों चिन्ता करते हो ?'

'तो !' मैंने कहा : 'प्रपितामह का वैभव लुटा दोगे ?'

'वैभव !' वह बोला : 'हाँ ! यह रेत !' और वह हँस पड़ा।

मैंने कहा : 'सरोवर क्यों नहीं बनवाते। नगर में गौरव फैलेगा।'

'इतना धन कहाँ है भाई !' उसने कहा। फिर व्यंग्य किया : 'तुम ही न बनवा दो।'

मैंने कहा : 'रेत कहाँ है ?'

'यह है तो, ले जाओ सब !'

'मूल्य क्या लोगे ?'

'तुम उठवा ले जाओ, वही काफी है।'

'अजी यों नहीं। कुछ हिसाब करो। कहीं से लाते तो कितनी महँगी पड़ती भला, सोचो !'

'अच्छा एक रजत मुद्रांकित खण्ड की १००० मन !'

'लिखवाओ !'

जब प्रतिज्ञापत्र तैयार हो गया, साक्षी हो गये, मैंने मजूर लगा दिये और शकट भरवाने लगा।

इतनी देर तक मैं बिल्कुल हास्यवदन लिये रहा। यहाँ तक कि लोग मुझ पर व्यंग्य कसने लगे। शीघ्र ही संवाद नगर में फिर फैल गया। भीड़ें आने लगीं। अब तो यह हालत हो गई थी कि धनकुमार का नाम सुनकर लोगों को कौतूहल होता था। परन्तु खाट के पाये में तो रत्न हो सकते थे, बालू में इसका क्या जोर बैठेगा यही उनकी समस्या थी।

मैंने घोड़ा सँभाला और जब प्रासाद पहुंचा तब महाराज चकित हुए।

'वत्स धन ! कैसे लौट आये ?'

'आपसे आज्ञा लेने आया हूँ।'

'कैसी ?'

'प्रासाद के सामने एक सरोवर बनाना चाहता हूँ। उसके चारों ओर बिछाने के लिये बालू चाहिये। तीन पीढ़ी पहले श्रेष्ठि भौमिक दास ने यही विचार किया था। वह निस्संदेह बड़ा ही महान व्यक्ति था। उसके प्रपौत्र उसकी लाई

बालू बेच रहे थे। मैंने खरीद ली है। अब देव! आज्ञा दें तो कार्य प्रारम्भ हो। बालू इधर भिजवा दूँ।'

'तुम क्या कह रहे हो?' महाराज ने चौंककर कहा : 'मैं समझा नहीं। आखिर कितनी बालू है?'

'यही महाराज पच्चीस सहस्र सैनिकों के भोजन-वस्त्र के तीन वर्ष के प्रबन्ध लायक सोना जितनी होगी।'

'तुम पागल हो गये हो?' उन्होंने अचकचाकर कहा।

पर मैं घर नहीं गया। बालू से भरे शकट ला-लाकर प्रासाद के सामने उँडेल दिये गये। महाराज समझे नहीं। परन्तु सरोवर बनवाने में उन्हें बाधा ही क्या थी। सामने विशाल भूखण्ड पड़ा था।

साँझ हो गई तो मैं घर आ गया। पिता तक संवाद पहुँच चुका था। वे प्रासाद गये थे महाराज से मिलने। पज्जा अम्मा ने जूते खोलने को हाथ रखा ही था कि भृत्य ने आकर कहा : 'महाराज ने आपको इसी समय बुलाया है। श्रेष्ठि भी वहीं हैं।'

मैं नीचे उतरा तो भाभियाँ, माँ, सब मुझे देख रही थीं। परन्तु मैं कुछ नहीं बोला। नीचे उतर गया।

महाराज ने मुझे देखा तो कहा : 'वत्स धन आ गया!'

चाँदनी छिटक रही थी। बाहर पड़ी रेत अब चाँदनी में बहुत ही सुनहली-सी चमक रही थी। उसका स्तर चमक से बहुत ही लुभावना दीख रहा था।

मैंने दोनों को प्रणाम किया।

'वत्सधन!' पिता ने कहा : 'यह तूने क्या किया? बालू खरीद डाली!'

मैंने कहा : 'पिता! राजा यदि प्रजापालक हो तो क्या उसके लिये सब कुछ नहीं करना चाहिये?'

पिता नहीं समझे। न महाराज ही समझ पाये।

'इससे क्या संबंध है इस बालू का?' पिता ने पूछा।

मैंने कहा : 'महाराज! आज मैं चाहता तो इस बालू को अपने घर भी ले जा सकता था, परन्तु आपने कहा था कि वनभूमि में शांति स्थापना की चेष्टा करेंगे, इसी से यह मैं आपको देता हूँ।'

'बालू! और मुझे देते हो?'

'हाँ देव ! देखते हैं बालू का रंग ! इसमें भूरिशः सुवर्ण है। पिघलाते ही सोना बन जायेगा। यह साधारण बालू नहीं, तेजुत्तरी रेत है। मैंने पुरानी पुस्तकों में इसके बारे में पढ़ा है। भौमिक दास साधारण श्रेष्ठि नहीं था। उसके सार्थ दिगंतों में घूमते थे। उसने सोचा होगा कि इनसे स्वर्ण निकालेगा, किन्तु वह अपनी बात पूरी किये बिना ही मर गया और उसका रहस्य भी उसके साथ ही चला गया।'

पिता आश्चर्य से स्तब्ध खड़े रहे। महाराज ने काँपते स्वर से कहा : 'प्रणाम !'

मैंने कहा : 'भट्ठी लगवाइये।'

जिस समय सुनारों ने रेत को तपाकर सोना निकाला, पिता मुझे छाती से लगाकर ऐसे रोने लगे जैसे कोई बच्चा माँ से मिलकर रोता है। महाराज ने ग्लपयित कंठ से कहा : 'धनसार ! तेरा यह पुत्र मनुष्य नही, निस्संदेह कोई यक्ष-विद्याधर है।'

मैं क्या समझूँ वे ऐसा क्यों कह उठे ! इसमें क्या विद्याधरत्व था ?

और तब महाराज ने कहा : 'कल सभा होगी और श्रेष्ठि धनसार ! तेरे धनकुमार ही को मैं नगर-श्रेष्ठि की पदवी दूँगा।'

पिता ने झुककर महाराज के चरण छू लिये।

फिर सचमुच मैं नगर-श्रेष्ठि बना दिया गया। मुझे समस्त श्रेष्ठियों ने भेंटें दीं। मैंने उस धन को देखकर कहा : 'सचमुच धन आ गया है महाराज ! सरोवर अब बन जायेगा।'

पज्जा अम्मा ने मेरे घर आते ही नमक-मिर्च उतारी और माँ ने छाती से लगाकर माथा चूमा। भाभियाँ सामने आईं मंगल आरती उतारने,; किन्तु मैंने कहा : 'तुम्हारे हाथ मे नही भाभी ! तुम्हारे हाथ से नहीं।'

सुभामा भाभी का मुँह काला पड़ गया। बगल में खड़ी सुहागिनों ने आरती का थाल ले लिया।

प्रचुर भोज में परिवार सम्मिलित हुआ।

धनदत्त, धनदेव और धनचन्द्राधिप मेरे पास ही बैठे।

रात हो गई। मै अपने प्रकोष्ठ में वीणा लिये बैठा था। पज्जा द्वार पर सोई थी। भाभी सुभामा भीतर आईं। उनके हाथ में एक गठरी थी। मैंने

गचाप सुनकर देखा और उठ बैठा। वीणा, सरका दी।

'भाभी तुम !'

'हाँ देवर ! मैं ही हूँ।'

और बोली नहीं। गठरी मेरी शैय्या पर धर दी। जाने लगीं।

'भाभी ! यह क्या है ?'

'जो तुम्हारा है, दिये जाती हूँ।'

मैंने बढ़कर उनके पाँव पकड़कर कहा : 'अब समझा मैं। आरती करने ो रोका था। यह उसीका रोष है।'

'तुम अपमान कर सकते हो। हम नहीं। क्योंकि तुम यह आभूषण हमें ेते रहे हो।'

मैंने सुना। क्षण भर उन्होंने मुझे देखा और कहा : 'पाँव छोड़ दो ! जाने ो मुझे। जानते हो पड़ोसिनों ने हमारे बारे में क्या सोचा होगा ?'

'सब जानता हूँ।'

'फिर भी अपमानित किया ?'

'हाँ भाभी !'

'तो जान-बूझकर किया ?'

'हाँ भाभी !'

भाभी सुभामा विक्षुब्ध-सी देखती रहीं।

'पूछो भाभी ! कारण तो पूछो।'

भाभी अब चौंकीं।

पूजा जाग गई थी। भाभी को देखकर चौंक उठी। उठकर खड़ी हो गई।

मैंने कहा : 'तुम्हारे हृदय में अपार स्नेह था जानता हूँ, तभी तुम माँ के ाथ वहाँ आई थीं। परन्तु जानती हो उससे क्या होता ? भाई यही समझते के इतने दिनों से तुम मेरी झूठी बुराई करती थीं। फिर वे कभी अपने मन ी बात तुमसे नहीं कहते। उस जगह तुम्हें रोककर मैंने प्रमाणित किया कि ुम्हारा वह काम दुनिया की आँखों में धूल झोंकने के लिये था। भाभी ! माँ ो तुम ! पुत्र की रक्षा के लिये क्या इतना भी अपमान नहीं सह सकोगी ?'

वे चुप खड़ी रहीं। एक बार मेरे सिर पर आशीस देता-सा हाथ फिराया।

'वह गठरी ले जाओ भाभी ! मैं बहुत अकेला हूँ। इतना सब है, पर फिर

भी मेरे लिये कुछ भी नहीं है। जिसके भाई ही जिसे नहीं चाहते, उसका जीवन ही व्यर्थ है। मुझे मर जाना चाहिये भाभी ! पर मरना कठिन होता है। बहुत कठिन होता है। मैं नहीं मर सकता।'

पजा ने फुसफुसाकर कहा : 'मरे तेरे शत्रु ! तू क्यों मरेगा ! कोई कुछ कहता था ?'

मैंने कहा : 'पजा अम्मा ! तुम्हारा और भाभियों का काम बढ़ गया है। जानती हो न ? अब मैं धनकुमारमात्र नहीं, मैं नगर श्रेष्ठि हूँ। नगर-श्रेष्ठि !'

और इसीलिये मैं आज यहाँ निर्जन में रात्रि के समय इस वृक्ष के नीचे लेटा हूँ। क्यों ? क्योंकि मेरा वह भय सत्य निकला।

वर्षों को बीतते देर नहीं लगती। वे तो बीत गये, परन्तु घृणा तो नहीं गई!

और परसों रात ही की तो बात है !

पजा अम्मा ने आकर कहा : 'तूने सुना ?'

मैं तब मिठाइयाँ खाकर दूध पी रहा था।

'स्वामी बहुत क्रुद्ध हो रहे हैं।'

'क्यों भला ?'

'सुना तूने ! तेरे भाई क्या कहते फिर रहे हैं नगर में ?'

'क्या कहते हैं ?'

रोष से जैसे वह बोल नहीं पा रही थी।

'कुछ कहे भी तो !'

उसकी आँखें लाल थीं, कुछ फूल आई थीं, जैसे सेमल की कलियाँ हों।

'नगर के कुछ वृद्ध तुम्हारे तारुण्य को देखकर वैसे ही ईर्ष्याग्रस्त थे। अब यह भी सुर मिला रहे हैं कि पुरपइठान की तो नाव ही डूब जायेगी। जिसमें कल के लड़के बड़े-बूढ़ों के सिर पर पाँव रखकर नगर-श्रेष्ठि बन गये हैं। हम तो पहले समझ गये थे कि जुआरी मित्र राजकुमार की मित्रता कुछ नया ही रंग लायेगी।'

'ऐसा कहते हैं !' मैंने कहा। दूध का पात्र रख दिया।

'यह नहीं कहते कलमुँहे कि राजकुमार का जुआ किसने छुड़ाया ?' पजा कहती रही।

तभी द्वार पर माँ आ गई। मैं खड़ा हो गया। जीवन में शायद पहली बार माँ के स्नेह का मुझे अनुभव हुआ। मेरे पास आकर खड़ी रहीं। फिर कहा : 'पुत्र ! तेरे भाई तेरा अनिष्ट चाहते हैं।'

'किस तरह कहती हो माँ !' मैंने अचकचाकर पूछा।

'सुभामा, सुमुखी और अलका ने कहा है।'

'क्या माँ ?'

'वे तेरे रक्त के प्यासे हैं। किसी भी दिन छल से तेरी हत्या कर सकते हैं।' कहते हुए उनकी आकृति कठोर हो गई। 'तू मेरा पुत्र है। तुझे मैंने गर्भ में धारण किया था वत्स धन ! जो तेरा पसीना गिरायेगा मैं उसका लहू पी जाऊँगी। तू यह न समझ कि मैं इतने दिन से जानती नहीं थी। जानती थी। सब जानती थी। किंतु तेरे पिता से डरती थी, क्योंकि उनका क्रोध तेरे भाइयों को दर-दर का भिखारी बना देता। और यह जो मैंने पाप किया है कि उन्हें जन्म दिया है, इसी पाप की ममता ने मुझसे इतने दिन छाती पर पत्थर रखवाया है, क्योंकि मैं तुझे स्नेह नहीं दे सकी। पर मैंने तुझे अकेला नहीं छोड़ा पुत्र ! पजा को तेरे पास छोड़ा था और मैं जानती थी कि पजा तेरे लिये जीवन भी दे देगी।'

पजा ने आँसू पोंछकर कहा : 'स्वामिनी ! दासी को इतना सम्मान दिया है तुमने। तुम्हारे चरणों की धूलि मेरे सिर पर रहे।'

उसने चरण-धूलि सिर पर लगा ली। माँ ने पीछे हटकर कहा : 'तेरी भाभियाँ घृणा से विह्वल हो रही है। तू नहीं जानता पुत्र ! स्त्री के लिये, कैसा भी हो, पति ही सर्वस्व है। और अपने पति से स्त्री जब छल करती है तब वह कितना बड़ा खेल खेलती है। उन्हींने उनके पेट से बात निकलवा कर मुझे बताया है। सावधान रहना !'

और तब उनके जाने के बाद मैंने सोचा था। क्यों रहूँ मैं यहाँ ? मेरे चारों ओर जीवन्त प्रेम है। भाभियों की पवित्र आँखें मुझसे मानो अपने पतियों के जीवन और अपने सुहाग माँगने लगीं। पिता का वह क्रुद्ध किन्तु व्याकुल मुख मानो पुत्रों का दान माँगने लगा। और माँ का हृदय ! सब जानते हैं। और मुझ पर ऋण है सबका। मुझमें शक्ति है। मैं तीनों को मार सकता हूँ, तीनों को राजाज्ञा से पकड़वा सकता हूँ ! परन्तु क्या मैं मर्यादा लाँघ सकूँगा ? क्या

श्रेष्ठि धनसार के कुल पर लोक हँसेगा ! इन तीन ईर्ष्यालु मूर्खों के कारण पिता का गौरव खंड-खंड हो जायेगा और यदि पकड़वाता हूँ तो मेरी गवाही कौन देगा, पिता का हृदय या माता की ममता, या पत्नी का सुहाग ! तब ! मैं क्या करूँ ?

क्यों न मैं सब कुछ छोड़कर चला जाऊँ ? क्या है मेरा यहाँ ? क्यों रहूँ मैं इस जगह ? इस घृणा में प्रेम एक संबल अवश्य है, किन्तु मेरे रहने के कारण यहाँ कितने लोग हैं जो द्वन्द्वों में भर गये हैं। उनका हृदय कैसे चैन पाता होगा ? मेरे न रहने से यहाँ पति-पत्नी, सास-ससुर, माँ-बाप, सबमें स्नेह रहेगा। मेरा अभाव भी शीघ्र ही विस्मृत हो जायेगा। पत्नी का अंत पति है, माता-पिता का पुत्र।

काल के विशाल चक्र को निरन्तर घूमते हुए कितनी अवसर्पिणी व्यतीत हो गई।

और इसीलिये कल रातभर सोचने के बाद मैं आज चाँदनी निकलने के पहले ही अँधेरे में घर छोड़ आया हूँ। अपनी वीणा को भी छोड़ आया हूँ। अब वे सब मुझे ढूँढ रहे होंगे। अब मेरे सामने चित्र-से जागते है। जिनको पास से देखकर कभी ध्यान नहीं दिया था, वे जब दूर हो गये हैं तब मुझे कितने पास के लगते हैं। सचमुच मैं कितना भाग्यवान हूँ। धन ही मेरे जीवन का मानदण्ड बना है। जन्म के समय की वह घटना क्या सचमुच किसी प्रकार से मेरे समस्त जीवन का प्रतीक है ? क्या वास्तव में अब भी जीवन में मै बड़भागी हूँ ?

हँसने का मन करता है। यही है भाग्य ? सब कुछ पा जाने के बाद भी कुछ नहीं। लेकिन मैं अपने जीवन को ले आया हूँ। वही सबसे अधिक मूल्यवान है। वह सबकुछ कुछ नहीं था। वे मुझे मार डालना चाहते थे। इतनी घृणा ! इतना विष ! असंख्य प्राणी नित्य जन्म लेते हैं, नित्य मर जाते हैं। क्या मैं भी उन्हीं जैसा नहीं हूँ ? क्या एक दिन मुझे मरना नहीं है ?

भयानक ! कितना विचित्र है यह विचार ! लेकिन जीवित रहते हुए मनुष्य उस विराम की कल्पना कब करता है ! वह तो अविराम चलता चला जाता है

पज्जे अम्मा ! तू अब उस प्रकोष्ठ में सूनी-सी बैठी होगी ! क्या तू मेरे वियोग को झेल सकेगी ? अम्मा ! क्या वे मेरे भाई तुझसे दासी जैसा व्यवहार

तो क्या वे तुझे कष्ट देंगे ? लेकिन पज्जे अम्मा ! मैं ही यदि नहीं रहा तो क्या होगा। वह वेदना क्या तेरे लिये सहज होगी जब तू आयेगी और शय्या पर मुझे देखेगी, मेरे वक्ष में मूँठ तक छुरा घुसा गया दिखाई देगा ? यह भी न सही। आते-जाते कहीं एकांत में ही'' और मेरा शव पथ पर पड़ा रहेगा ! पज्जे अम्मा ! मृत्यु कितनी विकराल है। मैं उसकी कल्पना भी नहीं करना चाहता। जब मैं घर से निकला था तब चारों ओर सन्नाटा था। द्वार मैंने चुपके से खोला। सुलक के पास से निकल गया। वह सो रहा था। कैसे बताऊँ कि मुझे नगर की एक-एक ईंट और एक-एक वस्तु किस प्रकार रोकने लगी थी। प्रासाद के सामने के मेरे हाथों नींव डाले गये ताल में चाँदनी खेल रही होगी इस समय। उस समय केवल दीपों का झिलमिल प्रकाश उसमें नीचे तक उतर रहा था। नगर सो गया था। सचमुच जब मनुष्य जागता रहता है, तब पत्थर भी बोलते रहते हैं; और जब वह सो जाता है, तब वह पत्थर भी सुपनों के बोझिल टुकड़े भर जैसे रह जाते हैं।

वह संसार मेरे लिये नहीं था। वह सब कुछ मेरे साथ अपना तादात्म्य नहीं कर सका। आज मै एक नये जीवन के इस छोर पर हूँ। शायद अब मै किसी ऐसे रास्ते पर चल सकूँगा जहाँ मुझे वेदना नहीं होगी। जानता हूँ कि यह भी शायद मेरी कल्पना है। मुनि स्वयंप्रभ कहते थे कि मनुष्य का संस्कार उसके साथ जुड़ा रहता है। वह बार-बार लौटकर आता है। परन्तु वे यह भी कहते थे कि अहिंसा से बुरे से बुरा व्यक्ति भी सुधर सकता है।

मैं इसे नहीं जानता। सचमुच ही क्या मनुष्य में इतनी शक्ति है कि बुरा भी बदल सकता है वह ! और माणवक भी कहता था कि अच्छे से अच्छे में भी कहीं बुराई होती है और बुरे से बुरे में भी कहीं न कहीं कोई अच्छाई सदैव बनी रहती है। जो भी हो, इतना जो सब देखा है, वह मेरा नहीं है। सम्भवतः मेरा कभी भी कुछ नहीं होगा, जैसा किसी का भी कभी कुछ नहीं हुआ।

जिस भविष्य में, जिस वर्तमान में रहने की मेरी इतनी उत्कट लालसा है, वही बहुतों को नहीं भाता। जो मुझे नया लगता है, उसे वे बहुत पुरान-पुराना कहते हैं। मेरे क्रम की आस्था उनके लिये विगत का भार बन चुकी है और वे इसे छोड़ जाना चाहते हैं। ऐसा होता है यह बुढ़ापा ! और मृत्यु पर हमारा वश नहीं है।

रात अब और घनी हो गई है और चाँदनी अब पत्तों के ऊपर सो गई है। तह के अँधेरे में मैं लेटा हूँ। हवा धीमी है। श्रेष्ठिवास में जाग रहे होंगे मेरे पिता, पास में जागी होंगी माँ। विनत शीश द्वार से सिर लगाये बैठी होगी मेरे कक्ष में पज्जा अम्मा। यही सोचती होगी, आ जाये, शायद एक बार वह आ ही जाये···मेरा वत्स धन···मेरा वत्स धन···

नहीं। अब मैं नहीं लौटूँगा।

राच भाभियो ! तुम मेरे पीछे पतियों से कलह न करना। मैं तुम्हारे लिये भी कुछ नही कर सका। मेरे अग्रजो ! तुमने मुझसे घृणा किया। परन्तु अकारण ही तो। मैं तो तुम्हारा प्रतिस्पर्धी था ही कब ? लो ! अब रहो। सुख पाओ।

धरती बहुत बड़ी है। यह सब मेरी है। मैं इस पर घूमूँगा। सब कुछ देखूँगा। अब जब कि मेरा कुछ नही है, तब मैं बँधा क्यों रहूँ ?

प्रणाम ! मेरे अतीत ! मेरा प्रणाम ले। मनुष्य आते हैं, चले जाते हैं। वे जाते समय सबको हाथ जोड़कर जाते है। वह उनकी अन्तिम यात्रा होती है। लोग उनके लिये आँसू भर लाते हैं। पर वे भागकर नहीं जाते। वे जीवन का उत्सर्ग करते है। और मैं कायर हूँ। मैं इस जीवन को बचाने के लिये भाग रहा हूँ।

फिर भी मेरा प्रणाम स्वीकार करो।

ओ आकाश ! नीले विस्तार ! मैं तेरे नीचे आ गया हूँ। ओ धरती, देख मैं यहाँ हूँ ! मेरी साक्षी रहना तुम। मै तुममे से आया हूँ। तुममें ही लीन हो जाऊँगा।

प्रणाम·· मेरे प्रारम्भिक प्रणाम·· स्वीकार कर लो·· मुझे अभी चलना है···और आगे जाना है···आज जीवन के लिये मैने क्या सचमुच पलायन किया है, या, मेरा गमन दूसरों के लिये मार्ग का मोचन है·· यात्रा सदैव गति है, स्थिरता ही पथ का रोधक है·· मैं रुक नही रहा···चल रहा हूँ···चल रहा हूँ·····

२

कल तक सब कुछ था, और आज कुछ भी नहीं है। किन्तु क्या मुझे इसके लिये खेद करना चाहिये ? खेद तो अभाव का पर्याय है। मनुष्य कुछ चाहता है और पा नहीं सकता, तब उसे एक ग्लानि होने लगती है। यह ग्लानि होती है उसे, क्योंकि वह अपने समग्र रूप को तुलनात्मक बनाकर देखता है। इस संसार में मनुष्य सदैव दूसरों को देखकर अपना आदर्श बनाता है। उन्हीं को देखकर कहता है कि मैं अच्छा हूँ, या बुरा हूँ। जो व्यक्ति इस तुलनात्मक कचोट से ऊपर उठकर संतोष पा जाता है, वह कभी भटकता नहीं। हो सकता है कि कोई मुझे पलायनवादी समझे, परन्तु सोचकर देखने पर स्पष्ट हो जायेगा। यह ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य और सब कुछ का विकास मानवों की ही पारस्परिक प्रतियोगिता का रूप है। इससे मनुष्य के अतिरिक्त किसीका कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। ध्यान से सोचकर देखता हूँ तो पाता हूँ कि यह प्रतियोगिता ही यश के मूल में है और इसलिये इसे अधम ही कहूँ तो क्या इसमें मैं दोषी हूँ ?

कहाँ चलूँ मैं ?

अपने इस अप्रतियोगितापूर्ण जीवन में क्या वासना का अवशेष हो चुका है ? वासना मन में रहती है और जन्म उसका होता है बाहर की वस्तुओं के सम्बन्ध से। इसका अर्थ तो यह है कि यदि व्यक्ति एकान्त में चला जाये तो उसे कुछ भी नहीं है। नहीं। मैं समझ रहा हूँ कि स्मृति व्याकुल करती है। व्याकुल करती है उनके लिये, जिनकी वास्तविकता हम जानते हैं; हम जानते हैं कि वे हमें प्यार नहीं करते ! कौन कहता है कि प्यार आकांक्षा से प्राप्त

होता है। वह सम्बन्धों की ऊष्मा है जो अपने आप पैदा हो जाती है। तो क्या मैं ऐसी ही ऊष्मा को छोड़कर चला आया हूँ? उस दिन घर छोड़ा था, सोचकर कि अब मैं शान्ति पा गया हूँ। किन्तु नहीं। शान्ति कहाँ थी उस जीवन में? यह त्याग का बहाना एक छल ही तो है! नहीं धनकुमार! संसार यात्रा ही नहीं है, वह 'रहना' है। फिर कहाँ? क्या 'रहना' भी यात्रा है? और अब वह सब मुझे याद क्यों आ रहा है?

भोर हो गई थी। तब पेड़ के नीचे मैंने आँखें खोली थीं। तब मुझे आश्चर्य हुआ था कि मैं कितनी गहरी नींद सोया था। थक गया था न चलते-चलते। तो यह असल में देह का ही खेल है। आत्मा तो सबमें एक जैसी ही है। जब माटी पुरुष का रूप धारण करती है, तब उसका आचरण और हो जाता है, और जब वह माटी स्त्री का रूप धारण कर लेती है, तब उसका आचरण कुछ और हो जाता है। तभी मुनि कहते थे कि मनुष्य इस पृथ्वी पर नंगा आता है, तभी वह उस समय निरावरण होता है। कहते हैं नंगा आदमी बड़ा ऊँचा होता है। पहले सब नंगे थे, तब पाप नहीं था। जब कपड़े पहने तब से मनुष्य अपने को छिपाने लगा। और उससे पैदा हुआ पाप। फिर से नंगा होने का अर्थ है अपने ऊपर से हज़ारों बरसों के पाप को उतार फेंकना। यह क्या सहज है!

और तब मुझे सूर्य की ओर देखना अच्छा लगा था। तब मैंने देखा कि इस सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर सब कुछ नंगा था। केवल मनुष्य ने अपना नंगापन छिपाकर अपने को पाप में डाल लिया था। मैं उठ खड़ा हुआ था।

मुझे याद है वह सातवें दिन की बात थी। चलते रहने का गौरव मनुष्य ही जानता है। लेकिन चलते रहकर थकने पर ही मनुष्य बस गया है। उसे रुकने पर चलना अच्छा लगता है, और चलते रहने पर रुकना। पहली बार मैंने घर छोड़ा था, तब चलने की लालसा थी। वह लालसा समाप्त हुई जाकर रुकने में और आज उस रुकने का अन्त हुआ है फिर चल निकलने में।

रुककर मुझे लगा था, मैंने भूल की। अपना ही नहीं, मुझे दूसरों का भी दुख रुलाने लगा था और आज की ही भाँति जब मैं उस दिन चला था तब भी मुझे दूसरों के दुख ने बताया था कि रोना शाश्वत है। यह सदैव रहा है और शायद सदैव चलता चला जायेगा।

किसीकी आँख न पड़ जाये इसलिये मैं प्रायः ऐसे रास्ते पकड़ता था जो बिल्कुल निर्जन होते थे। उधर भय नहीं लगता था मुझे। थककर मैं पेड़ के नीचे लेट गया था। और तब मैंने सोचा था और अपने आपसे कहा था कि धनकुमार ! क्या तू हिंस्र पशुओं से नहीं डरता ?

और सचमुच मुझे दूर एक गीदड़ दिखाई दिया, और तब मुझे लगा कि कहीं सिंह भी पास ही न हो, क्योंकि कहानियाँ बचपन में सुनाई गई थीं मुझे, जिनमें सिंह और सियार मित्र होते थे। और यह कल्पना बड़ी कर्कश थी, एक कठोर ध्वनि जैसी। मैं विजन में एक हिंस्र सिंह का भोजन बनूँ ? और यह गीदड़ तब दाँत निपोरकर जूठन के रूप में मुझे खाये !

भूख कितनी भयानक वस्तु है, यह मुझे तभी ज्ञात हुआ था। इतने दिन से जंगली कंद-मूल-फल खाते निकले थे। उससे पेट नहीं भरता। बचपन से अन्न हमारे जीवन का आधार बनता है। और वही अन्त तक बना रहता है। अन्न में भी विशेषता है कि जिस तरह से पका हुआ खाने की आदत शुरू में हमें डाली जाती है, वही खाने से आगे भी तृप्ति मिलती है। उसे न खाने वालों को हम अपना नहीं मानते, उन्हें सुसंस्कृत नहीं मानते। यह भी कैसी विचित्रता है ! अपने इतने दिनों के अनुभव में मैंने यह सीखा है। मैं अब बहुत तरह के लोगों को जानता हूँ। अब मैंने वैष्णव भी देखे हैं। यह हम जिन-मतानुयायियों का ही प्रभाव है कि मैंने वैदिक मार्ग मानने वाले ब्राह्मणों को भी मांस छोड़ने की ओर प्रवृत्त देखा है। हम मनुष्य को सुसंस्कृत बना रहे हैं। परन्तु यह दम्भ ही है। बिना मांस खाये क्या मनुष्य हिंस्र नहीं होता ? और क्योंकि मुझे अभी भूख तेजी से नहीं लग रही है, मुझे उस दिन की भूख की तीव्रता भी उतनी याद नहीं रही है; क्योंकि भूख के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उसका अनुभव ही हो सकता है। वह अनुभव, जिसमें मनुष्य की आँतें सारी सृष्टि को देखकर कहती है कि आ हममें समा जा। केवल याद रहता है अपनापन। सिर्फ़ 'मैं'। और तब मैंने खाई थीं जंगली झाड़ियों के मीठे-खट्टे फलों की दो मुट्ठियाँ। चैन पड़ गया था।

चलते-चलते मैं एक खेत की मेंढ पर पहुँचकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। भोर की शीतल बेला अब अपने पंख खोलने लगी थी।

मैं देखने लगा। मैंने देखा था कि नगर का प्रभात और होता है और

निर्जन मैदान में आकाश में दूसरी ही तरह का प्रभात होता है। नगर में सूर्य झाँकता है, विजन विस्तार में प्रभात ऐसे खुलता है जैसे रेशमी कपड़े का कोई थान। और मैं सोचने लगा कि यह जंगली फल अगर मैं इस समय नहीं पाता तो ? अचानक मुझमें एक कौंध-सी व्याप गई। तो भूख के कारण मनुष्य समाज बनाता है। जीव जीव को खाता है। अन्यथा इस सृष्टि में कुछ है ही नहीं। निष्प्राण से प्राण का पोषण नहीं होता। स्थावर और जंगम दो हैं। हम जंगम को नहीं खाते, स्थावर को खाते हैं। खाते हैं प्राण को ही। यह ऐसी विचित्र अनुभूति थी कि मुझे अपने मानव-जीवन की एक नयी विवशता का अनुभव हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। तो क्या स्थावर प्राण को खाना जीव-हत्या नहीं है ? मैं जितना सोचता था, उतना ही घबराता जाता था।

दुपहर हो गई। धूप ऊपर चढ़ने लगी थी। मेरे पीछे आहट-सी सुनाई दी। मैंने मुड़कर देखा तो पता चला कि कोई किसान था। शायद वह सुबह ही से जुताई कर रहा था। लेकिन मैं अपने ध्यान में ऐसा डूबा रहा कि उसकी उपस्थिति भी नहीं जान सका। फिर इधर ही मेरी पीठ भी थी। तभी ऐसा हुआ, सोचकर मैंने अपने मन को आश्वासन दिया।

किसान ने बैल एक ओर रोक दिये। खोले नहीं। फिर नीचे से उठाकर उष्णीश अपने सिर पर रखा और बैलों को पुचकारा।

उस समय मैं डौरी से उतरकर नीचे बैठ गया और मैंने अपनी पीठ उससे टेक दी। पेड़ की छाया उस धूप में कितनी सुहावनी लग रही थी।

किसान कुछ सोच रहा था शायद। परन्तु निर्णय नहीं कर पा रहा था। फिर उसने मुझे दूर ही से प्रणाम किया। मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया और मुस्कराया।

मुस्कराहट एक बहुत बड़ी चीज़ होती है। वह भी मुस्कराया। परन्तु उसकी मुस्कराहट नगर की मुस्कराहट से भिन्न थी। व्यापारियों की पैनी मुस्कराहट की कृत्रिमता मैं जानता था। उसे देखकर मुझे घृणा होती थी, क्योंकि वह कुटिल होती थी।

वह मेरे पास आ गया। उसका उष्णीश मैला-सा था, कभी वह सफेद रहा होगा। घुटने तक धोती थी। देह नंगी थी। धूप ने उसे काला कर दिया था। पाँवों पर मिट्टी चढ़ी हुई थी और एड़ियाँ फटी-फटी-सी थीं।

उसकी आँखें पतली और लम्बी थीं। होगा कोई पचास एक वर्ष का, क्योंकि उसकी मूँछों के बालों में सफेद डोरियाँ थीं और देखकर वह अनगढ़ लगता था। मैंने मन ही मन उसकी, अपने घर के दासों से तुलना की, तो बहुत बड़ा भेद पाया। उतना ही भेद जो जंगल और उपवन के पेड़ में होता है।

'कौन हो तुम!' उसने मुझे घूरते हुए कहा। उसके मुख पर विस्मय भी था और कौतूहल भी।

मैंने उसकी दृष्टि में सरलता भी पाई और यह भी अनुभव किया कि वह अपने को चतुर समझता था।

'पथिक हूँ।' मैंने कहा : 'घूमता हुआ निकल पड़ा, इधर आ गया।'

क्योंकि कई ऊँचे घराने के लोग घर छोड़कर मुनि हो जाते थे, उसके लिये यह ऐसी आश्चर्य की बात नहीं थी।

'किसी ऊँचे घर के हो' उसने कहा : 'कपड़े मैले हो जाने पर भी बात तो नहीं छिपती।' फिर स्वर बदलकर कहा : 'सुखी कोई नहीं है! और भी मैंने देखे हैं। मुनि हो जाते हैं युवक! ऊँचे घरानों के। धनधान्य छोड़कर। क्या कारण है जो ऐसा वैराग्य हो जाता है? मेरी तो समझ में नहीं आता।'

मैंने कहा : 'मैं मुनि होने नहीं निकला हूँ।'

'तो क्या केवल घूमने निकले हो?'

'हाँ।'

'दास-सेवक कोई नहीं?'

'मैं तो गरीब आदमी हूँ।'

वह हँसा। कहा : 'इतनी उमर गई है तो क्या यह भी नहीं समझ सकता।' वह फिर हँसा जैसे अबकी बार उसने विधाता से कुछ बात कर डाली हो।

तब खाने की पोटली ले आया और मेरे सामने बैठ गया। उसने कहा : 'मैं जब खाता हूँ तब साथ कोई हो, तो उसे भी खिला लेता हूँ। वह नहीं खाता तो मैं भी नहीं खाता। जानते हो, उससे क्या होता है?' उसने आँखें फाड़कर कहा : 'ग्रामदेवता प्रसन्न होता है और खेत में अधिक अन्न उगने लगता है, पहले से बढ़कर। अरे पानी तो ले आऊँ!' उसने अपनी बात को झटके से तोड़ दिया। कैसी नयी बात थी। खिलाते रहने से ही धरती अन्न देती है। संचय

और संग्रह से धरती अन्न कम उगलती है। और यह अनुभव भी मुझसे पुराना था !

वह उठ खड़ा हुआ और चला गया। मैं वहीं बैठा था। उसकी रोटियाँ मेरे सामने खुली रखी थीं। वह उन्हें मेरे सामने रख गया था, मेरी हिफ़ाज़त में छोड़ गया था। खेत में काम करता है। रोटी खाता है। फिर अन्न उगाता है और फिर रोटी आती है। यों ही निरन्तर क्रम चलता है। हम नगरों में रहते हैं। धनधान्य कोठरों में भरते हैं। यह भी भरता है। यहाँ से ही संस्कृति का प्रारम्भ होता है, परन्तु यह तो इसे नहीं जानता।

जब वह लौटा उसके हाथ में एक मिट्टी का पात्र था, पानी से भरा हुआ।

'यह कहाँ से ले आये ?'

'उस छोंकरे के पेड़ के नीचे रखा रहता है।'

'कोई ले नहीं जाता ?'

वह हँस पड़ा। उसने खाना खोला। पत्तों पर रोटी बाँटकर कहा : 'पथिक, आओ।'

'नहीं तुम ही खाओ !'

'क्यों ?'

'ठीक है।' मैंने सिर हिलाकर कहा : 'तुम थक गये होगे। रोटियाँ भी कम हैं।'

'कम !' वह बोला : 'खा लोगे एक पूरी ?'

मैं आश्चर्य में रहा।

दारिद्र्य में भी उसमें एक गर्व था। अपने अनगढ़ और मोटे-झोटेपन का भी आदमी को एक घमंड होता है।

इसमें भी अतिथि-सत्कार की भावना है। सुना था कि किसी समय यह किसान सिर्फ़ रोटी खाते थे और हल चलाते थे। परन्तु अब वे दास नहीं थे। उनके अपने घर होते थे। उनके पास गायें-भैंसें होती थीं। छोटे घरों में बर्तन भी होते थे। उनके यहाँ मुनि जाते थे, भिक्षा पाते थे। कुछ लोग कहते थे कि गाँव के लोग छल-कपट नहीं जानते, सीधे-सादे होते थे। परन्तु कुछ कहते थे कि वे चालाक होते थे। संस्कार की बातें मैं यहाँ नहीं सोच पाया। मुझे लगा यह किसान संतुष्ट था। उसने मेरी ओर देखा और कहा : 'तुम नहीं खाओगे तो

यह धरती फिर अन्न नहीं देगी। कहते हैं, जब धरती का अन्न सबको नहीं मिलता तब वह रूठकर बंजर हो जाया करती है और आकाश भी पानी नहीं बरसाता।'

हमारी मान्यता ही हमारे सत्य का आधार है, यह तभी मैं जान सका। उसने फिर कहा : 'पहले मेरे बाबा कहा करते थे कि राजा मनमानी नाज लेते थे, धरती के मालिक सब छीन लेते थे, किसान भूखा मरता था, दासों की तरह बिकता था, तब धरती रूठ गई थी। लोग खेती करते नहीं थे। तब हर क्षत्रिय शासन करता था। फिर एक क्षत्रिय उठा। उसने धर्म की स्थापना की और शांति छा गई।' मैं सोचने लगा, वह कहता गया : 'तब धरती माता ने अन्न दिया। भटकता जोता ठहर गया। और तब से अन्न सब बाँटकर खाते हैं। राजा छठा भाग लेता है। भूस्वामी भी अधिक नहीं लेता। तब हमारे पूर्वज उस बचे माल को पशुओं को खिलाने लगे। वे पुष्ट हुए। उन्होंने हल उठाये। तब अन्न पैदा होने लगा। यह दरिद्र माटी हरी होने लगी। तब पक्षी आने लगे। हमने उन्हें भी भाग दिया। तब मुनि आये और हमने उन्हें कटाई के बाद गिरे अन्न को समेट लेने दिया। यह धरती हँसती है जब पेट भरता है। हमारा पेट भरा है, तभी दूसरों का भी पेट भरा है। जानते हो। श्रम से अन्न उगता है ऐसा नहीं है। भाग्य से उगता है। बादल कोई अपने आप नहीं ला सकता। पाप बढ़ जाते हैं तब सूखा पड़ता है, पुण्य रहता है तब समय पर जल बरसता है। राजा जैसा होता है, वैसी ही प्रजा होती है। और सबसे बलवान होता है समय ! फिर मैं क्यों पाप का बीज डालूँ ! मेरे द्वार पर पथिक आया है। वह अतिथि है। किसान आते-जाते को देता रहे तो लोग उससे खुश रहते हैं। नहीं तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। और क्रोध से बड़े लोग नाश कर देते हैं। अतः तुम जो बड़े घराने को हो, मुझे निराश न करो।'

मैंने कहा : 'नहीं, मैं नहीं खाऊँगा।'

'क्यों ?'

'क्योंकि मुझे खाने का अधिकार नहीं है।'

'खाने का अधिकार ! क्यों नहीं है ?'

मैंने कहा : 'देखो भाई ! मनुष्य को पशु-पक्षियों का-सा आराम नहीं है। उनको भी पुरुषार्थ करना पड़ता है तब भोजन मिलता है, किन्तु मनुष्य को

उनकी तुलना में कहीं अधिक उद्योग करना पड़ता है।'

वह मेरी ओर आश्चर्य से देखकर बोला : 'पथिक तुम अजीब हो !'

मैंने कहा : 'मेरी बात तो सुनो ! उद्योग से ही पेट भरता है। जब एक व्यक्ति उद्योग करता है और बाकी लोग खाते हैं, तब ईर्ष्या जन्म लेती है।'

'भेड़ पर ऊन कोई नहीं छोड़ता', उसने हँसकर कहा : 'वह स्वर्ग इस धरती पर कहाँ ? कोई कम लेता है, कोई ज्यादा !'

'ऐसा न कहो,' मैने कहा : 'जो तुमसे लेता है, वह तुम्हें कुछ देता भी है।'

मेरे लिये ग्रामीण का वह नया अनुभव था, अतः मैने बात को सरल करके कहा : 'तुम्हारे पूर्वजों ने राजा को कर दिया, क्योंकि वह तुम्हें शत्रु से बचाता था।' परन्तु मुझे ईर्ष्या वाली बात याद आ रही थी, न जाने क्यों मुझे अपने भाइयों का स्मरण आ रहा था। मै उस बात को कह नहो सका। किसान मेरी ओर देख रहा था।

'अच्छा गरीब जानकर नही खाते भद्दक की रोटी !' उसने कहा। तब मैने जाना कि उसका नाम भद्दक था। फिर उसने कहा : 'देखो अतिथि ! रोटी न गरीब है, न धनी। यह मनुष्य के लिये एक-सी है। चोरी की रोटी बुरी है, यह मेरा बाप मुझसे कहता था। मैने चोरी नही की, फिर इसे बुरा क्यों मानते हो ?'

यह सुनकर मै लाचार हो गया। मैने कहा : 'तुम मेरा मतलब नहीं समझ रहे हो।'

उसने मुझे आँखें उठाकर देखा। उस अनजान जगह भाइयों के मुफ़्त खाते रहने की आदत, फिर उससे पैदा होने वाली ईर्ष्या, घृणा, हिंसा का अचानक मुझे एक जवाब-सा सूझ गया।

'खा लूँगा, परन्तु' मैंने कहा : 'मुझे कुछ काम दो।'

'काम ?'

'हाँ काम !'

'मेहनत !'

'हाँ-हाँ।'

'इन्द्र !' वह आश्चर्य से बोला : 'तुम काम करोगे ?'

मैंने कहा : 'ज़रूर करूँगा।'

क्षणभर वह सोचता रहा, जस मरा शक्ति और सामर्थ्य का अनुमान लगा रहा था।

'हल चला लोगे !' उसने व्यंग्य से हँसकर कहा।

'चला लूँगा !'

'कभी चलाया है ?'

'हाँ, हमारा उपवन बहुत बड़ा था। कर्मान्त भी थे। शौकिया सीखा था।'

'हल चला सकते हो ?' उसने फिर पूछा।

मैंने कहा : 'ज़रूर !'

तब उसने मुझे सिड़ी समझा और वह मुझे समझाने लगा : 'हाँ, हाँ, ठीक है, पर मुनि हमसे भिक्षा लेते है। वह भी तो खाते हैं। तुम इन कोमल हाथों से हल चलाओगे। इतने बड़े आदमी होकर ! जन्म भाग्य से मिलता है। उसका सम्मान करो !'

मैंने कहा : 'मुनि आत्मा को पवित्र करते हुए लोक को उपदेश देते है। वे कभी शरीर के सुख की याचना नहीं करते। आँधी, पानी, और कड़ी धूप में वे घूमते है लोक को जगाते हुए। वे हल चलाने से भी बड़ा काम करते है।'

'तुम मुझे उपदेश दो ! यह क्या कम काम है ?'

'नहीं, नहीं, मेरी आत्मा में अभी इतना बल नही है।' कहते हुए मैंने उठकर हल पकड़ लिया।

हल मैंने चलाया था अवश्य, परन्तु यह एक दूसरा अनुभव था। उस समय शौकिया बात थी। हर क्षण साथ में दास रहते थे। दबाव कम होने पर वे तुरन्त सँभाल लेते थे। धूप तेज़ थी। मैं भूखा भी था। परन्तु अब पीछे लौटने का रास्ता नहीं था। यह अपने मुफ़्तखोर भाइयों के प्रति मेरी प्रतिहिंसा ही तो थी, किन्तु मेरे कार्य को वे देख ही कहाँ रहे थे ? और वह किसान देखता रहा। भद्दक ! उसे जीवन में एक नई बात दीख रही थी।

जब उधर देखा तो मैंने उसके मुख पर आश्चर्य तो देखा ही, सन्तोष और विनय भी देखा। मानो मैं उसकी दृष्टि में बहुत महान था।

'बस रहने दो। बदला दे दिया तुमने ! वह कौन पत्थर दिल माँ-बाप हैं जिन्होंने तुम जैसे कोमल और सुन्दर युवक को इस तरह छोड़ दिया है ! तुम्हारी आत्मा होगी। बड़े लाड़ों तुम पाले गये होगे। इन कोमल पाँवों से ऐसे कठिन

रास्तों से चल पड़े हो। रहने दो, तुम्हें सौगन्ध है। जिस दिन ऐसे लोग धरती पर हल चलाने लगेंगे, यह धरती क्या हमें शाप न दे देगी ! भाग्य ने हरिश्चन्द्र को चाण्डाल बनाया था।' यह कहते हुए उसने आँखें पोंछ लीं।

अचानक हल अटक गया।

'अब रहने दो।' उसने फिर कहा : 'यह काम हमारा है, हमारा विनाश न करो। बहुत हुआ। तुम थक गये होगे।'

हल का अटकना मुझे बुरा लगा। बैल आगे नहीं बढ़ पा रहे थे। मैंने उन्हें ललकारा। बैलों ने हल को खींचा। मैंने ज़ोर लगाया।

मुझे पसीना आ गया था। मैं तरबतर हो गया था। भद्दक के नयनों में अभी तक आँसू थे। वह कहने लगा : 'स्वामी ! रहने दो ! और परीक्षा मत लो।' मैंने फिर ज़ोर लगाया।

किसान बढ़कर पास आ गया, उसी समय आवाज़ आई—खन्न ! खन्न !

भद्दक आगे बढ़ा।

बैलों ने एक बार पूरा ज़ोर लगाया और हल निकल गया। कोई काली-सी वस्तु उछलकर बाहर गिर गई और उसमें से खननन करके कुछ चमकदार-सी मैली वस्तु बिखर गई। उसने देखा तो आश्चर्य से आँखें फट गईं और वह चिल्लाया : 'सोना !'

उसने उछलकर उसको छुआ और अपने हाथों में लेकर देखा। उसके नेत्रों को जैसे विश्वास नहीं हो रहा था। इतना सोना ! कभी नहीं देखा था उसने ! अंगूठे से दबा-दबाकर देखा। मैंने अनुभव किया कि हर्ष से उसका गला रुँध गया था। मैं स्तब्ध खड़ा सोचता रहा। उसने मुद्रा को दाँत से काटकर देखा।

मुद्राएँ मेरे सामने पड़ी थीं। 'देखते हो', उसने कहा : 'इन पर किसी नाग की शकल बनी है। किसी नाग का धन है।'

नाग का धन ! मैंने सोचा। कभी शायद यहाँ नाग रहते होंगे। कहाँ गये वे नाग ! कहाँ गया वह व्यक्ति, जिसने यह धन गाड़ा था ! कहते हैं, किसी समय इधर कृतवीर्य राज्य करता था जिसने कर्कोटक नाग को पराजित किया था। सैकड़ों-हज़ारों वर्ष पहले। कौन जानता है कब ! तब से यह सोना यहाँ पड़ा है। मुद्राएँ हैं। परन्तु अनगढ़। इन पर कुछ लिखा नहीं है। मुझे लगा सब

कुछ घूम रहा था। भूख के मारे कलेजा मुंह को आ रहा था। मन कहा : 'भूख लग रही है।' उसने मुझे देखा। फिर मैंने कहा : 'चलो भोजन करें।'

हम दोनों खाने बैठ गये।

किसान के सामने रोटी थी। मेरे भी। अलग-अलग पत्तों पर। एक-एक मिर्च। खेत का मामला था। यहाँ छाछ नहीं थी, न लौनी। उसीने बताया कि उसकी स्त्री बीमार थी। बड़ी लड़की छोटे बच्चों की देखभाल करती थी, इसीसे रोटी लेकर आ नहीं पाती थी। फिर ऐसा भी कहते थे लोग कि एक लकड़-बग्घा आ गया था। तभी वह स्वयं रोटी ले आता था। उसके बगल में एक कपड़ा था। कौन-सा कपड़ा ? उसका उष्णीश, जिसमें वह सोना बँधा था।

वह मुझे बार-बार देखता था। उसके नयनों में कभी उल्लास की चमक आती, कभी गंभीर कालिमा बनकर भय और आतंक छा जाता। जैसे वह जल्दी-जल्दी कुछ सोच रहा था। और मैंने देखा कि सोना क्या होता है ! एक क्षण मुझे लगा कि मेरे जीवन की समस्या सुलझ गई थी। अब मुझे किसकी चिन्ता है। मेरे पास सुवर्ण है। अब मेरे पास शक्ति है। तभी मेरा ध्यान टूट गया। भद्दक बड़बड़ाने लगा। हाथ में रोटी लिये वह कहने लगा : 'जानते हो ! यह खेत मेरे बाप के पास था ! मेरे बाप के बाप के पास था। उसके भी बाप ने इसे जोता था। उसका बाप यहाँ दास था। फिर यह खेत हमारा हो गया। अब मेरा बेटा इसे जोतेगा। फिर बेटे का बेटा जोतेगा। लेकिन कभी भी इसमें हल की नोक लगने से सोना नहीं निकला। हमारे हल से इसमें से अन्न उगता था। उसे बदले में देकर हम चाँदी पाते थे। लेकिन कभी सोना नहीं निकला। तुम्हारे हल चलाने के पहले ही तो मैंने उसी जगह से हल चलाया था। तब भी सोना नहीं निकला। और इतना सोना ! जिससे पक्का घर बना सकता हूँ। बैलों की दस जोड़ी ले सकता हूँ। आभूषण बना सकता हूँ। इतना सोना ! सोना धरती में इतना भी है अतिथि ! सच बताओ !' उसका स्वर बदल गया : 'तुम कौन हो ! तुम विद्याधर हो कि देवता ! तुम मनुष्य का रूप धारण करके मुझे यह सब देने आये थे ?'

मैंने उसका आवेश और आतंक देखा। तब धीरे से कहा : 'मैं न विद्याधर हूँ, न देवता। जैसे तुम मनुष्य हो, वैसा ही मैं भी मनुष्य हूँ। भूख और प्यास मुझे भी लगती है। मैं भी तुम जैसा ही हूँ।' वह सुनता रहा। और तब स्वर

दबाकर मैंने कहा : 'तुम्हारी ही तरह सोना मुझे भी चाहिये मैं भी इस समय व्याकुल हूँ।'

और तब मैं फिर खाने लगा।

कितना स्वादिष्ट भोजन था वह ! मैंने अनुभव किया कि श्रम भूख लगाता है और अपने श्रम की रोटी का स्वाद कुछ और ही होता है। तभी, मैंने सोचा कि बंदर रोटी इतना अधिक क्यों चाहता है। क्योंकि मनुष्य के जाल में से वह रोटी निकाल पाता है।

तब भद्दक के मुख पर निराशा खेलने लगी : 'तो तुम भी मनुष्य हो ! मनुष्य ! भूख-प्यास ! मुझ जैसे ! धन तुम्हें भी चाहिये ! व्याकुल हो।' हठात् उसने स्वर उठाकर कहा : 'तो क्या तुम यह सब ले लोगे ? मुझे कुछ भी नहीं दोगे ?'

एक क्षण असंख्य बिजलियाँ कौंध गई मेरे सामने। मैं ले लूँगा ! क्या यह सब मेरा है। और तब मुझे याद आई मेरी पद्मा अम्मा ! उसे भी ऐसी ही धन मिला था। मैं चिल्ला उठा : 'नहीं, नहीं ! मैं नहीं लूँगा, यह तुम्हारा है भद्दक ! यह तुम्हारी धरती से निकला है !'

मैं उठने लगा तो उसने कहा : 'मेरी धरती !'

और मैंने उसके स्वर में नयी तरलता पाई। वह रोने लगा।

'तुम मनुष्य नहीं हो ! तुम मेरी परीक्षा लेते हो।'

मैं देखने लगा। यह रोता क्यों है ! शायद वह इतने अधिक भावावेश में था कि अपने को सँभाल नहीं सका था। मैंने रोका : 'भद्दक ! यह सब तेरा है।'

'मेरा है ?'

'हाँ, यह तेरी धरती है।'

'मेरी धरती !!! मेरी धरती तो यह चार पीढ़ी से है अतिथि ! पर तब तो कभी नहीं मिला कुछ। यह सब तेरा है अतिथि ! तूने इसे पाया है।'

मुझे अपने पिता की याद हो आई। मैंने कहा : 'भद्दक ! यह किसीका नहीं। जिसने गाड़ा था, यह उसीका नहीं हुआ। फिर मेरा यह क्यों होने लगा !'

उस क्षण भद्दक के नयनों में एक विचित्र-सी घृणा दिखाई दी।

का नहीं हुआ, तो यह किसीका नहीं होगा।

'और', मैंने कहा : 'न जाने इस पर किसके मोह का संस्कार अभी तक अटका होगा। किसका हाहाकार होगा इस पर जो मुझ पर छायेगा, मेरे कर्मों पर, मेरे जन्मान्तर तक, और तब मैं इसका दास बन जाऊँगा। मैं श्रम से अपना लूँगा। पुरुषार्थ से भाग्य के प्रलोभनों से लड़ूँगा।'

मैं आगे बढ़ चला। मैं उस सबको छोड़ देना चाहता था। वह कितना कठिन काम था। एक मन कहता था—ले ले। विदेश में काम देगा। परन्तु मैंने देखा था कि मेरे मनुष्य होने का नाम सुनकर ही भद्दक में स्वार्थ और हिंसा जागी थी कि कहीं मैं न ले लूँ। परन्तु जब मैंने नहीं लिया तो वह स्वयं एक हलचल में पड़ गया था। मैं दूर हो चला। पीछे से आवाज़ आई। दौड़कर आती आकृति को मैंने पहचाना। वही भद्दक !

उसने आकर मेरे चरण पकड़ लिये। वह रो रहा था।

'क्या है भद्दक !'

'स्वामी ! मुझे छोड़कर जा रहे हो ?' उसने भर्राये स्वर से कहा : 'अपना सब अपने साथ ले जाओ। वह धन लेने से मेरे बच्चों का अनिष्ट हो जायेगा स्वामी ! सच कहता हूँ न ? नहीं, नहीं, यह सब मेरा नहीं है। मेरा होता तो कभी का मिल गया होता। मुझे तो खेती करनी है। हल चलाना है। देखो ! हल पकड़ने से मेरी हाथ की रेखाएँ ही मिट गई हैं। तीन हैं बाकी। ज्योतिषी कहते थे : 'इतने दिन रहेगा, इतने दिन खायेगा, इतने दिन जियेगा, हृदय साफ़ रख ! बस।—मेरे जीवन में और कुछ है ही नहीं। पीढ़ी दर पीढ़ी हम खेत में काम करते आये हैं। मुझे इस विपत्ति में छोड़कर मत जाओ। मुझे पाप में मत छोड़ो। स्वामी ! उसे ले जाओ। उसमें से ऐसी गर्मी निकलती है कि मैं सह नहीं पाता। इतना धन सहने को कुल चाहिये, मर्यादा चाहिये, सामर्थ्य चाहिये। मुझमें यह सब कहाँ है ? उसे देखता हूँ तो मेरा सिर घूमने लगता है, मुझे लगता है मैं पागल हो जाऊँगा। मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ स्वामी ! मुझे बचा लो। मेरे अन्न का ऋण चुका दो, इसे ले जाओ। मैं ऋण नहीं मानता, पर भाग्य देवता तो मानता ही है···

मैंने उसे देखा और देखता रहा। उसके नेत्रों में कैसी पवित्रता थी, जैसे

वह मुझसे पुण्य माँग रहा था, और ऐसी विवशता में था कि यदि मैं उसे नहीं बचाऊँगा तो वह निश्चय पाप में फँस जायेगा। लोभ से लड़ते हुए आदमी को मैंने देखा और अनुभव किया कि सोने में कितनी बड़ी ताक़त होती है। अनुभव किया क्योंकि मैं स्वयं लड़ रहा था उस लोभ से। एक क्षण जब मेरे पास कुछ नहीं था, तब उसने मुझसे सामने आकर कहा था : मुझे देखो। मुझे ले लो। —मैं चला जाता परन्तु उसने मुझे रोककर कहा था—मुझे पहचानो, भूल मत करो।—और वहाँ मैंने देखा था, मनुष्यों के बीच की शक्ति का माध्यम ! सुवर्ण। इसमें जान नहीं। बोलता नहीं। लेकिन मैं हूँ मनुष्य ! आकाश और पृथ्वी के बीच चेतना का पुञ्ज। और मैं इसे देखकर काँप रहा हूँ। ऐसी है इस सोने की शक्ति। मैं आँखों से देखता हूँ, पर यह मुझे अन्धा किये दे रहा है। और इसकी ताकत का नमूना मैंने देखा है कि भद्दक ने जब जाना कि मैं मनुष्य हूँ, मैं भी सोने को चाह सकता हूँ, तब उसकी आँखों में एक भयानक हिंसा चमक उठी। मुझे नहीं मालूम फिर क्या हुआ होता यदि मैं अडिग रहता। नहीं। मैं मृत्यु के भय से नहीं डरा। मैं डरा उस चीज़ की भयानक ताक़त से, जिसने भद्दक को पशु बना दिया होता ! सोना ! इतना घृणित ! भविष्य का निर्माण इस सुवर्ण से होगा कि आत्मा से ! कहाँ है वह नाग जिसने इसे गाड़ा। आत्मा कहाँ ले जा सकी इसे अपने साथ। ले गई आत्मा केवल कर्म ! और भद्दक है यहाँ। गाँवों में मैंने देखा है दारिद्रय। परन्तु सन्तोष, क्योंकि जीवन एक नहीं है, एक परम्परा है।

'भद्दक !' मैंने कहा : 'धन पाप है !'

'पाप !' वह चिल्ला उठा। और मैंने देखा कि मैं ही नहीं लड़ रहा था। मेरा युद्ध देखकर भद्दक भी लड़ रहा था। सोच रहा था। वह कौन-सा महान् अन्त है जिसके लिये यह अतिथि इस सुख को छोड रहा है। निस्सन्देह वह और बड़ा होगा। उसने कहा : 'तू मुझे धोखा नहीं दे सकता अतिथि ! तू उस बड़े सुख को लेने के लिये यह सुख भी छोड़ रहा है ! तो वह सुख कितना बड़ा होगा। वह सुख तू मुझे क्यों नहीं बताता। आप जा रहा है उसे लेने ! और मैं ऐसा हूँ कि मुझे इसमें फँसाये जा रहा है। तू भी इससे हिल उठा था। मगर ज़रूर तू कुछ और जानता है जो देखकर भी हट गया। मुझे भी वही दे ! वही दे दे मुझे, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा। मैं पागल हो जाऊँगा !'

कहा : 'भद्दक ! वह प्राप्ति मैं तुझे दे नहीं सकता। वह तुझे आप पानी होगी।'

'मुझे बता अतिथि ! मैं उसे पाने का यत्न करूँगा।'

'तो अपने कर्म अच्छे कर। देख, यह कितनी भयानक चीज़ है। जिस क्षण तक तू समझता था कि मैं इसे लूँगा तो ऐसा हो उठा था जैसे मुझे मार डालेगा, पर जब मैं छोड़ चला तो तू भी घबरा उठा। तूने समझा कि इससे भी ऊपर कुछ और है। भद्दक ! जब मैंने इसे छोड़ा तब तू मुझे प्यार करने लगा। जब मैं इसे लेना चाहता था, तू मुझे पशु समझता था और पशु बनने लगा था, पर जब मैं इसे नहीं चाहता, तू मुझे देवता समझता है, तू मुझे प्यार करता है। समझा भद्दक ! मनुष्य को मनुष्य से घृणा कराने वाला यह भयानक पिशाच है। यह 'मार' है।* यह मनुष्य के देवत्व का शत्रु है। समझ गया है भद्दक !'

भद्दक ने मेरा पाँव छोड़ दिया और वह घुटनों पर सिर रखकर बैठ गया। और सोचने लगा। धूप पड़ रही थी।

'तो', वह बोला : 'मैं क्या करूँ अतिथि !'

और तब जैसे उसने निर्णय कर लिया। वह उठा और दोनों हाथ मुँह पर लगाकर चिल्लाया : 'सुवीर ! माधव ! राम ! सिन्धु !!'

उसकी आवाज ऐसी घहरती हुई उठी कि हो-हो-हो-हो की ध्वनि सुनाई दी। मैं समझ भी नहीं पाया कि खेतों से लाठियाँ ले-लेकर भागते लोग आने लगे। मुझे लगा कि यह भद्दक की चाल थी। मामले को खत्म करने को अब इसने गाँव वालों को बुलाया है, जो मुझे मार डालेंगे। मैं भागा पर उसने मुझे पकड़ लिया। देखते ही देखते गाँव वाले आ गये।

'क्या हुआ भद्दक !'

'बताता हूँ ! इसे पकड़ो !'

उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मैं चिल्लाया : 'छोड़ दो मुझे। मैंने कुछ नहीं किया।'

---

* पाप—वासना का प्रतीक; कामदेव का बुरा स्वरूप।

भद्दक ने हँसकर कहा : 'तूने कुछ नहीं किया ? रोटी तुझे खिलाई तो यह बदला दिया ? देवता ! तू मुझे ठग रहा है ! ले जा अपना धन ! ले जा !'

सोना ! देखकर गाँव वालों के नेत्र फट गये। वे मेरे चरणों पर लेट गये और मेरे देखते ही देखते भीड़ इकट्ठी हो गई। स्त्रियों ने सोना देखा तो हूह मच गई। एक बच्चे ने उठा लिया एक मुद्रा को तो भद्दक चिल्लाया : 'पटक दे ! पटक दे !'

बच्चे ने भयभीत होकर ऐसे पटक दिया जैसे अंगारा छू गया हो। स्त्रियो ने मुझे दण्डवत् प्रणाम किया। एक वृद्धा ने कहा : 'कितना सुन्दर है ! बिल्कुल हिरन की-सी आँखें है।' मुझे पसीना आ गया। वे घघरियाँ पहने थीं। स्तनों पर मोटे कपड़े के पट्ट थे। सिर पर ओढ़नी थी, पीछे लटकी। माथों पर बोरले चमक रहे थे। और केश ऊपर गूँथ कर बँधे थे। कुहनियों तक चूड़े थे। पुरुष, एक धोती, एक उपणीश। बच्चे एक छोटी धोती, जांघों तक की। वही लड़के, वही लड़कियाँ पहने थी।

भद्दक ने कहा : 'देखते हो ! कभी सुना है कि बड़े कुल का लड़का कहे कि मैं मेहनत करके खाऊँगा ? इसने हल चलाया। यह निकला। कभी निकला था, ऐसे धन मेरे खेत से। तुम्हारे खेतों में निकलता है ? बताओ किसका है यह ? इसीका न ? पर कहता है, मैं नहीं लेता। मैं ले लूँ ? खुद तो कहता है मेहनत करके खाऊँगा। मुझे कहता है तू ले ले। खुद क्यों नहीं लेता ! कहता है अगला जनम बिगड़ेगा। मेरा नही है जनम ? यह मेरी आत्मा पूर्वजन्म के फल से तो किसान की देह में है, अब पाप किया तो मै सुअर बनूंगा, मल के बीच का कीड़ा बनूंगा।'

उसके यह शब्द सुनकर सब पर, मुझ पर एक आतंक छा गया। नरक ! यातना ! भयानक !

एक वृद्धा आगे आई।

'आजी !' उस समय भद्दक ने कहा : 'तू कहती थी कि लोक का पाप एक झेलता है।'

'हाँ बेटा !' वृद्धा ने कहा : 'एक ही झेलता है। राजा ! राजा को एक बार नरक जाना ही पड़ता है। राजा ही इसे झेलेगा। राजा या लोक, इन दोनों में से एक झेलता है। यह धन राजा का है क्योंकि धरती का मालिक तो

जो उगाते है, उसका वह हमसे भाग लेता है। भीतर की धरती हमारी नहीं, ऊपर की है, जैसे पेड़ हमारे है, राजा के नहीं। राजा की सीताभूमि* अपनी है, वैसे हमारी जोती भी अपनी है। धरती सबकी है, अकेले राजा की नहीं, वह सबको बेच नहीं सकता, कर लेने का अधिकार दूसरे को दे सकता है, पर हमें नहीं हटा सकता, क्योंकि हमारा खेत हमारा है। उसी तरह धरती का स्वामित्व उसका है, परन्तु हम तो केवल उपरी सतह के मालिक हैं। धरती के भीतर की खान राजा की है, वैसे ही धन भी उसका ही है। राजा के पुण्य से प्रजा पलती है। पुत्र ! पहले जब गणराज्य थे, जैसे उत्तर में हैं, तब हमारे पूर्वज दास थे; हमारी कोई भूमि नही थी। हम बिकते थे। फिर अच्छा राजा आया। उसने कहा : हम तुम्हे न्याय देंगे। धर्म की स्थापना करेंगे।—हमारे पूर्वजों ने उससे कहा : हम तुम्हारे लिये अपने प्राण देगे।—उसने कहा : उठो और लड़ो।—वह आगे बढ़ा, हम पीछे; और तब उन अत्याचारी गणराजाओं को मार डाला और हमें धर्म दिया। तब हम दास नहीं रहे। पहले राजा की सारी धरती थी। अब राजा केवल कर का मालिक है। यह धन राजा को दे दो।'

मैंने सुना।

सब पर से बोझ उतर गया। वे मुझे ले गये। गाँव में शाम को नाच-गाना हुआ। स्त्री-पुरुष खूब नाचे। एक वृद्ध ब्राह्मण मुझसे मिले। बोले : 'वैश्य-पुत्र हो ?'

मैंने प्रणाम किया।

बोले : 'बैठो, बैठो !'

बातचीत में पता चला कि उनके तीन पुत्र थे। तीनों नगर चले गये। परन्तु वे नहीं गये थे। मुस्करा कर बोले : 'श्रेष्ठिपुत्र ! ब्राह्मण जब नगर में चला गया तब उसका गौरव घट गया। नगर वैश्य और क्षत्रिय की जगह है। ब्राह्मण कौन है ? जो शील का आचरण करे। वह पृथ्वी का देवता है। वेद में धर्म स्थित है, परन्तु वह उसे भुला गया है।'

और भी बहुत कुछ कहा। फिर बोले : 'एक ब्राह्मण आये हैं। चतुष्पथ

---

* आराजी खाम।

पर रात को वे कथा सुनायेंगे। आना तुम भी। उसमें सब जातियों के लिये स्थान है।'

मैं भी गया। आगे ब्राह्मण युवक थे। क्षत्रिय-वैश्य भी थे। शूद्र भी। केवल अन्त्यज नहीं थे।

वृद्ध ब्राह्मण जितारि भी थे। कर्मकाण्डी ब्राह्मण अवश्य वहाँ नहीं थे, जो इस प्रकार सबसे नहीं मिलते थे। मैं जिन-मतानुयायी था, परन्तु कौतूहल से बैठा रहा। व्यासपीठ पर एक वृद्ध आ बैठे। वे ब्राह्मण थे। उन्होंने जय काव्य सुनाना प्रारम्भ किया। स्वर कितना मीठा था। उपरिचरवसु की कथा थी, जिसमें उसने अहिंसा से यज्ञ का प्रतिपादन किया था।

दूसरे दिन भद्दक और अन्य ग्रामीण खेत में प्राप्त हुए धन के साथ राजा के पास चले। मैं उनके साथ तैयार नहीं हुआ, न गया। उन्होंने बहुत कहा। फिर वे बोले : 'तुम ठहरो! हम हो आते हैं।' मैं समझ गया कि राजा से वे मेरे बारे में अवश्य कहेंगे। मैंने कहा : 'वह मुझे बुलायेंगे। और मैं नहीं चाहता कि मेरे घर वाले मेरा पता जान पायें। राजा को मुझे बताना ही पड़ेगा।' तब वे मुझे छोड़ गये, पर आश्वासन ले गये कि उनके लौटने तक मैं गाँव में ही रहूँगा। यह मैंने स्वीकार कर लिया। वे चले गये। ग्रामणी भी उनके साथ था। वह तो भद्दक का चेला ही हो गया था। भद्दक छोटा देवता था, मै बड़ा देवता था। उनके जाने पर आजी से मेरी खूब बनी। आजी ने अपने कई किस्से मुझे सुनाये। मोटी रोटी और मट्ठा खिलाती। दूध पिलातीं स्त्रियाँ, जो भाभी हो गई थीं मेरी। आजी के गीतों से मुझे पज्जा अम्मा की याद हो आती और मेरी आँखें गीली हो जातीं। मैं भी आजी का काम करता। शायद मैं उसी गाँव में रह जाता, पर सभी नगर से लौटे, भद्दक ने बताया कि राजा ने वह धन नहीं लिया। कहने लगे--जो धन कोई न ले, उसे मैं क्यों लूं? क्षत्रिय का धर्म है जीत कर लेना। दान लेना तो ब्राह्मण का काम है। तुम इसे गाँव में लगा दो! लोक में बँटने पर धन का पाप-पुण्य नहीं रहता।

भद्दक को गाँव के पुराने ग्रामणी ने ग्रामणी बनवाया था, स्वयं पद से हटकर। तब राजा ने उसका त्याग देखकर उसे सीमा पर वन प्रान्त के अहेरियों और वन्य जातियों से कर लेने वाला नियुक्त कर दिया और राजा स्वयं उस वैश्य-पुत्र को देखने आने वाले थे।

कुछ कहे चुपचाप वन में घुस गया। मैं एक ऐसा संसार छोड़े जा रहा था, जिसमें मुझे एक अजीब बात दिखाई दी थी कि सब देते को देख देते थे।

वन भयानक था और भय भी हुआ, पर पकड़कर घर पहुँचा दिये जाने की कल्पना मुझे डरा रही थी। सारे गाँव के लोग कहते थे कि देने से पुण्य होता है। राजा को दिया तो उसने भद्दक को पद दिया। ग्रामणी ने पद छोड़ा और सहर्ष छोड़ा तो उसका भी पद बढ़ गया। अवश्य वह सोना बुरा था, तभी तो उसे छोड़ने के फल से इतनी शीघ्रता से इतना अच्छा परिणाम निकला। यों मैं बहुत दूर निकल गया और तब थककर एक जगह बैठ गया। अवश्य ही मेरे जाने से गाँव वाले परेशान हुए होंगे। पर मैं और करता भी क्या! वहाँ रहने से तो मैं पकड़ा जाता और तब फिर वही भाई मिलते जिन्होंने मुझे गृहहीन बना दिया था।

साँझ का समय हो गया। मुझे पशुओं के गलों की घंटियों की आवाज़ सुनाई दी। समझ गया मैं, कि कोई सार्थ आ रहा है।

स्थूलकाय सार्थवाह ताम्रलिप्ति का निवासी था। मैंने उसके साथ चलने की अनुमति माँगी। एक बार संदेह से उसने मुझे देखा और कहा: 'आगे-आगे चलो। तुम्हारे पास कुछ नहीं है? डाकुओं के कोई गुप्तचर तो नहीं हो?'

मैंने हँसकर कहा: 'होता तो आपके पास आता?'

मैं सार्थ के साथ हो लिया, उसने भी चिन्ता नहीं की। उसके साथ अनेक शस्त्रधारी भृत्य थे। मै बेचारा अकेला क्या करता! परन्तु इन नागरिकों की बातों ने मुझे फिर चालबाज़ियों की यादें दिला दीं। तो क्या ग्रामीण चालाक नहीं होते! होते हैं अवश्य। उस ग्राम की स्मृति एक आवेश के क्षण का इतिहास था। आवेश के क्षण में मनुष्य उठ जाता है, फिर गिर जाता है, जैसे मैं स्वयं उस समय उठ गया था। तब मेरा मन कितना हल्का था! क्या वह अब पहले की तुलना में भारी नहीं हो गया था?

नर्मदा आ गई। सार्थ रुक गया। सब बोझ उतारकर खाने-पीने की ओर लगे।

मैं तीर पर खड़ा होकर देखने लगा। प्रशस्त धारा फैली हुई थी। जाते सूर्य की अन्तिम किरणें पड़ रही थीं और जल की ऊपरी पर्त पर चमक-सी रही थीं। क्षितिज लाल हो गया था। अंगारे-सा। मैं मंत्रमुग्ध-सा देखता रहा।

प्रकृति कितनी सुन्दर थी ! कितनी प्रशस्त । आकाश में पक्षी लौट रहे थे ।

उत्कल का एक सैनिक मेरे पास आ खड़ा हुआ और मुझसे टूटी-फूटी संस्कृत में बोला : 'यात्री ! कहाँ जाओगे ?'

मैंने कहा : 'नर्मदा के पार ।'

'कहाँ ?'

मैं शीघ्र नहीं बता सका ।

उसने कहा : 'हमारे साथ ही चलना ।'

इसी समय उसे किसीने बुला लिया । नर्मदा की धारा पर बहती हुई नावें बहुत ही सुन्दर लगती थीं । किसी-किसी में दीपक जल रहा था । उतरता अंधकार, आकाश में तिरोहित होती ललाई, उड़कर दृष्टि से लोप हुए पक्षी और स्निग्ध चमकीली शिखा वाले दीप, फिर माँझियों का गीत···

'ओ माँझी, पतवार चला···

'तेरे जीवन का अंत वहाँ तक है जहाँ तक सागर करवट लेकर आकाश बन जाता है···

'वहाँ पूर्वजों की आत्माएँ रहती हैं, जो तेरे लिये ऊपर आकाश में चढ़कर दीप बन जाती हैं, नक्षत्रों की भाँति चमकती हैं···

'वह पुण्यवानों का नाम है जो चमकता है···

'माँझी ! सुवर्णभूमि, बर्हिणद्वीप और बावेरु तक की लहरों पर तूने अपनी पतवार से धर्म की गाथा लिखी है । भाग्य देवता तेरे हर लेखे-जोखे को रखता है, तेरी पत्नी, तेरे बच्चे तेरे लिये सूर्य देवता के फेरे गिनते हैं···

अनन्त आकाश में भरती हुई वह ध्वनि···फिर कभी-कभी वृक्षों की सुर-सुराहट, एक ओर शस्यश्यामला वनभूमि ··

मैं एक ओर चल पड़ा···पता नहीं क्यों ? वह वन कितना घना था । मैं अंधेरे में उधर क्यों चला ? वहाँ कुछ दीख रहा था मुझे । देखा जाकर पास । एक पेड़ के नीचे दोनों ओर पत्थर रखकर चूल्हा बना था, किसीने यहाँ कभी आग जलाई थी, शायद यहाँ खाना पकाया होगा । यही था मनुष्य के वास का चिह्न । पास ही एक चैत्य (चौतरा) था, जिस पर शिवलिंग धरा था, निर्जन

वन में। कभी मनुष्य यहाँ भी रहा होगा। किसी ने यहाँ खाना भी बनाया होगा। तो मैं यहाँ पहला आदमी नहीं हूँ, उसने भी ऐसे ही सूर्य को डूबते देखा होगा!

यह कितनी विचित्र अनुभूति थी कि मुझसे पहले भी धरती के इस टुकड़े पर मनुष्य रह चुका था। आया था, चला गया था। जैसे मैं आया हूँ और चला जाऊँगा।

तभी जन्न की आवाज़ आई।

मैं समझा नहीं। तभी विचार कौंधा कि शायद यह बाणों की वर्षा है। फिर भयानक चीत्कार सुनाई दिया। लगा उनका प्रहार सफल हो गया। फिर शस्त्रों की खड़खड़ाहट।

उफ़! अब सार्थ के लोग सन्नद्ध हुए होंगे।

अब मैं समझा। यह तो जान का खेल था।

फिर भगदड़ और घोड़ों की हिनहिनाहट। मैं और पीछे खिसकने लगा।

डाका पड़ा था। सार्थ पर आक्रमण हुआ था डाकुओं का। मैं भाग चला। उस क्षण मुझे ऐसा भय हुआ कि मैं नहीं कह सकता।

बहुत दूर निकलने पर मैंने देखा कि मैं नर्मदा के दूसरे स्थान पर किनारे पर ही निकल आया हूँ। उस समय चन्द्रमा उठने लगा था और उजाला फैल चला था। निर्जन साँय-साँय में वह स्थान सनसना रहा था। मैं अकेला चेतन प्राणी था। शायद मेरे अतिरिक्त भी कुछ और थे, क्योंकि मेरी उपस्थिति से एक पक्षी उड़कर दूसरे वृक्ष पर चला गया। अवश्य ही और भी पक्षी रहे होंगे। यहाँ इस जगह जहाँ मनुष्य नहीं रहते, पशु-पक्षी रहते हैं; और मनुष्य की सत्ता से जैसे उन्हें कोई मतलब ही नहीं। वे मनुष्य के बिना भी रहते हैं। हठात् प्रश्न हुआ : क्यों रहते हैं? मैं तो डाके में से भी बच गया था! क्यों बच गया था? दोनों ही बातों में बड़ी उलझन थी।

मैंने सोचा, मैं बच गया था। क्योंकि मुझे अभी जीवित रहना था। यह भाग्य नहीं था तो था ही क्या। क्या इसे केवल आकस्मिक घटना कहा जा सकता है? वन के डाकू कितने भयानक होते हैं। परन्तु वे भी मनुष्य होते हैं। राजा राज्य करते हैं। अपनी सीमा में दण्ड से शान्ति रखते हैं। वनभूमि में लोग मरते हैं। कौन? अधिकतर वैश्य और व्यापारी। क्यों? क्योंकि उनके

पास माल होता है। वे ही क्यों जाते हैं ऐसे ? लाभ के लिये। लाभ क्यों चाहते हैं वे ? क्योंकि वैश्य का धर्म है व्यापार करना। व्यापार का अर्थ ही लाभ है। परन्तु यह संसार भी कैसा विचित्र है। क्षत्रिय का कर्म ही क्रूर है और वैश्य का कार्य ही लाभ पैदा करना है। लाभ क्या है ? वस्तु के मूल्य में दूसरे की आवश्यकता को जोड़ देना और उसकी विवशता को बीच में डालकर अधिक वसूल करना। परन्तु यह न हो तो कारीगर कुछ बनाये ही क्यों ? वस्तुओं के आदान-प्रदान का क्रम तो चलेगा ही। तो व्यापार होगा ही। और होगा तो जान पर खेलना भी पड़ेगा ही। यह तो एक चक्र हो गया।

थककर मैं किनारे की घास पर लेट गया और सोचने लगा : अब मै कहीं नही जाऊँगा। यहीं रहूँगा। एकांत में। पक्षियों से मैं मित्रता करूँगा। फिर कन्द-मूल खाऊँगा। यह एक परिवार हो जायेगा !

फिर परिवार ! यह कैसी भूख है ? परिवार ! फिर यदि ईर्ष्या हुई तो ? तब भाभी सुभामा याद आई। उन्होंने कहा था तब : 'देवर ! तुम बहुत अच्छे हो ! तुम्हारे भैया तुम्हें नहीं चाहते।' यह कहते हुए भाभी कैसी ग्लानि से भर गई थी। जैसे पति का पाप उनका अपना पाप था। वह अर्द्धांगिनी ठहरीं। जीवन-मरण में उनका साथ जो है। स्त्री को तो पति के साथ सब कुछ भोगना होगा। लेकिन कहते हैं कि पतिव्रता के पुण्य से सब पाप दूर हो सकता है।

आकाश में चन्द्रमा अब पूर्ण तेजस के साथ विराजमान हो गया था। पूर्णचन्द्र का भी बड़ा वैभव होता है। दूध-सी चाँदनी लोक की विश्रांति को जैसे पी जाती है।

अचानक मुझे लगा कुछ बहता हुआ नदी पर आ रहा था। यह क्या होगा ? होगा कोई लकड़ी का टुकड़ा। मैं उधर ही देखने लगा। फिर लगा उसने हिलना शुरू किया। तो शायद कोई तैर रहा होगा। पर मेरी आँखें उधर ही लगी रहीं। कैसी भी चाँदनी हो, वह बदली में घिरे सूरज की छिपी किरणों की झाँई के बराबर भी उजाला नहीं कर सकती। सौंदर्य की यह निर्बलता मुझे बुरी लगी। अच्छी होती है वह कुरूपता ही जो सत्य को सत्य के रूप में दिखाती है।

तभी मानो मैं सनसना उठा। वह बहती हुई चीज़ बीच धार में थी ! वह तो मनुष्य-सा लगता था। बिना कुछ और सोचे हुए धारा में मैं कूद पड़ा और

था, या डूब चुका था जो अब बहा जा रहा था।

तब जीवन में पहली बार मैंने अनुभव किया कि तैरना जानने वाला आदमी कभी भी डूबते को बचाये बिना नही रह सकता; चाहे उसे कैसा ही संकट झेलना क्यों न पड़े ? ऐसे ही जैसे कोई महापुरुष लोक के उद्धार के लिये कष्ट उठाता है। और आखिर मैने उसे पकड़ ही लिया। परन्तु जब धार छोड़कर किनारा देखा तो पता चला कि मैं तो मँझधार तक आ गया था।

अब मेरे हाथ-पाँव फूल रहे थे। लगता था अब डूबा, अब डूबा। तो क्या इसे छोड़ दूँ ? मन ने कहा : मरने दे इसे, अपने को बचा पहले।—फिर भीतर से आवाज-सी आई, इस समय तुझे देखकर कोई यही कहे तो ! बचा उसे, बचा अपने को धनकुमार। मैंने आँख बन्द करके तीर्थंकर पार्श्वनाथ का स्मरण किया और धारा पर अपने को छोड़ दिया।

जब मैं किनारे पर पहुँचा निःशक्त-सा पड़ गया। जिसने दूसरे को बचाने के लिये मँझधार पर अपने को छोड़कर वीतराग की शरण ले ली, उसे वीतराग के पुण्यों के प्रभाव ने नदी मोड़कर किनारा दे दिया। नदी मुड़ गई थी। मैं तीर पर आ गया था। वीतराग का पुण्य अक्षय होता है और लोक के लिये ही होता है। कब तक मैं पड़ा रहा वह मुझे याद नहीं है अब। आँख खुलने पर मैंने देखा मेरा साथी है या नहीं। तब पता चला कि जिसे मैं बचाने गया था, वही मुझे बचा लाया था। आत्मरक्षा के किसी अज्ञात क्षण में मै उसी देह से चिपट गया था और उसने बहते हुए मुझे बचाया। वह तो शव था। अभी अधिक नहीं फूला था। अभी अति विकृत भी नहीं हुआ था।

इस स्थान पर चाँदनी आ रही थी। मैं निःशक्त-सा पड़ा रहा। हवा की साँय-साँय बढ़ रही थी। कौन था यह जो मर गया ?

निर्जन वन में मैने शव को देखा। कितना डरावना था सब। शव के वस्त्र फट गये थे। प्रायः नंगा था वह। था कोई तरुण ही। मैंने सोचा और कहा : हाल ही में मरा है कोई यात्री। शायद नदी में प्राण बचाने को कूदा हो।

कितनी विभोपिका थी। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मानो वन में डरती हुई घूम रही थी। और अचानक ही मेरी आँखें उस शव की जाँघ पर पड़ी। जाँघ फट गई थी। और उसमें कुछ चमक रहा था। मैंने कौतूहल से निकाला उसे। रक्त

नहीं था । अब पानी था शव में । निकले बहुमूल्य रत्न, जिस पर चाँदनी चमक उठी । कैसी तड़प थी उन रत्नों में ! मैं देखता ही रह गया । एक आवेश-सा भर गया मुझमें । शव में से रत्न ! निर्जन वन में रत्न । जहाँ वृक्षों पर यक्ष और पिशाच रह सकते हैं वहाँ भी धन । मनुष्य के शरीर में भी रत्न ! शायद कोई यात्री है जिसने दूसरों से बचाने को रत्न अपनी जाँघ में सी लिये थे, तभी जब प्राणभय से पानी में कूदा, पीड़ा से तैर भी नहीं पाया और मर गया, और तब रत्न वाला घाव भी मेरी टकराहट से फट गया और निकल आया मेरे सामने उसके जीवन का चिरसंचित कोष ! बहुमूल्य हैं यह रत्न ! क्या यह अपने जीवनकाल में इन रत्नों को मुझे दे देता ? लहू पी लेता मेरा ! इन्हीं को बचाने कूदा था यह जल में । अब, अब यह कहाँ है ? ओ यात्री ! देख मैं बैठा हूँ । देख मैं डाकू हूँ । तुझे बचाने गया था और अब तुझे लूट रहा हूँ । रोक ले मुझे !

तब उस निर्जन कान्तार में मैं हँसा । पता नहीं मेरा हास्य विकराल था या नहीं, परन्तु पक्षी डर से चिल्ला-से उठे । मैंने फिर कहा : अब तू मुझे नहीं रोक सकता ! मनुष्य के भीतर भी धन समा गया है । किन्तु यह उसका नहीं है । वह व्यर्थ ही उसके पीछे पागल हो उठा है । अपनी जाँघ चीरकर सीते हुए भी इसे दर्द न हुआ ! ऐसा है यह धन !

रत्नों पर चाँदनी चमक रही थी । मैंने उन्हें वहीं पटक दिया और तब मैं रोने लगा । मैं चिल्लाने लगा : 'पज्जे अम्मा ! कहीं किसी दिन तेरा धन वत्स भी तो ऐसे ही नहीं मर जायेगा ? क्या वह भी धन के लिये ऐसे ही तो पागल नहीं हो जायेगा ? धन ! धन ने संसार को पागल कर रखा है । पज्जे अम्मा ! संसार का यात्री मनुष्य क्या कभी इस लोक की किसी संपदा को अपने साथ ले जा सकेगा ? मैं इस धन से घृणा करता हूँ । मैं इससे घृणा करता हूँ ।'

फिर वही धन ! मुझे उस शव से अत्यन्त स्नेह हो आया और मैंने उसे उठाकर फिर नदी में बहा दिया और पानी में उतरकर मैंने अपने को सिर तक डुबा दिया । यह मेरा स्नान था या मैं उस गर्मी को छोड़ना चाहता था । जब मैं तीर पर आया, मन ने कहा : धनकुमार ! धन ले ले !

मैं ले लूँ ? शव का धन ! यही क्या कर गया इससे जो मैं ले लूँ ?

'तुझे किसने दिया है यह धन !' किसी ने कहा : 'मूर्ख ! धन तो जीवन के

'नहीं मुझे नहीं चाहिये।'

अच्छा किसी को दे दीजिये इसे !'

कौन बोला यह ? क्या तू मुझे धोखा देता है ? यह जो पड़ा था यहाँ ! वह यात्री !

वह तो तत्वों में मिल गया।

लेकिन मैं रोया था न ?

उसे किसने सुना ?

क्यों नहीं सुना ? काल साक्षी है। यह जो निर्जन के वृक्ष हैं, पक्षी हैं, यह सब क्या आत्मा नहीं रखते ?

तो क्या तू वनस्पति खाता नहीं ? अरे प्राणी से प्राणी जीवित रहता है।

पता नही कब नदी-तीर के सिवारों के पीछे चंदा डूब गया और कब उजाला छाया। जब मेरी आँख खुली मैने देखा कि मैं नरकुलों के पास पड़ा था और पक्षी फुदक रहे थे। मैं उठ बैठा। तब देखा, मेरे सामने ही रत्न पड़े थे। अब देखा ! कितने बहुमूल्य रत्न थे वह !

धनकुमार ! तो क्या यह धन तेरे पास आया है ? हाँ। तो मैं ले लूँ ? ले ले। यहाँ पड़े रहेंगे तो इनका लाभ ही क्या है ? हाँ सच ! पत्थर के टुकड़े हैं। पशु और पक्षी तो इन्हें छुयेंगे भी नहीं। इसके बराबर उगे इस वन के पौधे के फल की जितनी कीमत है, क्या पक्षी के लिये इन रत्नों की भी है ? इस छोटे फूल पर तितली उड़कर आ बैठी है। वह एक बार भी तो इन रत्नों नहीं को नही छूती। तो क्या मनुष्य ही पत्थरों का प्रेमी है। क्योंकि ऐसे पत्थर कम मिलते हैं ? क्योंकि इन पत्थरों में; बदले में कुछ भी खरीद लेने की ताक़त है ? किन्तु क्या यह कभी निस्स्वार्थ प्रेम भी खरीद सकेंगे ? नहीं। वह असम्भव है।

मुझे भूख लगने लगी। मैं कितना दयनीय हो गया। कंद-मूल खोजने लगा। उन बहुमूल्य रत्नों में से एक भी ऐसा नहीं था, जो मेरे जीवन का आधार बन पाता। और तब मैंने सोचा कि उन्हें छोड़ जाऊँ। हाथ से उठाकर एक फेंका। नर्मदा की अतल धारा में सिर्फ़ एक कंकड़ी गिरने की-सी आवाज़ आई।

फिर ध्यान आया। अब यहाँ से चलूँ कैसे ? वह सन्नाटा मुझे डराने लगा। मुझे लगा जब तक मेरी आत्मा वृक्ष में नहीं बसती, तब तक ऐसे निर्जन में मैं नहीं रह सकता। सारे वन की साँय-साँय मुझे डराने लगी और मैं उठ खड़ा हुआ।

• वह दुख की कथा है कि मैं वहाँ से रत्न लेकर ही निकल आया, और विंध्याटवी आ गई जब मैंने एक नाव पर नर्मदा को पार करके नयी धरती पर पाँव रखा।

सघन वन। विंध्या का मैं क्या वर्णना करूँ। कहते हैं, हिमालय का भी सौंदर्य है, पर विंध्य का और ही है। वह छवि-वर्णना मुझे इस समय इतनी याद नहीं आती, जितनी यह कि मैं उस सौंदर्य से आतंकित हो गया था और मैंने सोचा था कि यही एक दिन नल-दमयन्ती की प्रेम-गाथा की वेदना का स्थल था। उस दिन क्या मनुष्य के हृदय में आज की ही-सी कचोट नहीं उठती थी। तब मैंने सोचा था कि यह विंध्याचल क्या सदैव ही मनुष्य को इसी प्रकार अपने से डराता रहेगा ! सौंदर्य में एक आतंक होता है यदि वह महान् हो। विशालता की गरिमा सदैव ही मनुष्य की लघुता को जगाकर उसकी महत्वाकांक्षा को जगाती है। और याद आया कि यहीं एक दिन दण्ड ने अपनी सेना सहित पड़ाव डाला था जब ब्राह्मणों से उसका युद्ध हुआ था। युद्ध और हत्या की न जाने कितनी कथाएँ यहाँ बन चुकी हैं। यक्ष, गंधर्व, राक्षस, असुर, विद्याधर और न जाने कितनी जातियाँ यहाँ आईं और संसार से सदा के लिये लुप्त हो गईं। यह दुर्दमनीय गिरिमाला कब से पड़ी है यहाँ ! यहीं से एक दिन अगस्त्य ने लोपा-मुद्रा के साथ उत्तर से दक्षिण की यात्रा की थी, जिसके बारे में अब तक प्रसिद्ध है कि उसने एक दिन इस उन्नत गिरि के मस्तक को भी झुका दिया था। क्या मनुष्य के साहस में इतना बल है ? इतना महान् है यह मनुष्य ! और यही भूमि है, हाँ यहीं अनेक जंगली जातियाँ आईं और न जाने कहाँ-कहाँ फैल गईं। किरात और न जाने कौन-कौन। कभी कोई कवि होगा तो अवश्य इस वन के सौंदर्य का भी वर्णन करेगा। अवश्य ही राम ने भी लक्ष्मण के साथ सीता को लेकर इसे पार किया होगा और विद्याधर रावण और सुग्रीव से वे मिले होंगे। मैं कितनी प्राचीन भूमि पर चल रहा था। सामने से एक व्यक्ति आया।

वह एक शिकारी था। कमर में खाल बाँधे था। सिर पर पंख लगे थे।

ककश मुखाकृात । रग का काला ।

मुझे देखा तो बोला : 'यात्री ! कौन हो ?'

मैंने उत्तर दिया : 'यात्री हूँ ।'

उस समय कमर में लगे वे बहुमूल्य रत्न कसमसा उठे और मुझसे जैसे बोल उठे—धनकुमार ! तेरी कमर में हम बँधे हैं । इसे न भूल जाना ।—मैंने अपने मन से कहा : याद है । और मौका पड़ा तो इन्हें फेंक भी दूँगा । इन पत्थरों के लिये जान तो नहीं दूँगा !

शिकारी मुझे अपने नगले में ले गया । वह किरात नहीं निकला, शबर था ।

मेरे लिये उसने एक कम्बल डाल दिया । मैं बैठ गया । शायद उनके यहाँ कभी-कभी यात्री आते रहते थे ।

एक वृद्ध पास आया । आँखों में उसके ढीढ़ थी । काला, मैला । देह से बदबू आ रही थी ।

'ब्राह्मण हो ?'

'नहीं ।' मैंने कहा ।

'तो वैश्य होगे ?'

'हाँ, वैश्य ही हूँ ।'

'हाँ यही दो हैं जो इधर-उधर यात्रा करते रहते हैं ।'

एक युवती एक बच्चे को दूध पिलाती हुई वहीं आ खड़ी हुई । उसके दाँत उसके काले मुख पर चमक रहे थे ।

युवती ने कहा : 'अभी कुछ ही दिन हुए, एक ब्राह्मणों का दल दक्षिण गया था ।'

बहुत-सी बातें हुईं । तब मैं उठकर उनके नगले को देखने लगा । घर वे दूर-दूर बनाते थे और बीच-बीच में उनकी बाड़ी होती थी । मैंने उनमें तरह-तरह के साग देखे । एक जगह एक घण्टा लटका था, और वह घण्टा लोहे का था । जब बजता था तब उनके कुत्ते भौंकते थे, मुर्गियाँ भागती थीं । शबर वृद्धों ने बताया कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में हिमालय में रहते थे, फिर एक बार यहाँ विध्याटवी में आ बसे थे । वे सब एक तूँबी से पैदा हुए थे । तूँबी फटी तो बीज निकले । तब शिव ने उन्हें शबर बना दिया ।

'हम वनों में रहते हैं', वृद्ध ने कहा : 'नगर में केवल पशुचर्म और ऐसी ही चीजें बेचते हैं। परन्तु तुम लोगों में बहुत पाप है। हम घास का दाना बीन कर रोटी बनाते हैं, फिर भी कभी चोरी नहीं करते। हमारे बाण न हों तो तुम्हारे डाकू हमें लूट खायें।'

रात घिर आई। अंधेरा हो गया। अग्नियाँ जलने लगीं। आदिम और प्राचीन भूमि में वे अग्नियाँ मुझे सांत्वना देने लगीं। वन में हिंस्र जन्तुओं की गर्जनाएँ सुनाई देने लगीं। परन्तु किसीने भी मुझे लूटने की चिन्ता नहीं की।

'खाओ।' युवती ने मांस मेरे सामने रखा। मुर्गा था।

मैंने देखा। सोचा। यह लोग सार्थों को लूटते तो हैं। अब बनते हैं। हो सकता है वे और हों, यह नहीं हों। युवती की आँखें गड़ी थीं।

'नहीं', 'मैंने कहा ? 'मैं यह नहीं खाता। यह मांस है।'

वे हंसने लगे। तब एक ने घास के दाने की रोटी मेरे सामने रखी। भूख तेज़ थी। मैं उसे खाने लगा। सच ! वह मुझे स्वादिष्ट लगी। मेरी मर्यादा कहाँ गई ? वह पवित्रता किधर चली गई ? पर सोचा। व्यापारी सब खाते हैं। सब जगह जाते हैं। वे तो म्लेच्छ भूमियों में भी जाते हैं।

परन्तु उस याद में अब है ही क्या ? वह तो यात्रा थी। आपद्धर्म था वह ! किन्तु जीवन क्या यात्रा नहीं है ? तो क्या सारे जीवन हमें आपद्धर्म बिताना है ? सच ! और सत्य है ही क्या ? जीव, जीव को खाये, और अहिंसा की बात करे ! क्यों खाते हैं भला ? जीवित रहने के लिये ही तो ! तो यह भी क्या आपद्धर्म नहीं है, जो आत्मा ग्रहण करती है, इस देह के लिये ! शबरों के जीवन ने मुझे इसी सत्य का दूसरा पहलू भी दिखाया।

विंध्याटवी भी पार हो गई। वे विशाल वृक्ष, वे घास के मैदान, वे पर्वत, वे निर्झर, वे वन्य जन्तुओं के पाँवों के निशान, हिरनों के झुण्ड, झाड़ियाँ, हरियालियाँ, दिन में अंधेरे पथ, सब पार हो गये। जिसे जीवित रहना होता है, वह सब पार हो जाता है।

और एक दिन उज्जयिनी के ऊँचे सौधों के दर्शन होने लगे। उसके स्वर्ण-कलश और उड़ती पताकाएँ मुझे अपनी ओर बुलाने लगीं। मैं मानो फिर सभ्यता में आ गया था। यह हर्ष मुझें गुदगुदाने लगा। यह प्राचीन नगरी अपनी समृद्धि से बहुत दूर-दूर से व्यापारियों को बुलाती थी।

नगर के बाहर धनिकों के विशाल सुन्दर उपवन बने हुए थे, जिनमें आपा-
क भूमि भी थी। कहीं-कहीं चैत्य दिखाई देते थे। उनको अश्वत्थ वृक्षों की
ाया ने सुहावना बना दिया था। नगर में मदिरा की दूकानों पर सुन्दरियाँ
ोटी गाहकों का मन मोह रही थी। पुरपइठान इस उज्जयिनी का छोटा रूप
ा। उज्जयिनी विशाल थी। जिधर देखता था उधर ही सुन्दरता थी। मेरे
स्त्र साफ़ नही थे। रत्न बेचना संदेह का काम था। मैंने अपनी सोने की अंगूठी
ाच दी और जाकर सुन्दर वस्त्र खरीद कर पहने। जब मैं महाकाल के मन्दिर
के पास पहुँचा मैंने देखा, ब्राह्मण मन्त्रोच्चार कर रहे थे। वे शैव ब्राह्मण थे,
ो बीच-बीच में वेदमन्त्र भी बोलते जाते थे। पुरपइठान में अभी तक
र्मकाण्डी ब्राह्मण शिव मन्दिर में नही जाते थे, यद्यपि वे शिव को प्रणाम
वश्य करने लगे थे। उत्तर के ब्राह्मण दक्षिण के ब्राह्मणों से अधिक भले थे।
शव के नागभक्त भी इनके मित्र थे। बल्कि बहुत-से नाग भी ब्राह्मण हो चुके
ा और वेद को उन्होने भी वैसा ही अपना लिया था। वे भी अब अपने को
ार्य कहते थे।

मैं भोजन के प्रबन्ध में लगा। अन्त में मैं जिन-मतानुयायियों की धर्मशाला
ं पहुँच गया, जहाँ मैंने बहुत दिन बाद भरपेट भोजन किया। आगे के लिये मैंने
सरे दिन सवेरे ही धर्मशाला से निकलकर अपने कर्णकुण्डल बेच दिये। स्वर्ण
के उस आभूषण के मूल्य से मैने बहुमूल्य वस्त्र पहने और तब मैंने सबसे छोटी
ाणि ले जाकर हाट में बेच दिया। उससे मुझे काफ़ी सुवर्ण मिला। मैंने जाकर
एक प्रतिष्ठित वैश्य के यहाँ उसे जमा किया और व्यापार में भाग पा लिया।
ह पुरपइठान का-सा ही हुआ।

दुपहर हो गई थी। तब मैं नगर में घूमने निकला। वेश्याओं की विशाल
ट्टालिकाओं के पास से निकलकर मैंने मुख्य पण्य देखा और तब पता चला
के आज पश्चिम के तालाब पर राजा परीक्षा लेने वाला था। कौतूहल ने मुझे
ढ़ाया।

तालाब के चारों ओर भीड़ थी। बहुत-से लोग वहाँ खड़े हुए थे। मैं भी
ा पहुँचा। अपने बहुमूल्य वस्त्रों के कारण मुझे पीछे रहने की आवश्यकता
हीं पड़ी। मैंने आगे जाकर अपने लिये स्थान चुना जो सिंहासन से कुछ ही

दूर पर था। मैं बैठ गया।

मैंने देखा कि तालाब गोल था। काफ़ी बड़ा था। जल के बीचोंबीच में एक स्तम्भ गड़ा था। वह काफ़ी लम्बा था। उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के बारे में मैं सुन चुका था कि वे बड़े क्रोधी थे। उनके पास बहुत बड़ी सेना थी। परन्तु देखने का अवसर आज ही आया था। नगर के गण्यमान्य कुलीन, और पराक्रमी लोग प्रतीक्षा में उपस्थित थे। तभी एक फुसफुसाहट व्याप गई।

महाराज ! महाराज ! सुनकर मैं भी खड़ा हो गया। जय-जयकार के बीच एक पैंतीस वर्ष का भव्य व्यक्ति स्वर्ण-रत्नजटित किरीट पहने आया और सिंहासन पर सिर उठाये बैठ गया। आते ही उसने इंगित किया। सेनापति ने सिर झुकाया और आज्ञा पाकर बोलने को खड़ा हुआ।

मैं देखता रहा। उसने कहा : 'जो भी इस तालाब में उतरे बिना इस स्तम्भ को बांध देगा, उसे महाराज अपना प्रधान अमात्य बनायेंगे, ऐसी महापराक्रमी महाराज की आज्ञा है। आप लोगों में से जो कोई भी ऐसा कर देगा, वही इस गौरव को प्राप्त कर सकेगा।'

अब यत्न होने लगे। मै किसीको नहीं जानता था, यद्यपि बाद में जान गया था, परन्तु उस समय इतना ही समझ सका कि उन प्रयत्न करने वालों में बहुत-से नगर के महामान्य व्यक्ति थे। दर्शकों में कुलीन और साधारण परिवारों की, सब ही तरह की, स्त्रियाँ भी थीं, जिनके पतले हास्य भीड़ के हास्य से उस समय मिलकर गूँज उठते, जब कोई असफल होकर हट जाता।

जब कई लोग हट गये तब सेनापति ने निराशा से देखा। प्रायः लोगों ने रस्सियाँ फेंककर स्तम्भ को बाँधने का यत्न किया था।

अन्त में सब हट गये।

'कोई और !' सेनापति ने कोट्टपाल की ओर देखकर कहा। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। वह योद्धा था और समझ रहा था कि यह महाराज की मूर्खतामात्र थी, ऐसा कार्य जो कभी भी पूरा नहीं हो सकता था।

मैं हँस पड़ा कि इतने बड़े नगर में किसी में भी इस साधारण कार्य को कर दिखाने की बुद्धि नहीं थी। यह तो कोई बच्चा भी कर सकता था।

मेरे हास्य ने महाराज का ध्यान मेरी ओर केन्द्रित किया। उन्होंने सेनापति

किया।

वृद्ध पुरोहित ने मुझे देखा, और कहा : 'युवक ! क्यों हँसा तू !'

'आर्य ! हँसा इसलिये कि सारे नगर में इतने बुद्धिमानों के रहते कोई भ इस कार्य को नहीं कर सका।'

महाराज ने मुझे घूरकर देखा। फिर कहा : 'युवक ! तुम विदेशी हो ?'

अब बहुत-से लोग मुझे देखने लगे।

मैंने विनत प्रणाम करके कहा : 'हाँ देव !'

'तुम यह काम कर सकते हो ?'

'हाँ देव ! परन्तु मुझे सामग्री चाहिये।'

'क्या चाहते हो ? वही माँगो, और तुम्हें वही मिल जायेगा।' महारा ने आज्ञा दी : 'ऐसा ही करो !'

एक निगाह ने ही राजभृत्यों को मेरे पास भेज दिया। मैंने कहा : 'मु रस्सी दो। बहुत लम्बी, बहुत लम्बी। और एक न हो तो कई ले आओ !'

उन्होंने महाराज की ओर देखा। उन्होंने इंगित किया मानो जो कहे दो। वे ऐसे बैठे देखने लगे जैसे कोई गिद्ध अपने शिकार पर आकाश से ह आँखें गड़ाये हवा में तुल गया हो। नागरिक एक विदेशी का चातुर्य देखने व व्याकुल हो गये थे।

मैंने हटकर एक पेड़ से रस्सी बाँध दी। एक ज़ोर का ठहाका लगा। लो चिल्लाये : 'पेड़ नहीं, ताल का स्तम्भ !'

सब हँस पड़े, किंतु महाराज नहीं हँसे। वे स्तब्ध ही बैठे रहे। उनकी आँख में कौतूहल छा गया था। मैं चलने लगा। मैंने तालाब का एक चक्कर लगाय और रस्सी खींच ली, फिर दूसरा चक्कर लगाया और इस तरह स्तम्भ को बाँ दिया।

उस समय घोर कोलाहल मचने लगा। कोई कहने लगा : 'यह तो हम भ कर सकते थे !' कोई कहता : 'यह भी कोई बात हुई।' कोई कह उठता था 'यह तो बड़ा सरल था।' बहुतों को बड़ी झेंप लग रही थी। धीरे-धीरे चखचर बढ़ने लगी।

उनको चिढ़ते देख महाराज ने कहा : 'तुमसे केवल यही कहा गया था कि

बिना ताल में उतरे स्तम्भ बाँध दो। तुम नहीं बाँध सके। इस युवक ने बाँध दिया ! तुमसे हमने यह नहीं कहा था कि किस तरह बाँधो। चाहे जैसे बाँध सकते थे। तुम्हें यही काम करने से हमने कब रोका था ?' वे उठ खड़े हुए और मेरी ओर देखकर कहा : 'मेरे साथ आओ !' मैं संग चल पड़ा।

महाराज जब सुवर्ण-मंडित रथ पर चढ़े तो मुझे उन्होंने अपने साथ ही चढ़ा लिया। क्षण भर पहले मैं महानगर में अपरिचित था और अब ? महानगर मुझे देख रहा था !!

देखा था वैभव मैंने, परन्तु महासेन चण्डप्रद्योत का वैभव मैंने देखा जब उनके प्रासाद में प्रवेश किया। ग्यारह द्वारों में होकर मैं भीतर पहुँचा। परन्तु वैभव की कथा मैं याद नहीं करना चाहता।

महाराज सिंहासन पर बैठ गये। मुझे एक चौकी पर बिठाकर कहा : 'युवक तुम्हारा कुलगोत्र ? नाम ?'

'मैं पुरपइठान के श्रेष्ठि धनसार का कनिष्ठ पुत्र हूँ—धनकुमार। किन्तु मेरा परिचय गुप्त रहे यही प्रार्थना है, क्योंकि मैं पारिवारिक कलह के कारण ही घर छोड़कर आया हूँ।'

महाराज मेरी ओर देखते रहे, फिर कहा : 'कुमार हो ?'

'हाँ देव !'

'तुम्हारा परिचय गुप्त ही रहेगा कुमार !' सहसा महाराज ने स्वर बदलकर कहा : 'तुम जानते हो मैंने यह परीक्षा क्यों ली ?'

मैंने कहा : 'अल्प है मेरा ज्ञान देव ! किन्तु ताल और स्तम्भ बन्धन की बात से इतना समझ सका हूँ कि प्रधान अमात्य का पद अभी योग्य व्यक्ति से नहीं भरा। केन्द्रीय शक्ति का जो स्तम्भ आपने खड़ा किया है, अभी उसके चारों ओर का राज्य दृढ़ व्यवस्था में नहीं है। उसे चारों तरफ़ से ऐसा बाँधना है कि वह समस्त का केन्द्र हो जाये, किन्तु राज्य में परिवर्तन को कोई लक्ष्य भी नहीं कर पाये।'

'श्रेष्ठिपुत्र !' महाराज ने प्रसन्न होकर सिंहासन के हत्थे पर हाथ मारकर कहा : 'अद्भुत चातुर्य है तुममें ! तुमने तो मेरे मन की सारी बातें जान लीं। निश्चय ही तुम प्रधान अमात्यपद के योग्य हो। किन्तु तुम्हारी स्वामिभक्ति का प्रमाण क्या होगा ?'

राजकुमारी वासवदत्ता, तीन वर्ष की बालिका, उसी समय अपनी धात्रेयिकाओं के साथ आई। महाराज ने उसे गोद में लेकर चूम लिया और फिर शीघ्र ही धात्रेयिकाओं के साथ विदा कर दिया। फिर मेरी ओर देखकर बोले : 'धनकुमार ! मेरे पास बहुत सेना है, परन्तु अभी उसका प्रयोग नहीं हुआ है। जानते हो सेना का व्यय कहाँ से आता है ? प्रजा से ! प्रजा की सहिष्णुता प्रसिद्ध है। किन्तु भार किसी सीमा के भीतर रहना चाहिये। वत्स का शतानीक, मगध का श्रेणिक बिम्बसार और कोसल का प्रसेनजित सब चौकस हैं। वज्जि, मल्ल, विदेह, यौधेय, शाक्य, सब तैयार रहते हैं। इस सेना का प्रयोग अब किधर हो। मैंने आत्मरक्षा के लिये जिसे खड़ा किया था, उसको काम भी तो चाहिये ? कर कौन देगा इतना ?'

मैंने सुना और महाराज की ओर देखा। वे उत्सुक हो रहे थे। मेरा नया जीवन प्रारम्भ हुआ। और कितना अकस्मात्। मैंने कहा : 'महाराज ! कर श्रेष्ठि देंगे !'

उन्हें विश्वास नहीं हुआ।

'तुम श्रेष्ठि होकर अपनी ही जाति पर कैसे भार डालने की कहते हो धनकुमार ! विश्वसनीय बात करो। ऐसा न हो कि मुझे तुम्हारी बातों में छल की गन्ध आने लगे।'

दासी गन्ध जला गई।

मैंने कहा : 'महाराज ! अपनी जाति का हित सोचना धर्म है, तभी तो मैंने ऐसा कहा। राज्य-व्यवस्था यदि अपनी ओर हो तो इससे अधिक सुविधा क्या होगी ?'

'वह कैसे ?' वे समझे नहीं।

'महाराज ! श्रेष्ठियों पर कर बढ़ाने से वे विरोध करेंगे। किन्तु तब, यदि उन्हें हानि होगी। और लाभ होगा तो ! वैश्य को लाभ होगा तो वह क्या नहीं करेगा ? आपके पास विशाल सेना है। उसे निरन्तर युद्ध करने का अभ्यास भी चाहिये, ताकि वह आलसी न हो जाये। स्तम्भ बनकर बीच में बैठिये। सेना को रस्सी की भाँति राज्य के चारों ओर फैला दीजिये। जब चाहे पास खींच सकते हैं, क्योंकि सब ओर से वह पास रहेगी। और सेना का कार्य होगा

वन प्रान्त की रक्षा, जहाँ डाकू घूमते हैं। इससे श्रेष्ठि सार्थों को लूट का भय नहीं रहेगा। आप अनुकरणीय यशस्वी कहलायेंगे और श्रेष्ठि इसके लिये आपको सहर्ष कर देंगे। सार्थों से उपहारस्वरूप जो रिश्वत सैनिक ले लेंगे वह अलग। उससे आपको क्या ? श्रेष्ठि उन्हें भी प्रसन्न रखेंगे और तब आपकी सेना को यह कार्य और भी प्रिय लगेगा। प्रमुख श्रेष्ठियों के भृत्यों को जाकर देख-भाल करने का अधिकार दें कि वे सेना के बारे में आपको जाँच करके खबर दें। इससे सैनिकों को भी भय बना रहेगा और श्रेष्ठियों को भी बड़ा आश्वासन रहेगा कि राजा अपने है; हमें शासन में भी मिला रखा है। और महाराज ! ब्राह्मणों को चौकियों पर प्रधान बना दें, ताकि वे दोनों पर आँख रखें, श्रेष्ठियों पर भी और वैश्यों पर भी। ब्राह्मणों को तीर्थयात्रा की सुविधा होगी तो वे बहुत गुणगान करेंगे। और रहे शूद्र ! सो श्रेणियाँ हैं ही। सेना में अन्त्यजों को छोड़कर सबको भर्ती होने का अधिकार दे दें। अब कहें देव ! कि यह उचित ही होगा या नहीं !'

और मैंने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। महाराज अवाक्-से सुनते रहे। मैंने फिर कहा : 'और देव ! वनभूमि की पूरी देखभाल से आपका राज्य सदैव सुरक्षित रहेगा। आपको सब पड़ोसी राज्यों की खबर रहेगी। वन में से सड़कें बनाते ही आपका मार्ग साफ़ हो जायेगा। विदेशी यात्री सहज ही आयेंगे। और उन सड़कों की रक्षा के नाते वन में आपके दुर्ग जगह-जगह खड़े हो जायेंगे !'

महाराज हर्ष से उछल पड़े। पात्र में मदिरा ढालकर पीते हुए बोले : 'अरे श्रेष्ठि-पुत्र ! तुम तो विचक्षण हो। इस तरह दुर्ग बन जायेंगे तो पड़ोसी राज्य मेरे हाथ में आते दिन ही कितने लगेंगे। सार्थों के रूप में मेरी सेना घुस जायेगी !'

मैंने जो कहा वह धूल हो गया। क्षत्रिय की तृष्णा जाग उठी। परन्तु वह उसका धर्म था। और उसमें उचित बात थी। मैंने कहा : 'महाराज ! राज्य भी अपने होंगे, परन्तु अभी नहीं। स्वयं ही अन्य राज्यों के श्रेष्ठि चाहेंगे कि अवन्ति जैसी शांति सर्वत्र हो और तब एक राज्य बनेगा, हिमालय से समुद्र तक, स्वर्ण भूमि से पारसीक देश तक। चक्रवर्ती सम्राट होंगे आप !'

शीघ्र ही मैं जनप्रिय हो गया, क्योंकि महाराज मुझ पर मोहित हो गये। मेरा शब्द राज्य में सर्वोपरि हो गया। एक महीने में मैने कर बढ़ा दिया। तीन महीनों में सेना फैल गई। साल भर में वनभूमि में दुर्ग खड़े हो गये। प्रजा को

एकदम इतना काम मिला कि समृद्ध बढ़ा और अवान्त का यश दूर-दूर तक फैल गया। तब मैं प्रासाद में गया।

महाराज ने कहा : 'बैठो अमात्य ! पहला स्वप्न तो पूरा हो गया।'

मैंने बैठकर कहा : 'देव ! अब दूसरा स्वप्न प्रारम्भ होगा। जैसा मैंने कहा था, वही हुआ है।'

महाराज ने गद्‌गद होकर कहा : 'अमात्य ! तुम इतने योग्य होगे इसकी मुझे आशा नहीं थी। क्या करूँ, मेरे कुल में इस समय कोई कन्या नहीं है। अन्यथा तुमसे संबंध जोड़कर तुम्हें सदा के लिये अपना बना लेता !'

'तो क्या अब मैं नहीं हूँ आपका देव !'

'मगध की नीति सदैव ही यह रही है।' महाराज ने कहा : 'सम्बन्ध और बात है। परन्तु तुम्हारे लिये सम्बन्ध क्या है ? कुछ नहीं। जिस दिन तुम्हारा मन उचटेगा, चले जाओगे। पिता को छोड़ आये। कोसल का प्रसेनजित है न ? सम्बन्धों के लिये सदैव आतुर रहता है। उसका भी मगध से इसी वर्ष सम्बन्ध हो गया है। पर तुम्हारा क्या ठीक है ! अविवाहित मनुष्य का क्या है ? है, नहीं है। मन नहीं रमता उसका। तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते ? अब क्या आयु है तुम्हारी ?'

'देव ! पच्चीस वर्ष हो गये। छब्बीसवाँ है।'

'वह मूर्ख ! अम्बपाली के पीछे', महाराज ने कहा : 'अभी तक डोल रहा है बुढ़िया हो गई ! जानते हो कौन ? बिंबसार ! वैशाली से सम्बन्ध जोड़ने नगरवधू से टकराया था।' महाराज हँसे और कहा : 'हाँ तो ! फिर क्या सोचते हो ? नगर के अनेक श्रेष्ठि मेरे पास आते हैं। सारा नगर तुम्हारे कौमार्य पर आँखें गड़ाये बैठा है। बड़भागी हो। कुमारियाँ साँसें भरती हैं। सच ! !' महासेन हँसे फिर मदिरा का चषक भरकर पीते हुए कहा : 'अब काम-पूजा का समय आने वाला है। अशोक दोहद के समय। क्या कहते हो ? समझ में नहीं आता कि जो खाते हो उसका तुम्हारे शरीर में होता क्या है ?' वे फिर हँसे और तब मुझे उनकी अंतःपुर की असंख्य रमणियाँ याद हो आईं।

मैंने इस विचार को पसन्द नहीं किया परन्तु बोला नहीं। क्या यही मेरे जीवन का अन्त था !

जब मैं चिन्तित-सा दीख पड़ने लगा, महाराज ने कहा : 'कुमार ! स्त्री से

डरो नहीं। कहीं मुझे लगता है, तुम संन्यासी न हो जाओ !'

पता नहीं मुझमें उन्होंने ऐसा क्या देखा जो उन्हें मैं विरक्त जैसा दिखाई दिया। शायद इससे कि अकेला था।

बाहर विदूषक एक कूबर से मज़ाक कर रहा था और एक नपुंसक उन्हें नखरे दिखाता स्त्री बनकर बातें कर रहा था। यह अन्तःपुर के लोग थे, जो राजा, और राजवंश की स्त्रियों को हँसाने के लिये रखे जाते थे। मानवों में यही विचित्र पशु थे, जैसे पहाड़ी तोते होते हैं, जो आदमी की बोली की नकल करते हैं।

महाराज से आज्ञा लेकर मैं रथ पर आ बैठा और सारथी ने रथ हाँक दिया। अवन्ति राज्य में ऐसी समृद्धि आई थी कि मुझे लोग याद करते तो सम्मान से बोलते थे।

मैं अपने सतखंडे प्रासाद में पाँचवें खंड के सीप-जड़ी भीतों वाले प्रकोष्ठ में बैठकर वातायन से बाहर देखने लगा। अभी वीणा बजाकर रख दी थी।

शिप्रा के जल पर उस समय छोटी-छोटी नौकाएँ चल रही थी। सब कुछ शांत था। यही मेरी पुस्तकें थी। कुछ पुराण थे, कुछ काव्य। नाटक मुझे प्रिय थे। राज्य के गुप्त संवाद मैं घर पर नहीं रखता था। मेरा घर देखकर कोई नहीं कह सकता था कि मैं अमात्य था। थोड़े-से सैनिक अवश्य मेरे अपने थे। वे भी राज्य के वेतन-भोगी नहीं थे। मैं सब कुछ के भीतर रहकर भी सबसे अलग था। सब काम अपने आप ही सुव्यवस्था में बँध गया था।

उस दिन मैं घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मेरी आदत थी इस तरह नगर के बाहर अकेले घूमने की। जिसे भी शिकायत होती थी, मुझसे राह में कहता था। मैंने प्रजा को कभी आतंकित नहीं किया। काम तुरन्त कर देता था, जिससे लोग मेरी जयजय कहते थे। तभी मेरी दृष्टि एक ओर अटक गई।

देखा कि कुछ लोग भुके-से, मैले-से चले आ रहे थे। जैसे बहुत बड़ी विपत्ति उन पर आ गई थी। मुझे आश्चर्य हुआ। अवन्ति राज्य में इतना दारिद्र्य कहाँ था ? सुनता था, गणराज्यों में दासों की हालत खराब थी। मगध भी समृद्ध नहीं था। परन्तु अवन्ति मेरे हाथ में था। मैं जानता था कि जिस दिन क्षत्रियों पर से अंकुश हटेगा उस दिन यहाँ भी दारिद्र्य कम नहीं दीखेगा। मैं उनके पास चला गया।

उफ़ ! वह कैसा क्षण था !

लगा कि आकाश टूट रहा था, धरती फटी जा रही थी। काल का चक्र मैंने घूमते देखा। भाग्य के विकराल अट्टहास ने मानो मेरे कानों को विदीर्ण कर दिया। क्या यह सच था ? क्या मेरी आँखें सचमुच वही देख रही थीं, जो मुझे दिखाई दे रहा था !

पिता ! स्वयं मेरे पिता। श्रेष्ठि धनसार आज चिथड़ों में ढँके थे। माता ! मेरी माता आज भिखारिन बनी खड़ी थी मेरे सामने।

बड़े भैया धनदत्त इस समय पीठ पर बोझा उठाये हुए थे। मँझले भैया धनदेव के गाल बैठ गये थे। मैल उन पर जम गया था और उनकी वह दृष्टि इस समय दयनीय हो गई थी। उनके पीछे छोटे भैया धनचन्द्राधिप बिस्तर सिर पर धरे खड़े थे। देह पर वस्त्र नहीं, घुटनों तक का एक गन्दा कपड़ा। दाढ़ी बढ़ी हुई। और यह थी नतांगी भाभी सुभामा। सूनी कलाइयाँ। कनपटी पर एक घाव का निशान। मुश्किल से बचाये थी अपनी लज्जा। धूल से भरा हुआ था इस समय भाभी सुमुखी का सिर। वह केश जो अगरुधूम पर सूखते थे, सोने की जाली पर फैलकर, वे कड़े पड़ गये थे। उनमें कुगाँठें दीखती थीं। और भाभी अलका की सुकुमार देह इस समय विपण्ण-सी थी।

सब थे पर पज्जा अम्मा न थी; तो क्या वह नहीं रही। यह इनकी ऐसी हालत कैसे हुई ? करोड़ों की वह संपदा कहाँ गई ? भाग्य ! विभीषण ! सब गया ? कौन ले गया ? कहाँ गया सब ? कैसा है वह संचय यदि भाग्य में नहीं है कुछ ? मेरे रोम-रोम में एक आर्त वह्नि-सी सुलग उठी। पीड़ा की मर्मान्तक वेदना से मेरा कलेजा मुँह को आने लगा।

मैं घोड़े से उतर पड़ा और उनके सामने जा खड़ा हुआ। मेरे सिर पर रत्नजटित उष्णीश, देह पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, रत्नजटित आभूषण कि आँखें न ठहर सकें, रत्नजटित मूँठ का खड्ग कटि में ! और वे ! भिखारी ! कँगले !

मुझे देख वे रुक गये। वे मुझे नहीं पहिचान सके। पिता ने देखा कि एक राज्य का उच्च कर्मचारी सामने था। विनम्र हो गये। कोई नहीं बोला, वे जैसे आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। अवाक् होकर ! मैंने पिता के चरणों पर झुककर कहा : 'आपकी यह अवस्था !'

पिता की आँखों में आँसू भर आये। वे मुझे पहचान नही पाये थे। वे आश्चर्य से देखने लगे और तब उन्होंने शून्य की ओर देखकर मुस्कराकर कहा : 'यही मनुष्य का खेल है श्रीमान् ! आता है चला जाता है।'

'पिता !' मैं चिल्ला उठा। उस स्वर को सुनकर वे पुकार उठे। पिता ने मुझे कंठ से लगा लिया और तब वे सब रोने लगे।

यह क्या भाग्य नही था ! जो मर गया था वह जीवित था। जिनके पास था वे नंगे थे और सच यह सब कितना विचित्र था ! मुझे देखकर तीनों भाई भी रोये। माँ का तो कहना ही क्या। भाभियाँ ऐसी हर्षित हो गई जैसे पागल हो गई थीं। केवल पिता ही शीघ्र स्वस्थ हो गये। और मेरी ओर देखकर मुस्कराकर बोले : 'पुत्र ! तू सदा ऐसे ही रह !'

तब माँ ने कहा : 'एक तू मेरा पुत्र हुआ यही मेरे स्त्री-जीवन की सार्थकता हुई। तुझे ऐसा देखा, अब कोई और इच्छा नही रही।'

मैंने कहा : 'पिता ! मेरे लिये आशीष दो अब।'

'अब ! कुछ नही', माँ ने कहा : 'तब तक तेरे पिता ने गृह चलाया। अब मैं चलाती हूँ। जानता है न ? दुख में पुरुष शासन नहीं कर सकता। स्त्री कर सकती है, क्योंकि वह सहिष्णु होती है। यह सब मेरे कारण ही तो एक दूसरे मिले हुए हैं।'

मैं नही समझ सका। कहा : 'माँ ! मैं अब यहाँ प्रधान अमात्य हूँ। किसी बात की कमी नही है। मेरे रहते तुम किसी बात की चिन्ता न करो। मेरे साथ चलो।'

भाभी सुभामा ने कहा : 'देवर ! जिसके लिये जितना है उतना ही रहने दो। दुःख से बुद्धि आती है न ? कर्म जैसे होंगे वैसा ही फल होगा।'

'ठीक बात है।' धनदत्त ने भी कहा।

अलका भाभी ने कहा : 'पिता और माता को ले जाओ देवर ! उनकी सेवा करो। उनका तुम पर अधिकार है। हमारा क्या है ? कौन-सा सुख दिया था तुम्हें जो अब माँगें !'

मैंने कहा : 'भाभी ! क्या यही मानती हो कि हम एक दूसरे को देते हैं। भाभी ! हम तो एक दूसरे का ऋण चुकाते हैं, क्योंकि काल एक व्यापारी है, जो सूद दर सूद मूल में जोड़ता जाता है।'

धनचन्द्राधिप के होंठ काँपने लगे और तब वह रो पड़ा। मैंने कहा : 'रोते क्यों हो भैया ?'

'मुझे क्षमा कर दे धनकुमार ! मुझे क्षमा कर दे ! मैंने पाप किया है ! मैंने पाप किया है ! यह जीवन व्यर्थ है, जिसमें मैंने पिता और माता की घृणा को पाया है। मेरे भी तो ऐसे ही कर्म थे। तू चला आया धनकुमार ! हम सब पागल हो गये। पिता ने सबसे उदासीनता ग्रहण कर ली। माँ हमें देखती तक नहीं थीं। हमारी अवस्था कैसी हो गई धनकुमार·····

मैंने काटकर कहा : 'मुझे मत सुनाओ भैया !' मैंने आँखें पोंछी फिर कहा : 'जो गया वह चला गया। काल कभी लौटता नहीं। अब आगे की बात करो। मैं अभी घर जाता हूँ और अपने विश्वस्त सेवकों को भेजता हूँ। वे वस्त्राभूषण लायेंगे। उन्हें धारण करके वैभव के साथ मेरे घर आना। तुम सबको मेरी शपथ है। पिता ! माता ! भाभियो ! भाइयो ! सब ! आना होगा ! न आओगे तो मैं प्राण दे दूँगा। हँसी नहीं करता।'

मैंने आँखें पोंछीं और वे भी आँसू पोंछ उठे। उनकी दृष्टि में कितना स्नेह था। मैंने कहा : 'भाग्य के हाथों बिगड़ते-बनते रहने में क्या कोई अपमान है ? स्नेह चाहिये। हम मनुष्य उसी के बल जीवित रहते हैं। पिता से मैंने जीवन के चार सत्य सीखे हैं। मनुष्य का वे ही संबल हैं—देना सीखना, स्नेह करना, अपने को मिटाने के लिये तैयार रहना और निरन्तर साधना के लिये कटिबद्ध रहना। यह सब जो कुछ है, सब हमारा नहीं है। धन, वैभव, अधिकार—सब स्वार्थ की भूमिकाएँ है। सब छलना है।'

पिता ने कहा : 'पुत्र ! तू मेरे जीवन की साधना है। तू ही मेरे स्नेह का सत्य है। अब मैं कुछ नहीं कहूँगा। जो तू कहेगा वही होगा।'

माँ ने काटा : 'नहीं। निर्णय मैं दूँगी।'

भाभियाँ हँस पड़ीं।

धनदेव ने कहा : 'तो माँ ही कहे।'

माँ ने कहा : 'जिसे एक दिन इतनी निष्ठुरता से निकल जाने को बाध्य किया था, उसका प्रायश्चित्त तो हुआ ही नहीं।'

'छिः माँ !' मैंने कहा : 'यह और क्या है ? जानती है न ? न्याय अपने

आप चलता है !' और तब मैंने बात बदलने को पूछा : 'और पजा अम्मा कहाँ है ?'

माँ ने आँखें पोंछकर कहा : 'बेचारी नही रही ।'

मैं क्या कहूँ कि मैं वहीं पथ पर ऊखरू बैठकर घुटनों पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगा । उस समय मुझे यह भी ध्यान नहीं रहा कि कोई देखेगा तो क्या कहेगा । मैंने अपनी कटि में हाथ डाला और उन्हीं बहुमूल्य, शव में प्राप्त, रत्नों को निकालकर सामने पटककर मैं चिल्ला उठा : 'पजा अम्मा ! अब इन्हें कौन देखेगा ! अब इनका इतिहास कौन सुनेगा !'

उन रत्नों पर जब सूर्य की किरणें चमकी तो वे सब चौंधिया गये । पिता ने आकाश की ओर देखा और तब मेरी ओर । भाभी सुमुखी ने मुझे उठाया और अपने आँचल से मेरे आँसू पोंछकर कहा : 'देवर ! धैर्य रखो । धैर्य रखो ।'

भाभी अलका ने रत्न बटोरकर मुझे दिये । मैंने कहा : 'यह मेरी भेंट है भाभी ! तुम तीनों को एक, एक !'

और मैं घोड़े पर सवार हो गया । दूर कुछ लोग आ रहे थे । मैं सँभल गया । कहा : 'पिता ! यहीं वृक्ष के नीचे ठहरें । मैं सेवक भेजता हूँ ।'

मैंने घोड़ा मोड़ा और घर की ओर दौड़ा दिया । उस समय मैं बहुत तेज़ी से जा रहा था । शायद पथ में जिन्होंने देखा उन्होंने आश्चर्य भी किया होगा ।

घर आकर मैंने बहलदास से कहा : 'बहल !'

एकान्त में मैंने अपने उस विश्वस्त भृत्य को सब कुछ समझाकर कहा : 'गौरव के अनुकूल करना सब ।'

कुछ ही देर में वह सारथि बाहुक के साथ रथों को लेकर चला गया । प्रासाद से कंचुक आया । महाराज ने बुलवाया था । मैंने कहा : 'कंचुक ! आर्य ! अभी संवाद आया है कि मेरे माता, पिता, भाई और भाभियाँ आ रहे हैं । इस समय मेरा उनके स्वागत के लिये ठहरे रहना आवश्यक है । फिर भी यदि महाराज की आज्ञा हो तो अभी उपस्थित होऊँ । आप यह पूछकर मुझे सूचित करने का कष्ट करें । यदि मुझे जाना पड़े तो आप यहाँ मेरी जगह ठहरें ।' संध्या हो गई थी । दासी चपला ने दीप जला दिया । मैंने देखा । बाहर रथ रुके । मेरे माता-पिता भाई-भाभियाँ उतरे । वे आभूषणों और रेशमी

वस्त्रों में कितने भव्य लगते थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। तभी कंचुक आये और बोले : 'स्वागत ! मुझे महाराज ने स्वयं भेजा है।'

वे भीतर आ गये तब कंचुक ने ताली बजाई। दास-दासियों ने वस्त्रों, रत्नों, आभूषणों, मिष्टान्नों, फलों, गंध और मालाओं के थाल रखकर उघार दिये। वह प्रासाद की ओर से स्वागत था।

यह देख भाभी सुभामा ने कंचुक से कहा : 'आर्य ! हमारा प्रणाम विनत महाराज से निवेदन करें। कहें हम दीन वैश्य हैं। महाराज के सामने क्या आयें। उतना साहस हममें कहाँ ? इस योग्य भी नहीं।' और मैं समझा कि अब जीवन क्या होगा क्योंकि भाभी ने वही बहुमूल्य रत्न निकाला, जिसे देख सुमुखी और अलका ने भी अपने रत्न निकाल लिये। और एक रत्नजटित सुवर्णथाल उठाकर उन्होंने उसमें तीनों रत्न रखकर कहा : 'आर्य ! यह तुच्छ भेंट महाराज के श्रीचरणों में हमारी ओर से समर्पित करें।'

'किन्तु वह मेरी भूल है भाभी !' मैंने कहा : 'कल सब प्रासाद चलेंगे। यह मैं तुमसे अभी कह नहीं पाया। जो हो ! आर्य जानें। भाभी जानें।'

कंचुक के नेत्र उन रत्नों की दीप्ति से तड़प गये। वृद्ध ब्राह्मण ने हाथ उठाकर तीनों को आशीष दिया : 'सौभाग्यवती हों। पुत्रवती हों ! सास-ससुर और पतियों-देवरों का तुम्हें सदैव सुख मिले। लोक में तुम्हारा गौरव जागे। मैं महाराज के चरणों में अभी इन्हें समर्पित करूँगा। वे अंतःपुर में ही हैं। वहीं महारानी भी हैं।'

देकर भाभियाँ कितनी प्रसन्न थीं। मैंने भोजन के समय कहा : 'भाभी सुभामा ! तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है ! बहुत निर्मल !'

भाभी ने खीर का पात्र उठाकर परोसते हुए कहा : 'हाँ देवर ! यों न मानूंगी इस प्रशंसा से। मुझे तुम ठग नहीं सकते।'

माँ ने कहा : 'समझा पुत्र ! तेरी भाभियाँ अब देवरानी चाहती है।'

यों जीवन सुखमय हो गया।

दूसरे दिन पिता ने कहा : 'वत्स धन !'

मैंने कहा : 'पिता !'

'अब तू मेरा मित्र होने के योग्य हुआ।'

'मैं आपका वही पुत्र हूँ।'

'हाँ, हाँ ! ठीक है। यही तेरा धर्म है। परन्तु पुत्र अब मेरा मन भर गया। सोचता था, शायद जीवन के अन्त में मुझे दुख और दारिद्रय ही भोगना पड़ेगा, पर अब ऐसा कुछ नहीं होगा। अब मैं निश्चिन्त होकर जा सकता हूँ।'

'आप कहाँ जायेंगे ?'

'जीवन की संध्या कहाँ ले जाती है पुत्र ?'

'परन्तु अब वानप्रस्थ कहाँ रहा पिता ! अब तो ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी यह आश्रम कोई नहीं निबाहता।'

'किन्तु अन्त की यात्रा तो अब भी बाकी है।'

मैं समझ गया। मृत्यु काल समीप जानकर, या जीवन से ऊबकर लोग उत्तर दिशा की ओर मुँह करके चलने लगते थे। चलते चले जाते थे, न खाते थे, न पीते थे···जहाँ गिर गये, वहीं मर गये न दाह···न संस्कार···

'वह आत्महत्या है पिता !' मैंने कहा : 'त्याज्य है। उससे क्या लाभ ?'

सुनकर वे कहने लगे : 'लाभ ? जीवन का ही क्या लाभ है पुत्र ! जीवित रहना एक विवशता है। इतने दिन मैं जिया, सब कुछ हुआ, धन भी कमाया, विवाह भी किया, पुत्र हुए। उनके भी विवाह हुए, अब उनके पुत्र भी होंगे, किन्तु मैं आया और चला गया। क्या मैं एक माध्यम भर था ? क्यों आया मैं और क्यों चला जाऊँगा.? परन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है। मनुष्य कर्मफल को नहीं छोड़ सकता।'

मैंने कहा : 'इस समय तनिक आज्ञा दीजिये। मैं महाराज की सेवा में जा रहा हूँ। उन्होंने बुलाया है।'

'अवश्य जा पुत्र ! तेरा कल्याण हो !'

मैं चला आया।

जब मैं राजप्रासाद में पहुँचा मेरा और भी अधिक सत्कार हुआ। भाभियों के रत्नों ने महाराज को द्वार पर खड़ा दिखाया।

यों कई दिन बीत गये। मेरा सम्बन्ध अब महाराज से भी अधिक हो गया। मेरे परिवार के वैभव की कथा जानकर तो बस वे प्रसन्न ही हो गये। प्रमाण थे रत्न। मैंने भाभियों को फिर एक-एक रत्न दे दिया था जो वे सोने में जड़वाकर गले में डाले थीं।

इन्हीं दिनों पता चला कि महाराज श्रेणिक बिंबसार का अम्बपाली से मिलना-जुलना बन्द हो गया था परन्तु अम्बपाली से उत्पन्न उनका पुत्र अभय-कुमार उनका प्रिय था। अम्बपाली और बिंबसार का सम्बन्ध ही वज्जियों और मागधों का सम्बन्ध था। अम्बपाली को नगरवधू बनाया था गण क्षत्रियों की लालसा ने। और गण क्षत्रिय ऐसे कट्टर थे कि हज़ार बुराई होने पर भी अपनी व्यवस्था, अपने द्वारा प्रतिपालित दासत्व, असाम्य, दमन और हिंसा को स्वर्ग-तुलनीय मानते थे। गर्व तो उनमें ऐसा था कि पूछो ही नहीं। मैं महाराज से मिलता तो देखता कि वे न जाने क्यों चंचल हो रहे थे। वे एक बार अब मगध से लड़ना चाहते थे। महाराज का क्रोध चण्ड था तभी तो प्रद्योत के साथ उन्होंने अपना विक्रम दिखाने को स्वयं चण्ड जोड़ लिया था। मुझसे उनका व्यवहार बहुत मीठा था। वे कभी-कभी प्रासाद की छत से झुककर हाथियों की लड़ाई देखते, कभी सिंहों की। एक बार एक गेंडा और काला शेर लड़ाया। एक बार रीछों का युद्ध देखा। इनमें उनका क्षत्रियत्व जाग्रत रहता था। मांस खाने की रुचि अद्भुत थी। प्रायः प्रत्येक देश का एक मांस पकाने वाला रसोइया उन्होंने रख छोड़ा था, जिनमें एक पारसीक तक था।

समय बीतता रहा। मेरे मन का साथी था केवल संगीत; और सब होकर भी नहीं था।

पिता, माता, भाई, भाभियों की मैं जहाँ तक होता स्वयं देखभाल करता। रात के समय हम मिल-बैठकर मौका पाते तो खूब बातें भी करते। एक रात की वह। पिता से मैंने कहा : 'किन्तु अब ऐसी क्या परेशानी है जो आप संसार-त्याग करना चाहते है ?'

'तुम ठीक कहते हो,' पिता ने कहा : 'परन्तु मैंने यह वैराग्य तुमसे ही सीखा है।'

'सो कैसे ?' मैने विस्मय से पूछा।

'तुमने यही नहीं पूछा कि हमारी अवस्था कैसे बिगड़ गई थी !'

मैंने कहा : 'आर्य ! उससे आपको कही कष्ट न पहुँचे, यही सोचकर चुप रहा। कही जानने पर भाई सोचते कि वह सब पूछकर हमें चिढ़ा रहा है।'

पिता मुस्कराये। कहा : 'पुत्र ! तू बहुत चतुर हो गया है।'

मैंने हाथ जोड़कर कहा : 'यह प्रासाद भी तो श्रीचरणों का ही है !'

'पुत्र,' पिता ने कहा : 'तेरे आने के पहले महाराज ने तेजुत्तरी रेत क सोना बनवा लिया और प्रसन्न थे। परन्तु जिस रात तू चला आया, ठीक सबे ही उन्हें तेरी कोई आवश्यकता पड़ी। वहाँ तू था नहीं। वह एकदम क्रुद्ध हो उठा। राजा भला किसका मित्र! चाटुकारों ने लगा-लगूकर भड़का दिया नगर भर में प्रसिद्ध हो गया कि भाइयों ने उसे मार डालना चाहा था, तभ वह भाग गया। यह पज्जा की आकस्मिक मृत्यु ने पक्का कर डाला। राजा ने बुलाकर इन तीनों को खूब डाँटा। यह मूर्ख प्रसन्न थे ही। हालत यह हुई कि मैंने सबसे मिलना-जुलना बन्द कर दिया। तेरी माँ मेरे पास आ गई। केवल वधू थीं, जो उन्हें समझाने की चेष्टा करती। इन तीनों ने एक दूकान खोली मेरा सारा रुपया लगा डाला। परन्तु खर्च आय से बढ़कर रहने लगा। नौक छा गये। और उसी समय रानी के आभूषण चोरी गये। दासियों ने लाक इन्हें सस्ते मद्दे बेचे। मूर्खों ने खरीद लिये। सुभामा ने बहुत समझाया कि इतने सस्ते मिलने का कारण यही हो सकता है कि यह चोरी के हैं। पर कौन मानत था वहाँ? ले ही लिये और वधू बिचारी चुप हो गई। दासियाँ पकड़ी गईं एक दिन। राजा की चोरी क्या छिपती है? नाम ले दिया उन्होंने और तीनों पक गये। सारा नगर विरुद्ध था ही। राजकुमार अरिमर्दन ने तुरन्त मेरी सार सम्पत्ति को राजकोष में डाल दिया। बस अब बचा वह धन जो तूने भाभिय को दिया था। कहा: स्त्री धन है।—तब छूटे। उस दारिद्र्य में वहीं स्वजनों के बीच रहना असम्भव हो गया। हम लोग रात को पुरपइठान से बचा मा लेकर भाग निकले, परन्तु देव को यह कब स्वीकृत था। चोरों ने हमें वन में नंगा कर दिया और तब हम मजूरी करते, पेट पालते हुए चल पड़े। उस अवस्था में तूने हमें देखा था। वह तो तू जानता ही है।'

मैं सोचने लगा कि यह सब क्यों हुआ? दैव के ही तो कारण हुआ मुझसे छीना था सब। स्वयं सब छिन गया। सचमुच, इस धन से मनुष्य क जो सम्बन्ध रहता है, उस सम्बन्ध में हृदय की जो लिप्ति अथवा निर्लिप्ति होत है, वही हमारे पाप-पुण्य का भार वहन करती है। पिता के कहने पर मैंने भ अपनी कथा सुना दी, पर शव की बात नही कही। और एक रत्न भी दिया अब मेरे पास चार रत्न बाकी थे।

वह रत्न देखकर पिता ने कहा : 'पुत्र! इसका मूल्य जानता है?'

'नहीं, क्यों जानता पिता ?'

'इस अकेले के मूल्य में पुरपइठान का मेरा सारा वैभव था। इसका मतलब है कि मैंने कुछ भी नहीं खोया। दैव ने केवल दण्ड दिया था।'

फिर पुकारकर कहा · 'धनदेव !'

धनदेव आये।

पिता ने कहा : 'भाइयों को भी ले आ।'

तीनों आ गये तब पिता ने कहा : 'पुत्रो ! धनवत्स ने तीन रत्न भाभियों को दिये थे। देखे थे तुमने ? वे राजा के पास पहुँच गये। फिर तीन और दिये। वे उनसे बहुमूल्य थे। यह देखते हो अब !'

रखा पिता ने नीले मखमल पर।

'अरे !' तीनों कह उठे।

'यह आपने दिया है धन वत्स को ?' धनदेव ने कहा।

पिता का मुख स्याह हो गया।

'मैंने दिया है ?' वे झल्लाये : 'मेरे पास था क्या जो देता ! मैं तुम्हारे साथ रास्ते पर मजूरी करता था। क्या मतलब है तुम्हारा कि मैं इसे छिपाये हुए था, जब परिवार सड़क पर पत्थर तोड़ रहा था ? तुम्हारा मतलब है कि मुझे रत्न अपने बच्चों, बहुओं और पत्नी से भी ज्यादा प्यारा है ?'

धनचन्द्राधिप ने कहा : 'क्षमा करिये पिता ! भैया, तुम्हें सोचकर बात करनी चाहिये।'

'तू भी,' धनदेव ने कहा : 'ऐसा कहता है !'

'तो, पूरी बात कह न कुलाङ्गार !' पिता हाँफ उठे।

वह स्वर इतना उठ गया कि भाभियाँ आ गईं। माँ भी। दास-दासियाँ ताक-झाँक करने लगीं। मैंने तो उस मामले को वहीं रोकना चाहा। परन्तु पिता क्रोध के कारण मूर्च्छित हो गये। धनदेव चला गया बाहर के प्रकोष्ठ में। धनदत्त धीरे-धीरे गया। नहीं गया चन्द्राधिप। पिता ने जागने के बाद कहा : 'वत्स धन ! यह रत्न तू ही रख। किसीको कुछ न देना। सबको निकाल यहाँ से। कमा-कर खा लेंगे। माँ को रख ले अपनी। मैं संन्यास लिये लेता हूँ।' कोई कुछ नहीं बोला।

फिर यों ही छः दिन बीत गये। सातवीं रात मैं सोने को था तो भाभी

सुमुखी मेरी शय्या के पास बैठ गईं आकर।

मैंने कहा : 'भाभी ! कैसे आई ?'

उन्होंने ग्लानि से मुँह छिपा लिया और कहा : 'देवर ! जिस स्त्री का पति कृतघ्न और पापी हो, वह स्त्री क्या करे ! ऐसी स्त्री का पति के प्रति क्या कर्तव्य है ? क्या स्त्री हर अवस्था में पति के साथ बँधी हुई है ? जड़ प्रतिहिंसा में डूबे हुए पुरुष ही के साथ क्या स्त्री भी डूबने को बाध्य है ?'

घृणा से मेरा मन विषाक्त हो गया। कहा : 'क्या हुआ ?'

'वे कहते हैं कि यही रत्न पिता ने तुम्हें घर छोड़ते समय दिये होंगे चुपचाप। पुत्रों से छल करने के कारण ही वृद्धावस्था में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। देवर ने समझाया भी।'

'कौन ? छोटे भैया धनचन्द्राधिप ने ? और बड़े नहीं बोले ?'

'देवर! धन्य भाग्य है अलका का, सुभामा और मैं तो कहीं की न रहीं। माँ मुझे नहीं देखना चाहतीं। मेरा क्या दोष है इसमें ? सुभामा जिठानी को काटो तो लहू न मिलेगा। देवर, हमें विष ला दो।'

और तब मैंने रत्नों को निकाला और कहा : 'भाभी ! इन्हीं रत्नों का झगड़ा है न ?'

चारों रत्न पहले वालों से बड़े थे। मैंने कहा : 'देखो भाभी ! तीन पहले दिये, वे महाराज को पहुँचे। तीन तुम्हारे पास हैं, तीनों के। एक पिता के पास है। बाकी बचे पाँच। कुल बारह थे। यह रहे चार। तीनों को एक-एक दे दो। एक माँ को। मेरा वाला मैंने पहले ही ले लिया।'

'छिः' भाभी ने कहा : 'ले लो। पत्थर दो पत्थर देवर ! हमें निकाल दो। भूखे मरेंगे, आप ठिकाने आ जायेगी अकल। जिठानी माता होने वाली हैं।'

'अरे, सच !' मैंने कहा : 'मेरे भतीजा होगा !'

मेरा उल्लास छिपा नहीं। भाभी ने कहा : 'तू देवता है देवर ! तू देवता है कोई !'

भाभी मेरे चरण पकड़कर रोने लगीं।

मैंने पाँव हटाकर उनके पाँव छूकर हाथ आँखों से लगाये और कहा : 'भाभी ! मुझसे पाप कराती है तू ?'

आज हम 'तू' पर आये थे।

'अच्छा तेरा-वाला कहाँ है ?' भामी ने पूछा।

'है मेरे पास !' मैंने सिर हिलाकर कहा।

'मुझे दिखा।'

'हाँ दिखा दूँगा।'

'तो वह मुझे दे दे।'

'क्यों भाभी ! वह क्यों दूँ ?'

'अपना वाला और तेरावाला मिलाकर हार बनवाऊँगी और अब आयेगी न देवरानी उसे पहनाऊँगी।'

अब शान्ति छा गई थी। मैंने कहा : 'वह कहाँ से आ गई भाभी ! पर मेरावाला तो पानी में गिर गया।'

'वह कैसे ?'

मैने कहा : 'भाभी ! यह धन कहाँ मिला जानती है ?'

तब मैंने शव वाली कहानी सुनाई और बताया कि अपना भाग मैने नर्मदा में डाल दिया था। वह स्तब्ध-सी सुनती रही। अवाक्। फिर मैने कहा : 'सो भाभी ! ऐसा है यह धन ! सच तो यह है भाभी ! मेरे भाग में सिर्फ़ हाथ-पाँव और बुद्धि की कमाई है। यह सब जो हैं न ? यह मुझे मार के प्रलोभन हैं।'

किन्तु मैं नही कह सका कि इसीलिये यह धन तुम भी मत लो।

'जा भाभी ! चैन से सो। यह रत्न बाँट दे। और झगड़ा बन्द हो जायगा।'

भाभी बड़ी किंकर्तव्यविमूढ़-सी बैठी रही।

तब मैने कहा : 'जा भाभी ! नीद आ रही है। सबेरे ही बुलावा आया तो राजा के यहाँ दौड़ना पड़ेगा। राजा की नौकरी आग पर खेलना समझ। अब वह श्रेष्ठियों वाला ठाठ नही है कि मन लगा तो किया, नही तो छोड़ दिया।'

'तो तू व्यापार ही जो कर ले।' भाभी ने कहा।

मैंने कहा : 'करना क्या है भाभी ! मैने अपनी इच्छा से किया ही क्या है ? मैं तो देख रहा हूँ कि मुझे किस तरह खिलाया जा रहा है। भाभी ! तुम जिस तरह धनकुमार को देखती हो न ? उसी तरह मैं भी इसे अलग से देखा करता हूँ। यह नामरूप का जो संगठन है जिसे धनकुमार कहकर लोग पहचानते हैं, उसे मैं भी दूर से देखा करता हूँ !'

भाभी कुछ नहीं समझ पाई थी ।

और तभी आ गया हूँ आज फिर मैं इस राह पर, जिस पर हज़ारों चल चुके हैं । लाखों, करोड़ों ! सम्भवतः पद्म, नील, और न जाने कितने मनुष्य ! क्यों कर्मचक्र में फँसे ? पारिवारिक जीवन की उस घृणा ने मुझे फिर उखाड़ दिया ! और भी एक कारण था । चण्डप्रद्योत की तृष्णा । मगध से युद्ध की तृष्णा । वह चाहता था युद्ध । और मैंने सोचा कि युद्ध होगा । जो व्यवस्था मैंने बनाई है वह अवश्य नष्ट हो जायेगी । मगध इतना निर्बल नहीं कि अवन्ति जीत ले । एक महान राष्ट्र बने, शान्ति हो, वह तो ठीक है । परन्तु परस्पर शक्तियों का टकराना कैसे ठीक होगा ? समान बल वालों को तो सन्धि कर लेना उचित है । युद्ध में हत्या होगी ! अकारण ही इन क्षत्रियों की विक्रम-लोलुपता से लहू बहेगा ! और मैं चुपचाप चला आया हूँ । अब जो हो सो हो । मेरे रोके वह रुकेगा नहीं, फिर रोकूँगा सामने जाकर तो मुझे और परिवार को कष्ट देगा । पर अब कहाँ जाऊँ ?

अब प्रद्योत मुझे नहीं पायेगा । समझेगा कि शायद ब्याह का ज़ोर दिया होगा घर वालों ने । चल दिया मनमौजी । मुझसे उसने युद्ध के विषय में कहा ही कब है ? मुझसे भी उसने इस बात को गुप्त रखा । ऐसा है वह क्षत्रिय ? सोचा होगा कि पार्श्वनाथ का अनुयायी है, कहीं उगल न दे अपना विरोध ! बना-बनाया अमात्य क्यों बिगाड़ूँ ।

वत्स धन ! यह है जीवन का खेल । अब पिता क्या करेंगे ? धनदेव पर सारा घर टूटेगा । धनदत्त पर भी । टूटने दो । परन्तु मैंने उन्हें इतना समृद्ध छोड़ा है कि वे जीवन भर आराम से बैठकर खा सकते है । अरे दुख का क्या है; आता है, तो लोग झेल भी लेते ही हैं । अब मेरा भतीजा होगा । पौत्र दीखेगा तो दादा-दादी सब भूल जायेंगे । वह न जाने कैसा भाग्य लेकर आयेगा ! ऐसे किस-किस का हिसाब कर सकता हूँ मैं ? पर वह जो आने वाला है, वह भी उतना ही महत्व रखेगा इस लोक में, जितना हममें से कोई रखता है ।

यह जीवन यों ही चलता चला जायेगा ।

पर यह कैसी बात है कि आज मुझे उतनी उद्विग्नता नहीं, जितनी पहली बार घर छोड़ने पर हुई थी । जैसे अब आदत-सी हो गई है ।

चण्ड प्रद्योत तू सुखी हो, सद्बुद्धि पाये । तूने मुझे आश्रय दिया । मैंने तेरी

सेवा की। परन्तु अब मुझे तुमसे डर लगता है। जिधर तू जा रहा है, वह तेरे वर्ण का भले ही धर्म हो, मेरे वर्ण का, मेरे मनुष्य का नहीं है। मैं जानता हूँ कि तुझे अवन्ति के श्रेष्ठि भड़का रहे हैं। वे मगध की संपदा के लिये आतुर हैं। लेकिन अभय के रहते वज्जिय मगध के हैं, और कुणिक के रहते कोसल भी मगध के पीछे है। तू स्वयं हठीला है कि वत्स का शतानीक भी तेरा मित्र नहीं है। अब तो तपोवन से उसका पुत्र उदयन भी आ गया है १६ वर्ष का होकर! यदि तू मेरी राय के मुताबिक वासवदत्ता का उदयन से सम्बन्ध जोड़ने की बात करता तो वत्स तो तेरा होता! परन्तु तू ठहरा दुरभिमानी! उदयन को तो कहते हैं, काम भी देखकर लजा जाता है।

तो चलो वत्स धन! मगध! कोसल! काशी! अब उन्हें देखे जिनका यश है इतना! दार्शनिक! अजितकेस कम्बल! काश्यप! मौद्गल्यायन! परन्तु क्या देंगे वे मुझे? कुछ नहीं। न सही। दुनिया तो देखने को मिलेगी। हो सका तो तक्षशिला भी चलेगे। चलते रहना वत्स धन! जीवन है ही क्या! अनुभवों के संस्कारों का पुंज!

आज मुझे केवल जिज्ञासा है। आज वह पहले वाली विह्वलता नहीं। आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या हो सकता है?

एक बार मुड़कर देख लूँ। रात के चन्द्रमा! उस दिन भी तूने ही पथ दिखाया था। अवन्ति भूमि प्रणाम! उज्जयिनी! तेरी गोद में कवियों और दार्शनिकों के अनमोल वचन सुने। देश-विदेश के व्यक्ति देखे! ले अब मेरा प्रणाम ले! वत्स धन जा रहा है। वह बँधकर रहना नहीं चाहता। वह आत्मा को भींचकर नहीं रहना चाहता। वह तो यात्री है। जैसा आया है, वैसा ही चला जायेगा।

३

छोड़ आया हूँ सब कुछ। नहीं, मैं छोड़ दिया गया हूँ। नहीं, मैं अभी नहीं छूटा हूँ।

आकाश में अनन्त नक्षत्र बिखरे हुए हैं। चारों ओर नीरवता छा रही है। और मैं अकेला बैठा सोच रहा हूँ।

क्या सोच रहा हूँ मैं? सोचता हूँ कि जीवन के समस्त कोलाहल का क्या हुआ। मृत्यु आयेगी। मैं उनमें मिल जाऊँगा। मेरे अंग-अंग सब प्रकृति के विभिन्न तत्वों में मिल जायेंगे। और तब यह धनकुमार कहाँ रहेगा। नामधेय का अन्त हो जायेगा जिस दिन उसके बाद क्या लोक नहीं रहेगा? मेरे मर जाने के बाद कौन सोचेगा कि एक दिन मैं भी था; जिसमें वेदना थी, प्यार था, और था सब कुछ जो मनुष्य में होना चाहिये। हज़ारों वर्ष बाद तक भी यदि मेरे नाम बच गया तो उससे मुझे क्या मिलेगा? क्या मिलता है मान्धाता को, क्या मिलता है दधीचि को! लोग मुझे जानते हैं। बच्चा-बच्चा मेरा नाम लेता है। परन्तु इसका मूल्य क्या है? कुछ नहीं।

वासनाएँ अपना केन्द्र आत्मा में बनाती हैं। यह आत्मा ही तो है जो है। वह शाक्य सिद्धार्थ जो अपने को बुद्ध कहता है, वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, क्योंकि यहाँ तो सब कुछ क्षण-क्षण बदल रहा है। तब फिर पाप-पुण्य और पुनर्जन्म है ही क्या? मेरा मन नहीं मानता उसे। मुझे यही पथ अच्छा लगा है। यही पथ मुझे भाया है। सिंह सेनापति बुद्ध की ओर चला गया है, तीर्थंकर के वचन को अविश्वास के योग्य समझकर? क्षत्रिय ठहरा। वह तो

चाहता ही ऐसा धर्म है जिसमें गणक्षत्रिय आत्मा के पुनर्जन्म के भय से मुक्त हो जायें। गर्व बना रहे क्षत्रियत्व का। मैं वैश्य हूँ और सदैव ही मैंने दया का पालन किया है। और तभी मैं आया हूँ वर्द्धमान की शरण में।

किन्तु क्या यही मनुष्य का अन्तिम सत्य है? मैं नहीं जानता। शायद जानूँगा भी नहीं। परन्तु यही मुझे भाता है, क्योंकि मैं पीड़ा चाहता हूँ। और इसी मार्ग में है वह पीड़ा। मनुष्य के गर्व का खण्डन करने को उसे पीड़ा ही चाहिये। और क्योंकि इस पथ में यातना है, मुझे यही चाहिये। यातना! मनुष्य बर्बर है। आज भी बर्बर है। उसे अपने अहंकार का गर्व है। किसलिये? क्योंकि वह अपने को ही सबका केन्द्र बनाता है। यह संसार इतना पुराना हो चुका है कि मनुष्य अपने सुख को भूल चुका है। क्या है मनुष्य का सुख?

कहते हैं, एक समय था जब सब संसार सुखी था, तब न द्वेष था, न तब घृणा थी, न तब धन था, न ही था कहीं अहंकार। वह युगलिया संस्कृति थी। एक पुरुष और एक स्त्री जन्म लेते थे। वे भाई बहिन होते थे। वे ही परस्पर विवाह करते थे। और उनकी भी युगलिया-संतान होती थी। उस संसार में शान्ति थी। वृक्ष इच्छाफल देते थे। तब मनुष्य को परिश्रम नहीं करना पड़ता था। फिर पुण्य-क्षय का क्रम प्रारम्भ हुआ। वृक्षों ने इच्छाफल देना बंद कर दिया। कृषि प्रारम्भ हुई। युगलिया संतान का होना बंद हो गया और यह पृथ्वी पाप का वास बन गई। प्रकृति की गोद में रहने वाला मनुष्य अपने रूप से लज्जा करने लगा। पहले जो नियम से मैथुन करता था, पहले जिसके अंग उसके संयम में थे, वह उन पर से अपना अधिकार खो बैठा। तब उसे लज्जा हुई और वह अपने को, अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करने लगा। तब लोभ, ईर्ष्या, अत्याचार, अहंकार, झूठ, हत्या और अन्य पापों ने सिर उठाया। पहले यह पृथ्वी स्वर्ग थी। तब स्वर्ग अलग हो गया और आत्माओं के कर्मों के पापों ने नरकों की सृष्टि की और फिर यह चक्र प्रारम्भ हो गया, जिसमें पड़े हुए हम इतनी साँसत सह रहे हैं। तब तीर्थंकर जागे। उन्होंने संसार का त्याग किया। वे फिर नग्न हो गये और उसी पुण्यवान मानव स्वरूप को उन्होंने प्राप्त किया और वे प्रायश्चित्त करके, तप करके पापों को धोने लगे। वह पाप, कर्मों के द्वारा जन्मान्तर तक, शताब्दियों तक उतर गया था। उन्होंने बताया कि मनुष्य ने भुला दिया था अहिंसा को, अस्तेय को, सत्य को, ब्रह्मचर्य

को। तभी वह अपने प्रारम्भिक पुण्यमय स्वरूप से दूर हो गया था। उन्होंने कहा कि जाति-घृणा व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि मनुष्य तप करके शुद्ध हो सकता है और लोक के लिये उन्होंने घोर तप करके पृथ्वी पर पुण्य का उदय किया। वीतराग का पुण्योदय लोक में बार-बार मंगल की स्थापना करने लगा। अनेक बार जब-जब लोक भटका है तब-तब तीर्थंकर हुए और किसलिये ? इस आत्मा का कल्याण करने को। और हम फिर भी वासनाओं में पड़े तड़प रहे हैं ! हम केवल बाह्य के पीछे अन्तस्थ को भूल बैठे हैं।

प्रकृति निरन्तर बदल रही है। निस्सन्देह कोई परमात्मा नहीं है। यदि वह होता, तो इस लोक में बुराई होती ही क्यों ? वह इस प्रकार खेल खिलाता ही क्यों ? यह तो प्रकृति है, जो सत् और असत् का मिलन बन के पड़ी है। इसमें कार्यानुसार ही परिणाम मिलता है।

और जो मैं यह सब सोच रहा हूँ, क्या मैं अब भी सचमुच कह सकता हूँ कि अब मैं ऐसे कर्म में लग गया हूँ कि मुझे कोई भय नहीं है ?

उधर शालिभद्र सो रहा है। पत्थरों पर। क्या वह पत्थर पर सो सकता था ? मैं ! मैंने तो जीवन के उतार-चढ़ाव भी देखे हैं। परन्तु इसने ? लेकिन यह मैं सोचता ही क्यों हूँ ? रेशम और मखमल के वे गद्दे वास्तविक सुख हैं ही कब ! जब से मनुष्य ने उस सबको सुख समझा है, सारा संसार उसीको सुख समझ बैठा है। सुख मनुष्य का क्या है ? पृथ्वी का शमन। इस झूठे सुख की ओर भटकते हुए मन को दबाना ही धर्म है। फिर मनुष्य पृथ्वी पर लौट आये। क्या यह हो सकेगा ? परन्तु लोक ! क्या सब ही कर सकेंगे ऐसा ? नहीं। उन्हीं के लिये तो तीर्थंकर अपना बलिदान देते हैं। उनका अक्षय प्रकाश युगान्तर तक अंधकार में सांत्वना दिया करता है।

मनुष्य सदैव प्रयत्न करता है। निरन्तर। अंधकार में पड़ा हुआ वह वासना का क्रम-विकास बढ़ाता है, परन्तु जब वह उजाले में आ जाता है तब उसका दूसरा विकास प्रारम्भ हो जाता है। तो क्या था मेरा जीवन ? वासना का विकास या विरक्ति के विशाल सिंह द्वार में घुसने की चेष्टा ?

आज मैं नगर में भिक्षा माँगकर लौटा हूँ। मैं ! महा श्रेष्ठि धनकुमार ! और किसीने भी पहचाना तक नहीं ! माँगना है निकृष्ट ! तभी तो उसमें अहंकार मरता है। देते रहने ने सदैव मुझे अहंकार दिया है और एक दिन के

माँगने ने मुझे हिलाकर धर दिया है।

तो क्या मैं इतने दिन तक अपने को धोखा ही देता रहा हूँ ? मैंने लोक का कल्याण करने की चेष्टा की, परन्तु क्या लोक का दुख समाप्त हो गया ? निस्सन्देह यह व्यक्ति का कर्म नहीं। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को उठना होगा। क्या यह सम्भव हो सकेगा ? मैं आ गया हूँ। परन्तु मेरी वे पत्नियाँ ?

भूल जा धनकुमार ! इसे भूल जा !

पर मन तो नहीं भूलता। यह संस्कारों में निहित वासना है। यह कैसे छूट सकेगी ! और मुझे याद आ रहा है।

उस दिन जब मैं घर छोड़कर उज्जयिनी से चला तो मेरे सामने कोई पथ नही था। कहाँ जाऊँ ?

कौन-सा पथ है ? मैं कहाँ जाऊँ ? भोग चुका हूँ मैं राज्य का सुख। क्या है वह ? एक महाराज ! हम सब चारों ओर फैले हुए प्राणी। सब अपने-अपने स्वार्थ में लीन। भय और अविश्वास में डूबे रहे। रिश्वत की शकल में भेंट देते रहे। अपने से नीचे वाले के लिये शेर, अपने से ऊपर वाले के सामने कुत्ता। विडम्बना ही तो है यह अधिकार की छलना।

मार्ग कई हैं। कौन-सा पकड़ूँ ? किधर जाने का है मुझे अधिकार ? फिर वही अधिकार याद आ गया मुझे। यह सारा अधिकार मनुष्य का मनुष्य के ही लिये तो है। क्या यह सूर्य, यह चन्द्र उसके अधिकार में हैं ? क्या वर्षा उसके अधिकार में है ? क्या जीवन और मृत्यु भी उसके अधिकार में हैं ? कोई नहीं। एक भी तो नही। फिर मैं अधिकार के लिये क्यों कचोट खा रहा हूँ ?

सामने वन आ गया। सघन हरियाली फैली हुई थी। सब कुछ बड़ा सुरम्य लगता था। तब समझा कि सौन्दर्य एक बाह्य छवि है। उसकी वास्तविकता क्या है ? जैसे मनुष्य ऊपर से सुन्दर है, उसके भीतर क्या भरा है ? मल, मांस, रक्त और ··

नगर छोटे हैं, राज्य छोटे हैं। उनके दायरे बहुत छोटे-छोटे-से हैं। संसार वन है। क्या सारे संसार में अधिकतर वन ही हैं ? दो राज्यों के बीच-बीच में यह भयानक वन ऐसे ही है जैसे मनुष्य की यात्रा में बीच-बीच में संकट आ जाया करते हैं। इसी पृथ्वी के ऊपर पर्वत हैं। वे खड़े ही रहते है। कहीं भी उनका गौरव नीचे झाँककर नहीं देखता। कहते हैं पर्वत बहुत पुराने हैं। अगम्य शिखर वाले

यह गिरि मनुष्य से भी पुरातन हैं। कहते हैं पहले यह उड़ते थे। बाद में इनके पंख काट दिये गये। सचमुच इनका अधिकार कितना भयानक रहा होगा? ऐसे ही शिखर हैं हिमालय में। लालसा जाग उठी देखूँ वे गगनचुम्बी शिखर, वे शिखर जिन पर सदैव कुहर छाया हुआ रहता है, जिनके भीतर निरन्तर एक रहस्य का सिरजन हुआ करता है। उसे पर्दा-सा डालकर यह प्रकृति मनुष्य से छिपाये रहती है। सुनसान! वहाँ मनुष्य कभी भी नहीं पहुँच पाता। यह जो शताब्दियों से मनुष्य इस पृथ्वी का स्वामी है, यह कभी वहाँ तक नहीं पहुँचा!!

पथ फैल गया। मैं चल पड़ा। मार्ग में मैंने अनेक रूप देखे। मैंने देखे कमकर। वे प्रसन्न थे कि वे अब दास नहीं रहे थे। वे अपने पूर्वजों के बारे में कहते थे कि वे पशुओं से भी गये-बीते जीवन बिताते थे। वे कहते थे कि जीवन अच्छा होता जा रहा था, परन्तु फिर पतन आने लगा है। पता नहीं क्यों ऐसा हुआ! मैंने देखे मार्ग में चाण्डाल। उनकी बस्तियों में भी मैं रहा। मैंने वह जीवन भी देखा। उनके वृद्ध पुरानी कहानियाँ सुनाते थे, जब वे ही संसार के शासक थे। कौन जाने कितना सत्य था! वे कहते थे कि वे पतित हो गये, तब ब्राह्मणों को ब्रह्मा ने भेजा और उनको नीचे गिराने को उन्हें शक्ति दी। जब मुझे कहीं म्लेच्छ जातियों में कोई मिलता तो मैं उससे बातें करता। वे प्रायः व्यापारी होते। उनके अपने देवता होते थे। वे भी संसार और आत्मा के बारे में बातें करते थे। परन्तु वे पुनर्जन्म की बात को समझ ही नहीं पाते थे। यह वे मानते थे कि एक दिन संसार समाप्त अवश्य हो जायेगा। सैंधव यात्री भोगप्रिय अधिक होते थे। उनको अपनी प्राचीनता का बड़ा दम्भ था। वे बताते थे कि प्राचीनकाल में उनके देश में गंधर्व रहते थे। एक बार वे गंधर्व देवताओं से लड़ मरे और नष्ट हो गये। उनको मदिरा पीने का बड़ा शौक था। वे मस्त रहते थे और व्यापार में वे नितान्त हृदयहीन होते थे। उत्तर-पश्चिम में गांधार था। वहाँ के सुदृढ़ व्यक्तियों की आँखें नीली होती थीं। वेद का उनको अच्छा अभ्यास होता था। उन्हींसे मुझे पता चला कि पाणिनी नामक ऋषि ने वहाँ बड़ा अच्छा व्याकरण बनाया था जो तक्षशिला विद्यालय में पढ़ाया भी जाता था। तक्षशिला में संसार के सब देशों से अभिजात युवक आते थे। चीन के भी, पारसीक देश के भी। यवन (ग्रीक), मिस्री भी आते थे कोई-कोई। सुवर्णभूमि का एक युवक मैंने वहाँ जाते भी देखा था।

कहते थे वहाँ बड़े विद्वान् होते थे। वज्जिय, शाक्य, मल्ल, विदेह, मागध, यहाँ तक कि प्रागज्योतिषवासी तक ज्ञान की अग्नि लेने वहाँ जाते थे और स्नातक होकर लौटते थे। कितना प्राचीन था वह विद्यालय यह कौन जानता था। दक्षिण के चोल और पाण्ड्य से युवक प्रायः वहाँ समुद्र-मार्ग से जाते। वे पहले भरुकच्छ आते, फिर द्वारका और तब उत्तर में स्थल मार्ग पकड़ते। विंध्याटवी का ऐसा भय था उन दिनों। जीवन के इन विभिन्न रूपों को देखकर भी मुझे यह अनुभव नहीं हुआ कि मैं किसी वैविध्य में घूम रहा हूँ। कर्मकाण्डी ब्राह्मण देखे, और देखे उञ्छवृत्ति वाले नाग, देखे अनेक प्रकार के प्राणी, परन्तु अपने मन का रिक्त जैसे वहीं का वहीं बना रहा। वह कैसे भरेगा, यही उस समय सोचता था मैं!

चलते-चलते मैं गंगा-तीर पर पहुँच गया। देखते ही चित्त प्रसन्न हो गया। बहुत ही मनोरम दृश्य था। मैंने तीर पर ही वस्त्र उतार डाले और कटि में एक वस्त्र बांधे उतरकर स्नान किया। गंगा के जल में मैंने एक विशेषता अनुभव की कि वह शीघ्र ही सारी थकान को हर लेता है और शरीर को ऐसा हल्का कर देता है कि जिसका मै वर्णन नहीं कर सकता। इस जल में कोई बात है! यही है वह गंगा, तब मैं सोचने लगा, जिसे सब ही इतना पवित्र मानते हैं। प्रत्येक वन, पर्वत और झील में एक देवता है, गंगा भी देवी है। तभी वह इतनी पूत है।

मैं किनारे पर बैठकर बदन सुखाने लगा। मनोहारिणी वायु के स्पर्श ने मुझे बहुत सुख दिया। मुझे गंगा के बारे में यादें आने लगीं। कहते हैं, पहले कभी यहाँ नाग रहते थे और तब यहाँ उन्हीं का शासन था। फिर निषाध आये, और उनका शासन हो गया। वे नावें चलाते थे और समुद्र तक जाया करते थे। और समय बदला। निषाध कन्या एक दिन आर्यावर्त्त के सिंहासन पर बैठी और आर्यों का दम्भ, क्षत्रियों का गर्व खण्ड-खण्ड हो गया। किन्तु क्या वह सचमुच खंडित हो गया है? गणों के क्षत्रियों में कितना दम्भ अभी तक बाकी है। वैश्य को गर्व नही है क्या? अवश्य है। क्या कुलीन और अकुलीन का गर्व वैश्य में नहीं? फिर क्षत्रिय का गर्व क्यों अखरता है? ध्यान फिर गंगा पर आ गया। इसे ही भगीरथ स्वर्ग से उतार कर लाया था! कैसी कठोर की होगी उसने साधना! कितनी शताब्दियों तक किया होगा उसने तप! मनुष्य का तप ही

उसकी महानता का द्योतक है। उसीके कारण वह अनेक युगों से पुण्य को धारण करता आ रहा है। गंगा को देखा। यही कहलाती थी पतित-तारिणी!

मैं जितना ही गंगा को देखता उतना ही मन में डूबता-उतराता जाता। धीरे-धीरे मेरी आँखें उसकी धारा पर स्थिर हो गईं। बहता पानी मेरी आँखों पर छा गया। मैं तो किनारे की बालू में बैठा हूँ और यह धारा बह रही है। बहाव देखने से मैं भी जैसे बह उठा। कब से बही आ रही है यह? मैं सोच उठा। और बहाव में ठहरी आँख ने कहा—सब कुछ ऐसे ही बहा जा रहा है, बहता चला जायेगा, बहता चला जायेगा। हज़ार साल पहले बही थी, दो हज़ार साल पहले वही थी।—और मिस्र के म्लेच्छ की बात याद आई जो कहता था कि उसके देश में तिकोनी कब्रें थी, जिनमें उनके सम्राट सो रहे थे। गगनचुम्बी कब्रे! जिनके पाषाण बहुत विशाल थे। उन्हें मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने बनाया था। कब! कौन जाने! तब से वे सो रहे हैं और सृष्टि के अंत तक सोते रहेंगे। उस विचित्र कल्पना से मुझे रोमाञ्च हो आया। मै उठा और चल पड़ा।

दूर काशी नगरी दीख रही थी। लोग कहते थे कि काशी नगरी को शिव देवता ने बनाया था और वह बहुत पुरानी थी। मैंने शैव बहुत देखे थे, और शैवों में मैंने अनेक सम्प्रदाय देखे थे। कुछ वैदिक सम्प्रदाय के लोग भी शैव थे, कुछ वेद को नहीं भी मानते थे।

काशी के कलश मुझे बुलाने लगे।

अब मैं क्या कहूँ कि मैं नगर में गया और मैने शिव का मन्दिर भी देखा। देखा हाट को। देखा, वही मिला जो किसी भी नगर में मिलता है; वैभव और दारिद्र्य। भोग और घृणा। मदिरा और सम्प्रदाय। मैं नहीं जानता मनुष्य कितने धर्म मानता है, और प्रायः सभी अपने ढंग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। त्याग और तप को सब स्वीकार करते हैं।

यों यह यात्रा एक किनारे आ लगी और मैं अब फिर गंगा-तीर की ओर चल पड़ा।

जब मैं लौटा माँझी मुझे बैठे दिखाई दिये। वे काले बदन वाले लोग थे। उनके कंधों और हाथों की पेशियाँ बहुत दृढ़ थीं। वे सिर पर छोटे उष्णीश बांधे थे और कमर में चुस्त धोती। शायद उनका खाना पक रहा था। पास

में ही कुछ झोंपड़े थे, जिनमें से बच्चों और औरतों की आवाजें आ रही थीं। कोई बुढ्ढा खाँस रहा था। उन्हें पहले मैं देखता रहा, फिर पास चला गया।

'यात्री !' एक ने कहा।

उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ। विस्मय क्यों होता ? प्रायः काशी में अनेक स्थलों से नाग आते थे। अब अन्य लोग भी आने लगे थे। माँझियों में नाग थे, जो शूद्र थे।

ऐलापत्र माँझी ने पुकारा : 'ओरी ! आ तो।'

एक युवती वहाँ आई। उसकी कमर में एक कपड़ा था। उसके स्तन खुले थे। उन्नत थे, पीन, बड़े ही सुन्दर ! वह जैसे उनकी शक्ति जानती थी। मेरी ओर देखकर मुस्कराई। मैने आँखें हटा लीं। उन्होंने भुना हुआ मत्स्य मेरे सामने रखा। मैंने मना कर दिया।

उन्होंने मुझे भात दिया।

शूद्र ! क्या मैं खा लूँ ? यह विचार आया।

याद आया, पार्श्वनाथ भी नागों के साथ रहते थे। अवश्य ही खाते-पीते थे। उन्होंने ब्राह्मणों से नागों की रक्षा की थी। मैं खाने लगा। वे प्रसन्न हुए।

मैं खाकर सो गया।

आधी रात के समय कुत्तों के भौंकने से मेरी आँखें खुल गईं। चारों ओर नीरवता छा रही थी।

मैं उठा और हटकर बैठ गया। सोचने लगा। मैं किनके साथ टिका हूँ। अरे ! यह हिसक हैं। यह माँस खाते हैं। क्या इनके साथ खाकर मैंने अच्छा किया ? तब मन किलकने लगा और मैं एकान्त में गाने लगा। गाकर मन तृप्त हो गया। चाँदनी खूब खिली हुई थी। टहलने लगा। शायद चल भी पड़ा। पीछे पगचाप सुनकर मुड़ा तो देखा वही स्त्री। उस समय वह कितनी आकर्षक लग रही थी। यह मुझमें जीवन में पहली बार कैसा नया भाव जागा था ! आज तक क्या युवतियाँ नहीं देखीं ? पर आज तक जैसे मैं सुप्त था।

स्त्री पास आ गई। उसके मुख से मदिरा की गंध आ रही थी, जिसने मेरा स्वप्न तोड़ दिया। फिर भी मैं अवरुद्ध-सा उसे देखता रहा।

उसने कहा : 'यात्री ! कितनी अच्छी रात है।'

उसने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया। उसके श्वास मेरे पास आने लगे। वह प्रत्यंत विह्वल थी।

मदिरा की दुर्गन्ध आ रही थी। फिर भी मैं मंत्रमुग्ध-सा खड़ा था। यह मेरे सामने क्या आ गया था! मांस की ऊष्मा मुझे अंधा किये दे रही थी। यह क्या हो रहा था! मैं उस समय भी अपने को देख रहा था। पर मैंने स्त्री का यह रूप कभी नहीं देखा था। कितना उन्माद था उसके नेत्रों में! उसके उन्नत ग्रीन स्तनों पर नखों के क्षतों के चिह्न थे। वह तनिक भी लज्जित नहीं थी। मुझे देखकर वह हँस पड़ी। मैंने उसके दाँतों की सुघर पाँत देखी। वह गेहुँए रंग की थी। उफ़! मेरा सिर चकराने लगा। मेरे हाथों में बिजली-सी कौंधने लगी। तभी मुझे झटका-सा लगा। मै इसे पकड़ लूँ? 'परन्तु वह विवाहित है', न जाने कौन चिल्ला उठा मेरे भीतर से। सदा से सुनता आया था कि पाप परस्त्री से प्रारम्भ होता है। पजा अम्मा कहती थी। आज याद करता हूँ तो सोचता हूँ कि जब तक पुरुष को अपनी माता का स्मरण रहता है, वह पाप नहीं करता। वह झपटी।

उसे मेरा धैर्य अवाक् करने लगा। उसने मुझे बाँध लिया अपने हाथों में। मदिरा की दुर्गन्ध मेरे मुँह पर आ गई। मेरा मन मिचलाने लगा। मुझे लगा, मुझे नागों ने बाँध लिया था। उस क्षण भी मै एक नहीं, मैं दो था। एक वह, जो स्त्री की भुजाओं में फँसकर दीन हो गया था। और दूसरा वह था, जो मेरे उस फँसे हुए रूप को देखकर व्यंग्य से मुस्करा रहा था।

मैं भाग चला। मैंने झटके से उसे गिरा दिया।

कब तक भागता रहा, नहीं जानता।

रात यों ही काँटों में बीत चली। पाँव छिद गये। वह सुख था? उस मांस की ऊष्मा मुझे डराने लगी, जो अब भी मेरे शरीर में बसी हुई थी! क्या मैं विजयी आया था! नहीं! मैं भागा था। वह पलायन स्वयं संभोग से बड़ा पाप था।

मैं अन्त में ठोकर खाकर गिर गया और मुझमें उठने की इच्छा नहीं रही। तब मैं उस स्त्री के साथ ही कल्पना में चिपट गया। वासना और संभोग शरीर का जन्म लेकर आत्मा में उतर जाते है। सुख और सुख की ज्वाला आत्मा में बचे रहते हैं, देह में नहीं।

पड़ा रहा। तब तक पड़ा रहा कि जब तक आकाश में चंदा डूब नहीं गया।

एक झिल्ली-सी छा गई व्यापक व्योम में, जो अंधेरी भी थी और जिसमें से चमक भी फूटी पड़ रही थी।

उठा तो जिस पत्थर पर हाथ पड़ा वह खिसक गया और मैं मुँह के बल गिरा होता।

सँभला। और तब बैठ गया। एक बार कुत्ते की-सी मुझे फरफरी आई। वह स्त्री यदि मैं अपने अंक में कस लेता और! क्या इस देह का एक नया सत्य मुझे ज्ञात नहीं हो जाता? क्यों मैं उससे आज तक वंचित रहा हूँ? क्या मैं बच्चा हूँ अभी? और मैंने सोचा कि यह मेरा झूठा अहंकार था। मैंने पहली बार जाना कि यह चोर मुझमें था। पहले भी था, परन्तु उसे मैंने देखा नहीं था, या देखना नहीं चाहा था। अपने सामाजिक पद ने मुझे उसपर पर्दा डालने लायक अहंकार दे दिया था। अहंकार! तो क्या वही मेरे छद्म का अनावरण था?

मुझे लगा, मैं मर गया था! अब मेरी सारी मान्यताएँ नष्ट हो रही थीं। क्या अहंकार इतना बड़ा दंभ है कि वह उदात्त बनने के छल में वासना जैसे विद्युतवेग को भी अपने भीतर छिपा सकता है? आकाश से टूटने वाला वज्र भी वह एक निर्मम पहाड़ की तरह झेल सकता है, महान बना रहने को!

हाथ से रेत उठाई। कुछ अटका तो उठा लिया। आँखों ने देखा तो मैं सन्न रह गया। एकदम ही वह फूट गया। पहली किरन ने उस पर छींटा-सा दिया। वह वस्तु मुस्कराने लगी।

मणि! साक्षात् जैसे चिन्तामणि!

एक ओर स्त्री!

इधर धन!

दो चपेट! मैं अकेला! किस-किससे लड़ूँ! क्यों लड़ूँ? लोक इनके लिए आतुर है। मैं भी बनूँगा। मैं भी अब यही खेल खेलूँगा। क्यों त्यागूँ इन्हें?

मैंने उसे उठा लिया और मन में कहा: तो तू मुझे मिली है ओ बहुमूल्य मणि! आ मैं तुझे छिपा लूँ।

वस्त्रों में रखा तो लगा कि कोई देख लेगा, फिर टटोला। हैं! यह मुझे क्या हुआ! यह कैसी प्यास है! एक पत्थर के टुकड़े के लिए मैं इतना भयभीत हूँ!

यह मेरे भाग्य ने दिया है। कब से पड़ा था ? किसका है ? अरे मुझे क्या मतलब इन बातों से ? उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन यदि मैं अपने वक्ष से दबाता तो ?

उठकर चल पड़ा। चला। जल्दी-जल्दी। अब लगता था, मैं उस स्त्री की भुजाओं में था। उसे चूम रहा था, उसकी उन नशीली आँखों को। मदिरा में से अब सुगन्धि आ रही थी। और मैं कितना धनी था ! मेरे पास कितनी बहुमूल्य मणि थी ! कैसा मूर्ख था मैं भी ! सब कुछ था। सब कुछ पा सकता था। फिर भी अपने दंभ में सब छोड़ता रहा और हुआ क्या उससे ? छाई एक नीरस शुष्कता। घने वृक्षों के पीछे से चलते हुए मुझे लगा—मेरे पीछे कोई आ तो नहीं रहा ? ठहरकर देखा। कोई नहीं था। तो वह मेरा भ्रम था ? ऐसा क्यों हुआ मुझे ? तब मेरे दूसरे 'मैं' ने कहा : वह स्त्री ! वह मणि ! इन दोनों ने तुझे पथ से डिगा दिया है।

कुछ साधु वहाँ बैठे थे, एक ओर निर्जन में। वे एक लँगोटीमात्र लगाये थे। उनके सिर पर जटाएँ थीं। और देह थीं बिल्कुल सुनी हुई।

मैं उन्हें देखने लगा। और देखता रहा। सोचा। यह भी किन्ही माताओं के पुत्र हैं। यह यहाँ ऐसे क्यों हैं ? क्या अन्त है आखिर इनकी साधनाओं का ? किस सुख के लिये यह धरती पर, कठोर पत्थरों पर बैठे हैं।

अरे ! ध्यान आया। इनके पास था ही क्या जो यह आनन्द मनाते। आनन्द का साधन मेरे पास है। मुझे भाग्य ने दिया है। मणि ! और भाग्य ने मुझे स्त्री दी थी। मैं डर गया। भाग गया। साधुओं में एक अपने सिर के बल खड़ा था। न जाने क्यों मैं मन में हँसा। मूर्ख ! पाँव नीचे कर ले ! यह कौन-सी दिशा की यात्रा का तेरा प्रयास है ? शून्य में पाँव उठाकर सिर नीचे कर लिया है ! योगी ! क्या लेगा ? गंगा की धारा की भाँति उस क्षण उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन उमड़ते हुए मेरे सामने आ गये और मुझे लगा, मैं उनमें कूद पड़ा, कूदा और उतरता चला गया। और फिर उनमें लय हो गया। अब मुझे दाह-सा लगने लगा। मुझमें अशांति-सी छा गई। कहीं चला जाना चाहता था।

और मैं फिर चल पड़ा। कुछ ही दूर जाने पर मुझे एक शव दिखाई दिया, जिसे कुत्ते और सियार खा रहे थे। मैं खड़ा रह गया। यह भी किसी माता

का पुत्र है ! तब वह पीनोन्नत स्तनों वाली स्त्री धीरे-धीरे उस शव में समाने लगी और मैं देखता रहा। पशु उसे खाते रहे, खाते रहे। अपने उत्थान-पतन की इस अतिक्रमणमयी निरंतर चलती दुरारोह तृष्णा का मैं अब कहाँ तक स्मरण करूँ। यह तो ज्वार-भाटा है। आई लहर। चली गई। वह आती रहेगी, और लौटती रहेगी। बस यही हो गया मेरा थपेड़ों से भरा जीवन !

विभिन्न भूमियाँ मेरे पाँवों के नीचे आती चली गईं। कभी मैं आकाश में उठता था, कभी मुझे चारों ओर अतल अंधकार दीखता था। न जाने किस असह्य तृष्णा से मैंने वह मणि छिपा रखी थी, परन्तु लगता था कि बस चारों ओर शव जला रहे हैं, जलाये जा रहे हैं। कभी मुझे लगता कि मैं किसी बहुत बड़े घास के भरे-हरे मैदान में चलता जा रहा हूँ, कभी लगता कि मैं सीढ़ियों पर चढ़ता चला जा रहा हूँ, चढ़ता चला जा रहा हूँ। आँख खुलती तो मैं चुप बैठा रहता। मार्ग में स्त्रियाँ भोजन देती तो मैं सिर झुकाकर खाता। अब मैं आँखें उठाकर नहीं देखता। स्त्री को देखने में अब मुझे संकोच-सा होने लगा था।

अन्त में मैं राजगृह जा पहुँचा। यह थी मगध की भूमि। वही मगध जिसमें जरासन्ध था, जिसकी राजधानी गिरिव्रज के बाहर रखे मनुष्य की खाल के नगाड़े की चर्चा आज तक ग्रामीण किया करते हैं। और मैंने लोगों से सुना कि वहाँ न जाने कबसे साम्राज्य बनते रहे हैं, बिगड़ते रहे हैं। इन मागधों को अपनी भूमि का गर्व था। परन्तु उस गर्व में एक अच्छाई थी कि वे अन्यों से घृणा नहीं करते थे। उस समय वहाँ अनेक दार्शनिक रहा करते थे और मैंने वहाँ अनेक विदेशी देखे।

अन्धेरा हो चला था। नगर के उस बाह्य प्रदेश में अब सन्नाटा छाने लगा था। कहीं-कहीं चैत्य थे, जिनमें मणिभद्र यक्ष की मूर्तियाँ थीं। कहीं-कहीं अनार्यों के लांगूल महादेव की भी पाषाण-खंड पर खुदी हुई आकृति दिखाई देती थी, जिस पर सिन्दूर मला हुआ दिखता था। धनी नागरिकों के दूर-दूर तक फैले हुए विहार-वन अब सोने लगे थे।

भूख लग रही थी। मैं थक गया था। कहाँ जाऊँ ? अब मुझमें इतनी शक्ति नहीं थी कि आगे बढ़ता। नगरद्वार के बन्द होने का समय हो गया था। जब तक पहुँचूँगा तबतक वे बन्द हो चुकेंगे। फिर अब मुझे भोजन कौन

देगा ? मुझे हँसी भी आई कि एक बहुमूल्य मणि लेकर भी मैं भूखा था क्योंकि छोटे दूकानदारों के पास उसका मूल्य चुकाने को कुछ नहीं था । सामने ही एक उद्यान दिखाई पड़ा । मैं उस प्राचीन उद्यान में घुस गया । वह जीर्ण हो चुका था । रौसें कुछ खंडित-सी हो गई थीं ।

चांदनी निकली, तब मैंने देखा कि वह बहुत बड़ा था । उसके वृक्ष सूख चले थे । किसी समय यह उद्यान कितना भव्य रहा होगा ! अब ऐसा सूख गया था, जैसे कोई अपने यौवन के बीच में ही अकाल वार्द्धक्य से मुरझा गया हो । सब कुछ ऐसे ही नष्ट हो जाता है । मैंने देखा और मुझे उन युवतियों की याद हो आई जो कभी उसके आपानकों में किलकारियाँ मारकर हँसी होंगी। उन मृगों की, उन सारसों की, हंसों की याद हो आई जो कभी उसमें मनहर गति से चले होंगे ।

बीच में एक विशाल कुँआ देखकर मुझे बहुत ही सुख हुआ । वृक्षों का अन्धकार उस स्थल को स्पष्ट देखने नही देता था; एक ओर ऊँचा ढाना था और शायद बाकी तीन तरफ़ बन नही पाया था; क्योंकि मिट्टी तो थी, परन्तु उसका सिर नहीं बँधा था । पत्थरों के विशाल शहतीर वहाँ आड़े-तिरछे रखे थे ।

अपना उष्णीश उतारकर मैने कुँए में लटकाया । अब वह भींग जाये तो उसे खीचूँ और अपने मुख में निचोड़ लूँ, और इस तरह बार-बार करने से शायद मेरी प्यास बुझ जाये, यही मेरे मन की इच्छा थी ।

मैंने हाथ भी लटका दिया और इधर-उधर देखा तो लगा कि कुँआ था पुराना ही । फिर मिट्टी क्यों पड़ी थी ? यही सोचकर मैं चौंका । और तब खीचा । उष्णीश सूखा ही निकला । देखकर मुझे कितनी घोर निराशा हुई । क्या करूँ अब !

उष्णीश छोटा है । मैंने उसमें अपना कटिबन्ध जोड़ा और फिर लटकाया । फिर उसे बाहर खींचा, परन्तु वह फिर वैसा ही सूखा निकल आया। इस बार एक कबूतर फटफटा कर बाहर उड़ गया ।

मैंने कंकड़ फेंककर देखा ।

कंकड़ सूखे पर गिरा ।

यह कुँआ सूखा है । तभी सारा बाग़ सूख गया है । तभी यह निर्जन हो

गया है। और तब ध्यान आया : मूर्ख ! अब तेरे लिये जीवन भी सूखा है ! देख, यह उसीका इंगित है।

निर्दयी ! क्रूर !—मैंने मन ही मन कहा : इस लोभ और वासना का फल मुझे हाथोंहाथ मिले, और सब लोग सुख से रहें। मैंने किस स्वर्गका ठेका लिया जो मुझे ऐसा इस हाथ दे, उस हाथ ले वाला व्यापार मिला है। छिः ! कुछ भी हो। मैं नहीं झुकूंगा अब ! अब मुझे सुख चाहिये !

मैं मुड़ा। हठात् पाँव डगमगाया। एक पत्थर सरका। मैं तो लपककर पीछे हुआ कि पास में जो एक लम्बा पत्थर का शहतीर रखा था वह हिला। मैंने दोनों हाथों से ढाने का जड़ा हुआ पत्थर पकड़ लिया। तभी पहला खंडा पत्थर कुएँ में गिरा।

मैं जब तक सँभलता, तब तक तो शहतीर टेढ़ा हो गया था और एकदम मैंने कान बंद कर लिये।

धूंधड़ाम ! धूं-धूं ···धुँआ हो···धुँआ हो··· धध धडड़ड़···और पत्थर सीधा कुए की तह में जाकर गिरा। भयानक आवाज़ उठी और तब आवाज़ आई छन-छनछन···फलफल फलल फलल···

पश्चिम की ओर कोलाहल मचने लगा। वहाँ शायद कोई जागा होगा। पर कोई आया नहीं। कोलाहल जैसे उठा था, वैसे ही शान्त हो गया।

कुएँ के भीतर से आवाज़ आती रही···

सुबक डुबक···थपक···थपक···

मैंने झाँककर देखा। पानी आ गया था।

पानी !

मैंने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये और कहा : 'जय जिनेन्द्र !'

और मेरा आश्चर्य तो तब बढ़ा जब पानी उफनकर कुएँ के ऊपर बहने लगा। मैंने छककर पानी पिया और कहा : 'कूप देवता ! तुझे सौ बार नमस्कार।'

पानी चांदनी के उजाले में मुस्कराने लगा, जैसे कोई बन्दी बहुत दिन बाद किसी कारागृह से बाहर निकल आया हो। मैं उसका मुक्तिदाता था। पानी ढाने पर से गिरा तो चारों तरफ़। मैं घुटनों तक भींगता खड़ा रहा। चारों ओर प्रपात-सी गिरती धारा कुएँ की गोलाई को चाँदनी में ऐसे चमका रही थी, जैसे

वह आकाश का विशाल रत्नजटित चषक धरती पर रख दिया गया हो। वह पानी की आवाज़ सुनकर जैसे उपवन हँस पड़ा। तब मैं एक वृक्ष के नीचे लेट गया और मुझे लगा कि पुरानी क्यारियों में दौड़ता वह पानी जो चांदनी में चांदी के साँपों-सा चमक रहा था, अपने पुराने मित्रों—वृक्षों, उनकी पत्तियों, बेलों-लताओं से मिलने भाग रहा हो; वह जाकर उनके चरण चूमेगा और फिर वे मित्र उसे सिर पर धर लेंगे, मित्रता से उनका रोम-रोम सिंच जायेगा। शायद मैं सो गया।

प्रभात का समय आया और आँख खुलते ही मैंने देखा कि कई लोग वहाँ खड़े हुए मुझे देख रहे थे। वे बातें भी करते थे, तो बहुत ही धीरे-धीरे। शायद मेरी नींद न बिगड़े, उन्हें इसका ध्यान था। वे शायद सेवक थे। उनके मुख पर विनय तो था ही, मुझे देखकर उन्होंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

मुझे आश्चर्य हुआ।

मैंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

उनमें से एक वृद्ध, जिसके कानों के बड़े-बड़े कुण्डल हिल रहे थे, क्षणभर कुछ साहस-सा एकत्र करता रहा और फिर उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा: 'आप देवता हैं?'

मैं स्तब्ध रहा। उसने स्वयं कहा: 'कुँआ सूख गया। उद्यान सूख गया। तब स्वामी ने इसे इतना खुदवाया कि कारीगरों ने निराश होकर खोदना छोड़ दिया। राजगृह में इस तरह चलता कुँआ सूख जाने से स्वामी की सर्वत्र निन्दा होने लगी। आज आपने उस कूप से पानी निकाल दिया!'

तब मैं समझा कि इस सम्मान का कारण क्या था। वह कहता गया: 'आपने न खोदा, न छुआ। आपके आगमन से स्वयं धरती फटी, मानो वज्र का हृदय फट गया और भीतर से अमृत निकल आया। इन वृक्षों की प्यास मिट गई। प्रभु! स्वामी आते ही होंगे। हमने भिनसारे ही आदमी भेज दिया है।'

इसी समय एक रथ आकर रुका। स्वर्णमंडित रथ पर प्रभात की किरणें पड़ी। पीछे का रेशमी भारी और ज़री से खचित पर्दा हटा। वृद्ध ने कहा: 'आ गये स्वामी।'

कई व्यक्ति उधर चले गये। प्रणाम किया।

मैंने देखा एक अधेड़ व्यक्ति, एक कन्या के साथ रथ से उतरा। वे कुछ के

स गये। पानी को ऊपर उफनते देखकर लड़की हर्ष से ताली पीटने लगी। ा मानो पेड़ चारों ओर खिलखिलाकर हँसने लगे। अधेड़ व्यक्ति के नयनों में ंसू-से भर आये। एक व्यक्ति ने मेरी ओर इंगित किया।

वे दोनों मेरे पास आ गये। मैं बैठा रहा। भूखा था। पुरुष मेरी ओर यन्त विस्मय और श्रद्धा से देखता रहा।

वृद्ध सेवक ने कहा : 'स्वामी ! न जाने किस तरह इनके प्रताप से पानी ार उमँग कर बह रहा है !'

उस कन्या ने मेरी ओर देखा। वह मानो एक विचित्र वस्तु को देख रही थी। ्ी कमल जैसी थी उसकी आँखें।

'प्रणाम करती हूँ।' उसने हाथ जोड़कर कहा : 'उस आत्मा को, जिसे वी ने पानी पिलाने को अपना जल इतने ऊपर उठाकर बाहर फेंका।' वयस्क ी ओर देख रहा था। मै कन्या की ओर। उसे अपनी ओर देखते देखकर ान मैंने झुका लिये परन्तु ऐसा लगा जैसे हृदय पर एक रेखा खिंच गई थी। ा आवेश के क्षण में मैं मूर्च्छित हो गया।

जब मेरी आँखें खुलीं, वयस्क मुझे पंखा कर रहा था और वह लड़की ंनी जघा पर मेरा सिर रखे थी। उसके कानों के फूल झुककर उसके पराग-ंजत गडस्थल पर झूल रहे थे और उनके नीचे से मणिकुण्डल झाँई मारकर ंके कपोलों की स्निग्ध स्वच्छता को और भी पवित्र बना रहे थे, जैसे वह ान धौत कोई स्निग्ध कमल का मांसल दल था, श्वेत—जिसमें गुलाबी आभा तर से फूटी पड रही थी।

मैं उठकर बैठ गया। वृद्ध सेवक ने मुझे गाढ़ा दूध दिया। मैं दोना मुख ंगाकर धीरे-धीरे पी गया। नवीन चेतना का स्फुरण हुआ। तभी बौर से लदे म्र की ताम्र सुषमा सहस्र बाहु वसन्त की भाँति झूम उठी, क्योंकि पुंस्कोकिल ार उठा। और उस क्षण, बस उस क्षण, उस युवती के कपोलों पर लालिमा ो कौंध गई जैसे रागारुण अम्बर में विद्युत की तृष्णा धीरे-धीरे स्वर्ग के द्रुम-द्वारों को थपथपा उठी हो। तब वह समस्त उद्यान एक मरकत शोभा से ंकने लगा और विभोर अतीन्द्रियता मेरी चेतना बनकर व्यापक अन्तराल में ंरने लगी।

वयस्क ने कहा : 'आर्य ! आप कौन हैं ? वन देवता हैं ? ऐसा रूप ! ऐसा

सौन्दर्य ! जिसे देखकर मुझे मन्मथ का भ्रम होता है !'

मैं लजा गया। जानता था, यह पानी निकलने के प्रभाव से उत्पन्न इन्द्रजाल का ही प्रभाव था। अन्यथा पुरुष कभी पुरुष से ऐसी बात नहीं करता।

मैंने कहा : 'नहीं आर्य ! मैं मनुष्य हूँ।'

'तो यह जल आपके ही पुण्य-प्रताप से प्रगट हुआ ! राजगृह में मेरी निन्दा होती थी। पुरुष-परम्परा से यह उद्यान चला आता है। मेरे समय में आकर अचानक ही यह शुष्क हो गया। लोगों ने कहा कि श्रेष्ठि कुसुमपाल पापी है अन्यथा ऐसा क्यों होता। यह कुसुमश्री सखियों में व्यंग्य बाण सहती थी। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने मुझे बुलाकर स्वयं इसके विषय में पूछा था ! मैं क्या उत्तर देता ! मैंने राजगृह के सबसे कुशल कारीगरों को बुलाकर इसे खुदवाया। परन्तु जल नहीं निकला। और आपके आते ही यह फूट निकला। मेरे यह सेवक हैं। इनमें से कुछ पास के नगले में रहते है। रात को इन्होंने एक प्रचण्ड शब्द सुना। समझे कोई उपदेवता होगा क्योंकि शापग्रस्त उद्यान में और कौन होता ! आज प्रातःकाल आकर देखा···

वृद्ध सेवक ने काटकर कहा : 'मैं आया ! लोगों ने कहा—उधर मत जा जरठ (बूढ़े) !—मैंने कहा : नहीं। फिर भी यह स्वामी का उद्यान है।—मैं आया और मेरे नेत्र आश्चर्य से फटे रह गये। जल कुएँ के बाहर निकल रहा था। मैंने इधर-उधर देखा। देवता शान्त सोये थे। एक बार एक वन्य फूल पर बैठी तितली उड़ी और आकर देवता के कोमल होंठ पर बैठी और देवता स्वप्न में मुस्करा उठे। तब वह उड़ गई। शीतल वायु ने देवता के माथे पर पड़ी लट को हिलाया। स्वामी ! मैंने तभी प्रणाम किया और लौटकर लोगों से कहा : आज रात श्रेष्ठि कुसुमपाल के जीर्णोद्यान में कोई देवता आया है। उसने इस शुष्क उपवन को हरा करने के लिये पदार्पण किया। उसने धरती से कहा कि जल दे। उसकी आज्ञा से धरती फट गई और जल ऊपर चढ़ने लगा और बाहर निकलकर बहने लगा।—मैंने युवकों को स्वामी के पास भेजा—स्वामी ! घर में देवता आया है। यह भाग्यवान है। उत्सव मनाने की आज्ञा दें। हम प्रार्थना करते हैं कि देवता गौरव के साथ राजगृह में प्रवेश करे और स्वामी के भवन में ठहरकर सोये भाग्यों को जगा दे।'

श्रेष्ठि कुसुमपाल ने कहा : 'आर्य ! इनकी बात सुनकर मुझे विश्वास नहीं

हुआ। मैंने बार-बार पूछा। मैं समझा कोई उपहास है। पर इन्होंने बार-बार यही कहा। तब द्वार पर कोलाहल होने लगा। पथ पर जाते प्रासाद के कर्मचारियों को पता चला। तब बेटी ने कहा : पिता ! चलकर देखिये न ?—और मैं देखता हूँ। यह तो सच था !'

मैंने कहा : 'श्रेष्ठि ! जल अपने आप नहीं निकला। पत्थर के शहतीर ने तल को फोड़ दिया।'

अवाक् रह गये वे ! हूह निकल गई मुँह से। कुसुमश्री ने कहा : 'अम्मणि !'

वृद्ध सेवक पुकार उठा : 'मत छिपो अब ! दयालु ! जिस पत्थर के शहतीर को बीस आदमी उठाते थे, उसे उठाकर फेंका तुमने ! जय ! तुम्हारी जय !'

वह लोट गया।

बात उल्टी पड़ गई। मैंने कहा : 'वह मैंने नहीं गिराया। स्वयं गिर गया।'

तब कुसुमपाल ने हँसकर कहा : 'रहने दो, रहने दो आर्य ! तुममें महापुरुष के समस्त लक्षण है। शील, विनम्रता, निरहंकार ! मेरे भवन को कृतार्थ करना ही होगा। मैं याचना करता हूँ।'

कुसुमश्री ने मुझे कनखी से देखा और कहा : 'चलें आर्य !'

अब वह मुझे याद आता है कि मैं गया तो सही, परन्तु कैसा परिवर्तन था ! वह एक जुलूस था। सारा राजगृह टूटा पड़ रहा था मुझे देखने। राजप्रासाद के वातायनों से भी झाँकने सिर देखे मैंने रमणियों के।

चर्चा थी। वही है ! जिसने कुसुमपाल के उपवन में जाकर पत्थर का शहतीर यों ही उठा लिया जैसे वह बाँस था ! फिर मारा तो पृथ्वी फाड़कर पाताल से खींच लाया जलधारा को। उपदेवता के अनिष्ट घात को खण्डित करके उसने जल को आज्ञा दी कि ऊपर आ। जल ऊपर चढ़कर बाहर निकला और क्यारियों में बहने लगा। यह वही है ! कितना सुन्दर है ! कैसा छलिया है। इतनी कुलीन है इसकी छवि, फिर भी कैसे साधारण वस्त्र पहने है।

मुझ पर फूल फेंके गये। चन्दन चर्चित हुआ। और मैंने सोचा कि अहोभाग्य ! धनकुमार ! संसार में है क्या ? इससे बढ़कर कोई विचित्रता है ? 'नहीं, नहीं' करने से ही लोक जय-जयकार करता है ! यह विचार आते ही

मुझे एक नया हर्ष हुआ।

ज्यों ही मैं रथ से उतरा, और कुमुमश्री की माता ने मुझे देखा, उसने आगे बढ़कर आरती की, और मुझपर सुहागिनों ने फूल बरसाये, धनी और मानी श्रेष्ठियों ने बढकर स्वागत किया। मैं शांत-सा भीतर चला गया। जब मैं बैठ गया, तब सुनहले तारों से कढ़ा मखमल का पर्दा एक सुन्दरी ने हटा दिया और कुमुमश्री ने मेरे सामने रत्नजटित सोने का थाल ला धरा, जिसमें फल धरे थे, सुगन्धित। मेरे भूखे पेट को वह दृश्य स्वर्ग-सा लगा। श्रद्धा और कनखियों से देखते सौन्दर्य की वह भेंट और फलों की मादक गन्ध ने मुझे विभोर कर दिया। उस समय मैंने कहा : 'श्रेष्ठिकन्ये ! तुमने मुझ दीन-हीन का स्वागत किया है, इसके लिये मै तुम्हारा ऋण तो नही चुका सकता। परन्तु जो राजगृह की इन अकलुष आत्माओं'—मैने हाथ चारों ओर घुमाया जिसे सुनकर सब प्रसन्न हो उठे, और फिर मैने कहा—'ने मुझे स्नेह दिया है, उसकी मैं अकिंचन भी कुछ सेवा करना चाहता हूँ। तुम कुसुमश्री हो। राजगृह मधुवन है। तुम नगर की श्री हो। तुम यहाँ की पुत्री हो। मेरी ओर से यह भेंट स्वीकार करो। तुम्हारे पिता और पूज्यवृन्द मेरा अनुमोदन करेंगे, क्योंकि तुमने मेरी आत्मा के संवर्द्धन के लिये यह फल दिये है, अतः तुम्हारे पिता और इन पूज्य वृन्दों को सम्मानित करने का मुझे अधिकार है।'

सभा में कौतूहल जाग उठा। तब कन्या ने पिता को देखा। मैंने पिता को। पिता ने स्वीकृति दे दी। परन्तु किसीको भी यह आशा नहीं थी कि मैं क्या दूँगा। एक विस्मय की आवाज़ निकल गई। मैंने अपने वस्त्रों में हाथ डालकर जब हाथ बढ़ाकर उसके सामने मुट्ठी खोल दी तो आँखें चमक कर चौंध गईं।

वह गंगा का दिया दान था—मणि ! वही बहुमूल्य मणि ! चिन्तामणि जैसा रत्न !

वृद्ध सेवक फुसफुसाया : 'देवता ! ऐसी मणि ! आज तक किसने देखी ? राजगृह के महामान्य श्रेष्ठियो ! ऐसी मणि किसीके पास है ?'

'नहीं।' एक वृद्ध ने विचलित स्वर से कहा। वह राजगृह का 'दानशूर' कहलाता था।

उस रत्न का प्रभाव ऐसा पड़ा कि वे बातें ही करते रह गये और मैं फल

खाने लगा। भूख मिट गई। उठकर सोने के पात्र से ढाले गये सुगन्धित जल से हाथ-मुँह धोये और बैठ गया। दानशूर महा श्रेष्ठि मलयदास ने कहा : 'आर्य ! यह रत्न ! यह वस्त्र !'

मैंने हँसकर कहा : 'महाश्रेष्ठि ! जीवन एक क्रीड़ा है। यह वस्त्र हैं दारिद्र्य के प्रतीक। मैं दरिद्र हूँ। यह रत्न मुझे भागीरथी ने दिया था ! मैंने उसे योग्य पात्र के पास पहुँचा दिया।'

'स्वयं देवी गंगा ने !' वृद्ध सेवक पुकार ही तो उठा।

अब सनसनी मच गई। सचमुच वह रत्न ही ऐसा था। मैंने सभा विसर्जन के बाद स्नान किया। शरीर पर गन्ध लगाई। श्रेष्ठि के भेजे नये वस्त्र पहने। मध्याह्न के भोजन में श्रेष्ठि कुसुमपाल, उनकी पत्नी और पुत्री-पुत्र, तथा कुछ निकटस्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्धी थे। मैंने वैसे ही भोजन किया जैसे कभी अवसर पड़ने पर महासेन चण्डप्रद्योत के प्रासाद में किया करता था। वे लोग बहुत प्रसन्न हुए। मैं रत्न देकर हल्का हो गया था, मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था इस भाग्य के खेल पर और प्रतिक्षण तैयार कर रहा था अपने को फिर किसी भयानक परिवर्तन के लिये। उसके आने-जाने में देर ही क्या लगती है ?

परन्तु आज सोचता हूँ कि उस समय की उस प्रफुल्लता के मूल में कुछ और भी था। वह था कुसुमश्री का सान्निध्य। जाने क्यों सब कुछ बहुत हलका-सा लग रहा था। खूब बातें हुईं। अन्त में श्रेष्ठि कुसुमपाल ने मुझसे मेरा परिचय पूछा। मैंने कहा : 'जन्मना श्रेष्ठि हूँ। परन्तु मैं तो यात्री हूँ महा श्रेष्ठि। इतना ही परिचय होना था। हो गया। भाग्य लाया था, ले जायेगा।'

श्रेष्ठि कुसुमपाल के एक चचेरे भाई श्रेष्ठि नमितपाल ने हँसकर कहा : 'कुल और गोत्र छिपते नहीं कभी। चाहे आप कितना ही छिपा लें। शील तो कुलीनों को ही घुट्टी में पिलाया जाता है। अहंकार थोड़े धन में जन्म लेता है, परन्तु आपका गांभीर्य और यह उदारवृत्ति साधारण कुल का लक्षण नहीं है। आपके भोजन करने के ढंग को देखकर मुझे तो लगा कि आपने अवश्य महाराजाओं के साथ समय व्यतीत किया है। और सौजन्य देखकर कह सकता हूँ कि आप निश्चय ही किसी गण राज्य के निवासी नहीं हैं। कुबेर की शपथ ! क्या मेरी कोई बात गलत है ?'

मैंने कहा : 'पितृव्य ! आपकी सूक्ष्म दृष्टि की मैं प्रशंसा करता हूँ। फिर भी

अकिंचन हूँ।' और अपने कुलीन भाइयों की भी मुझे याद हो आई।

कुसुमश्री का मुख मलिन पड़ गया था, खिल उठा। और अन्त में वह मुस्करा दी।

चार दिन में ही ऐसे वे लोग मुझसे घुलमिल गये कि मुझे अपना नाम तो बताना ही पड़ा।

मैंने कहा : 'नाम ! शुभ तो नहीं है। है धनकुमार।'

कुसुमश्री ने कहा : 'धन के तो आप कुमार है ही, सच्चा नाम क्या है ?'

मैंने हँसकर कहा : 'जीवन की विडम्बना यही है श्रेष्ठिकन्ये ! मैंने बहुत यात्रा की है और देखा है कि जिसका नाम सिंहपराक्रम होता है वह चूहे से भी डरता है; और जो धनकुमार कहलाता है, वह बेचारा दरिद्र होता है।

वह ऐसा बना गई मुँह को, जैसे मुद्रा हो : 'क्या बात करते है ! हम क्या इसे मान सकते हैं ?'

अब वह उस विशाल मणि को हार में पहनती थी। महारानी मृगावती ने मणि का हाल सुनकर कुसुमश्री को प्रासाद में बुलाया था। श्रेष्ठिपत्नी भी गई थीं। लौटकर बोलीं महाश्रेष्ठि से : 'सम्राट् भी वहीं थे। देखकर बोले : श्रेष्ठि कुसुमपाल के घर तो भाग्य आ गया है। अब क्या करोगी ? मैने कहा : देव ! जैसी आज्ञा दे।—बोले हँसकर : बाँधकर रखो।' और पुत्री की ओर देखकर मुस्करा दिये।

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ बैठा। बाहर दासियों मे ठिठोली हो रही थी। एक कह रही थी : 'हला सखी ! आज तो मज़ा आ गया।'

दूसरी ने कहा : 'अरी कैसे ?'

पहली बोली : 'अरी सुन ! स्वामिनी तो श्रेष्ठिकन्या के साथ भीतर गईं। मैं वहीं दासियों के साथ बैठ गई। पता चला कि सम्राट् को तो अर्श रोग था ही, अब भगन्दर-सा हो चला है। वैद्यराज जीवक लगे हैं तक्षशिला के, दवा देने में। परसों महाराज के रक्त आ गया तो वस्त्र बिगड़ गये। प्रासाद की स्त्रियों ने महाराज को खूब छेड़ा कि अब तो महाराज को भी ऋतुस्नान करना होगा···

दोनों खूब हँसीं। वे चली गईं। मैं महाराज की बात, श्रेष्ठिकन्या की लाज भरी मुस्कान, महाश्रेष्ठि के मुख का तृप्त आनन्द। श्रेष्ठिपत्नी के नयनों का

रहस्यभरा गर्व···एक-एक कर सबके बारे में सोचता रहा।

सन्ध्या अभी आई नहीं थी। यों ही घूमने निकल पड़ा श्रेष्ठि की अश्व-शाला से घोड़ा निकालकर। वसंती रंग का उष्णीश था। आधोवासक था हल्का पीला। उत्तरीय सुनहले तारों का और कंचुक नीला रेशमी, कटि में खड्ग। घोड़ा था काला। माथे पर तिलक। पानी पीता था तो मुँह डाल-कर। बड़ी ठण्डी और मादक बयार चल रही थी। उष्णीश का पीछे का छोर हवा पर फहरा रहा था। वनप्रान्तर में पहुँचकर उतर गया और एक चट्टान पर बैठकर डूबते सूर्य की सुषमा को देखने लगा। आकाश में नारंगी चमकदार मेघों की ऊन छितरी थी हरियाली पर भीगा-सा नीलापन डाले। एक वृक्ष का विशाल कोटर बहुत ही लुभावना-सा था। उन दीर्घ वृक्षों के पीछे अनेक छोटे वृक्ष थे जिन पर चिड़ियाँ बहुत ही मीठा कलरव कर रही थीं। देखते-देखते सूर्य पेड़ों की हरियाली के पीछे डूब गया और मैं घोड़े पर लौट चला। जब मैं सिरिमा यक्षी के चैत्य के पास से आगे निकलकर घने पेड़ों के बाहर आ गया, मुझे सुनाई दिया एक अत्यन्त करुण स्वर : 'पानी ! अरे कोई पानी···

फिर स्वर रुक गया। मै उस तिमिर में किसी अकेले व्यक्ति को तड़पते हुए सोचकर काँप उठा। घोड़े से उतर पड़ा और आगे बढ़ा। देखा एक व्यक्ति तड़प रहा था। उसके पास ही एक घोड़ा खड़ा था; शान्त ! स्वामी की दारुण यातना को देखता हुआ। स्वामिभक्त भागा नहीं था। मैंने अपने घोड़े की वल्गा छोड़ दी और भागा। पानी ! पानी वहाँ कहाँ था ! हठात् याद आया कि कुछ दूर पर एक ताल था। मैंने उस व्यक्ति को उठाकर उसके घोड़े पर रखा और उधर ले चला। मेरा घोड़ा मेरे पीछे आने लगा। हम तालाब के पास आ गये। मैंने उसे उतारा और देखा वह मूर्च्छित हो गया था। लिटाकर मुँह में पानी डाला। हवा की। अब अन्धेरा हो गया था। निर्जन कांतार ! वही सुन्दर स्थल अब डरावना-सा लगने लगा। ध्यान आया। श्रेष्ठि समझे होंगे कि अतिथि मेरा बहुमूल्य घोड़ा लेकर भाग गया। कुछ क्षण बाद फिर उसके मुँह में पानी डाला। तब उसने आँखें खोलकर कहा : 'कौन ?'

मैंने उसके हाथ सहलाकर कहा : 'यात्री ! क्या हुआ तुम्हें ! अब तो जी अच्छा है ?'

वह मेरी ओर अवरुद्ध-सा देखता रहा। फिर उसने कहा : 'मैं कहाँ हूँ ?'

'तुम राजगृह के बाहर हो। कुछ ही दूरी पर नगर है। अब यदि उठ सको तो तुम्हें नगर ले चलूं। वहाँ अवश्य कोई वैद्य तुम्हारा उपचार कर देगा।'

वह एकदम खाँस उठा। और तब उसके मुख से रक्त और कफ़ ढेर-ढेर निकल पड़े और उसके ऊपर ही गिर पड़े। मैं उसकी पीड़ा से व्याकुल हो गया। उसको साँस जुटाना कठिन हो गया था, और इस चेष्टा में उसके मुँह से कभी-कभी ऐसी चिल्लाहट निकलती थी जैसे कोई गीदड़ चिल्लाने की चेष्टा कर रहा हो, परन्तु चिल्लाने में असमर्थ-सा घुट रहा हो! जीवित व्यक्ति की ऐसी यंत्रणा मैंने कभी नहीं देखी थी। मैंने उसे फिर पानी पिलाया और जब वह फिर चुपचाप निश्चेष्ट-सा लेट गया, मैंने अनुभव किया कि मैं रोना चाहता था। यह भी मनुष्य का जीवन था! इस सत्ता के लिये भी प्राणी मोह कर सकता है? तब मैंने अपना हाथ बढ़ाया और उसके वस्त्र को हाथ से साफ़ करने लगा। वह चुपचाप देखता रहा। हाँ, वह देख रहा था, परन्तु बोल नहीं पा रहा था। मैंने रक्त धोया, कफ़ धोया और तब हाथ धोकर मैंने उसके माथे को हाथ पर पानी लगाकर तनिक गीला किया। चंदा चढ़ आया था अब न्यग्रोध के ऊपर, जिसकी किरणों में मैंने देखा कि उस वाणीहीन व्यक्ति के नेत्रों से आँसू बह रहे थे। यातना ने कैसा निर्बल कर दिया था उसे। कैसा निर्बल-सा पड़ा था वह। आँसू आ रहे थे अब! उसका घोड़ा शांत खड़ा जैसे देख रहा था।

'कहाँ जाओगे? अब उठ सकते हो?' मैंने झुककर कुछ ऊँचे स्वर से पूछा।

वह मुस्कराया और उसने इंगित किया—उंगली उठाकर—आकाश की ओर!

तब मैं सिहर उठा। आकाश की ओर! और वह मुस्करा रहा था! आकाश! शून्य! इतना चलने के बाद कहाँ! कहाँ का लक्ष्य बाँधा! शून्य की ओर! इतना ही था इस सबका तात्पर्य! और अंधेरे तरुओं पर भीनी चाँदनी ने कहा: हाँ, यही है इसका अन्त। अपरिचित स्थान! अज्ञात क्षण! अब यह जायेगा! है कौन? क्या था यह? कहाँ का था? कोई बात नहीं। एक मुस्कान और इंगित—शून्य की ओर! वहाँ कौन-सी है वह जगह, जहाँ यह चला जायेगा!

मेरा गला रुँध गया। मैंने कहा : 'यात्री !'

वह धीरे से बोला : 'तुम मनुष्य हो या वनदेवता ?'

'मैं ?' मैंने कहा : 'मनुष्य हूँ यात्री !'

'तुम !' वह धीरे-धीरे कहने लगा : 'तुम मनुष्य नहीं हो सकते। मैंने कभी मनुष्य ऐसा नही देखा। मुझे ज़रा उठा लो।'

मैंने उसे सहारा देकर बिठाया। अब उसका गला कुछ अधिक खुला। वह कहने लगा : 'मनुष्य कब निस्स्वार्थ किसीके लिये इतना करता है ? तुम मुझे जानते हो ?'

मैने कहा : 'जानता हूँ। तुम कोई दुखी हो। यात्री हो। मैंने तुम्हें तड़पते हुए देखा।'

'मैं इस निर्जन में तड़प रहा था प्यासा।' उसने कहा : 'समझा था, यही अन्त होगा···

वह रुक गया। निढाल-सा हो गया। फिर लगा जैसे उसके पेट मे मरोड़ा होने लगा। वह मेरी गोद से लुढ़क गया और अब तक के शांत व्यक्ति को मैंने एक भयानक संघर्ष करते हुए देखा, जैसे जीवन उसके रोम-रोम में अन्तिम युद्ध कर रहा था। मैंने तेज़ हवा में काँपती दीप-शिखा देखी थी, परन्तु जीवन की शिखा को मृत्यु के अन्धकार में तड़पते हुए देखना मेरे लिये प्रथम अनुभव था। यहाँ एक व्यक्ति था, शायद राजगृह जा रहा था, शायद यही उसकी अन्तिम मंज़िल थी; और मंज़िल के इतने पास आकर भी वहाँ नही पहुँच पा रहा था, शायद उसकी मंज़िल यही समाप्त हो गई थी। पसलियाँ पकड़कर जब वह खाँसता, और भीतर ऐंठन उठती तो उसकी कठोर यंत्रणा देखकर मेरे मेरुदण्ड में काँतरों की पाँति-सी चिपक जाती। और मैं बैठा था। कुछ नही कर पा रहा था। वह था अपने दुख का अकेला भोगी। मैं क्या करता ? मैं कभी खड़ा होकर इधर-उधर देखता, कभी उसे सहारा देता और कभी उसे हवा करता, परन्तु अब यंत्रणा असह्य हो गई थी। वह चिल्लाने लगा : 'छोड़ दो मुझे ·· छोड़ दो मुझे···

अंधेरे में वह स्वर भर्राया-सा चीत्कार कर उठा। वह पुकारने लगा : 'अब नहीं करूँगा···अब नही करूँगा···ओ यम ! अरे मत आ मेरे पास···

और ऐसा पीड़ाभरा रोदन गूँज उठा, जो शायद मैंने कभी नहीं सुना।

मैंने उसे सहारा दिया, परन्तु बहुत-सा रक्त उगलकर वह दर्द से बड़ी ज़ोर से कराह उठा और चिल्लाता-सा मुझसे कहने लगा : 'अब नहीं सहा जाता··· नहीं सहा जाता···

वह कराहता जाता था···

और जैसे बहुत दूर, सुदूर अतीत में देखते हुए उसने अन्धकार को घूरते हुए कहा : 'पाप ! मैंने पाप किया था··· हाँ··· मैंने भी उन्हें तड़पा-तड़पाकर मारा था···वे मेरे ऋणी थे···वे दरिद्र थे···मैंने धन के मद में उन्हें भूखा मार डाला था··· दास बनाकर बेचा था···

फिर वह कराहने लगा और तब उसने अपने बालों को नोंच लिया और कहा : 'राजगृह ! तू मेरा लक्ष्य था···तेरे लिये मैं भागा था घोड़े पर···सोचा था···राजगृह में मैं नगरश्रेष्ठि बनूँगा···परन्तु···परन्तु मुझे काल ने पकड़ लिया मार्ग पर···और वह सारा धन···क्या होगा उस धन का जिसके लिये मैं सदैव हिंस्रजन्तु से भी भयानक बना रहा···क्रूर बना रहा···मरतों को देखकर भी कभी नहीं दहल सका। सुवर्ण की ढेरियों से मैंने मनुष्यों की मृत्यु के हाहाकार को ढँक दिया···

मैं अवाक् सुनता रहा। धन ! वही धन !

और तब वह फिर तड़पने लगा। अब मैं नहीं हिला। जैसे मैं पत्थर बन गया था।

उसने कराह कर कहा : 'और तूने मेरा रक्त धोया·· कफ़ धोया·· तू देवता है···जीवन के इस अंधकारमय दारुण नरक के अन्त में तू स्वर्ग की सुगन्धित शीतल वायु का एक झोंका कहाँ से आ गया···बोल···कौन है तू···

मैं नहीं बोला। वह तड़पता था, जैसे मछली जीवित ही किसी जलते तवे पर डाल दी गई थी। मैंने धीरे से कहा : 'उसकी याद कर यात्री, जो तेरे लिये जीवन में कभी पवित्र था···

वह अब हँसा। उसका विकराल क्रूर हास्य ! जैसे मृत्यु से चुनौती देने को ललकार उठा। उसने कहा : 'उसकी याद ? और अब भी ! उस विष की ? आज ही तो तूने वह विष मुझमें से खींचा है···

'क्या था वह···' मैंने पूछा।

'धन !···मेरा धन···मेरा संचित धन···

'यात्री ! उसे भूल जा ! वह तेरा नहीं। वह अस्थिर था, है और रहेगा··· शांति से मर···वीर की तरह मर···

'शांति···पाप का पुञ्ज···मैं···और मुझे शांति···देगा शांति मुझे···मैं नहीं मर सकता ··मेरे पाप का प्रायश्चित्त क्या है···मैं तो तड़पता रहूँगा···तब तक···जब तक प्रलय नहीं हो जाता···

'मुझे बता यात्री !' मैंने काँपते कंठ से कहा : 'मैं तेरी इच्छा पूरी करूँगा। बता। तेरा घर कहाँ है···मैं तेरा संदेसा पहुँचा दूंगा·····

'तू लेगा मेरा पाप ? उसे पुण्य बना देगा ? वचन दे !'

'देता हूँ।'

'तो घोड़े की पीठ पर बंधा चमड़े का थैला ला दे···यह मेरे प्राण अटक रहे हैं···उसके बिना यह नहीं निकलेंगे···जल्दी कर···

मैंने थैला निकाला और उसके हाथ में दे दिया। उसने एक बार उसे देखा और कहा : 'यह ले···मेरा पाप···पुण्य बना दे···

और जैसे दीपक हठात् बुझ जाये वह एकदम लुढ़क गया। एकदम शांति छा गई।

रक्त और कफ़ से लिसड़ा वह अनजान यात्री अब पीड़ा से मुक्ति पा गया था, सदा के लिये। मैंने देखा कि असह्य यातना ने उसके मुख को टेढ़ा कर दिया था, जिसके कारण उसकी जीभ भी ऐंठ गई थी और वह भी ऐसा पड़ा था, जैसे किसी ने उसे मरोड़ दिया हो, परन्तु उसके नेत्रों में एक मुस्कान थी···

और मेरे हाथ में था उसका पाप, जिसे मुझे पुण्य बनाना था। मैंने अपना उत्तरीय उसे उढ़ा दिया। उसका घोड़ा उसके पास आ गया था और रो रहा था। मैंने घोड़े को रोते देखा तो मुझे भी आँसू आ गये। मैंने अनुभव किया कि एक अनजान यात्री, जो किसी उद्देश्य को लेकर राजगृह जा रहा था, मंज़िल के पास आकर सारे अरमान लिये मर गया था और ऐसे तड़प-तड़पकर कि देखना असह्य था। अन्तिम क्षण में उसे लगा था जैसे उसका सारा जीवन एक पाप था, एक जघन्य स्मृति थी, जिसके स्मरण से वह डरता था; उसके प्राण नहीं निकलते थे। और अब ! वह सदा के लिये चला गया था।

मैंने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और चिता बनाई और पत्थरों को रगड़कर आग सुलगाकर तिनके जलाये और तब चिता पर उसे लिटाकर आग लगा दी। मैं

बैठा उस जलत दखता रहा। उस ज्वाला म जान कसा पाड़ा था। कि उसका घोड़ा ज़ोर से हिनहिना उठा और भाग चला। मैं बैठा रहा। एक मनुष्य के अन्त को देखता रहा। उसका एकमात्र साक्षी मुझे ही होना था। मेरे ही हाथों उसे दाह लगना था!

चिता की अग्नि फैलती गई और तब उसके उजाले में मुझे ध्यान आया। क्या है उसका पाप जिसे मुझे पुण्य बनाना है। मैंने हाथ बढ़ाकर चमड़े का थैला उठा लिया और खोला। ज्योंही उसे उल्टा किया, मेरे हाथ पर हीरे और मोती बरस पड़े। जिसने अपने जीवन भर इन्हें कमाया था, इन्हीके लिये पाप किया था, इनका ही जिसे इतना भय और मोह था कि उसके प्राण तक नहीं निकल रहे थे; आज वे ही धन के टुकड़े मुझ अपरिचित के हाथ में थे, और मैं उन्हें उसीकी चिता के प्रकाश में देख रहा था, जिसने इन्हींके लिये जीवन बिताया था। आज वह स्वयं जलकर अपने जीवन की सार्थकता का पाठ पढ़ाकर, मुझे अपनी चिता के आलोक में दिखा रहा था कि उसने अपना सारा जीवन किस तरह व्यर्थ ही बर्बर और हिंस्र मूर्खता में नष्ट कर दिया था! और इस मुझे पुण्य बनाना है? इसे पाप कहूँ कि पत्थर! इसे पुण्य बनाना है।

मैं ठठाकर हँसा। मेरा घोड़ा मेरे पास आ गया।

तब मैं उठ खड़ा हुआ। चंदा अब उतार पर था। रात सुनसान अन्धेरी हो चली थी। भीनी-सी हवा अब फिर बह निकली थी। चिता की अग्नि भी बुझ चुकी थी। मैंने हाथ-पाँव धोये। और तब मैं घोड़े पर चढ़ गया और थैला लिये मैने एड़ लगाई। घोड़ा भाग चला।

अलस अन्धेरे की बेला मैं सम्राट् बिंबसार के विशाल प्रासाद के सामने पहुँच गया। बाहर जो घंटा लटका था, विशेष कार्य से प्रार्थना करने वालों के लिये, उसकी रज्जु मैंने खींच दी। तुरन्त दो सेवक आ गये। मैं घोड़े से उतर पड़ा।

'क्या चाहते हो!' दण्डधर ने घूरकर कहा।

शायद मेरे बिखर गये थे बाल। शायद मेरे लाल-से थे नेत्र। शायद मेरे अस्त-व्यस्त-से थे वस्त्र। मुझे याद नहीं है।

'मैं सम्राट् के दर्शन करना चाहता हूँ।'

'इस समय?'

'हाँ, इसी समय !' मेरा स्वर उठ गया था।

प्रासाद का वृद्ध कञ्चुक आ गया और बोला : 'युवक ! सूर्योदय हो जाने दो। तुम्हें विशेष कार्य है कुछ ?'

मैंने कहा : 'यह लो ! सम्राट् को पहुँचा देना। जिसका यह दान है, वह सम्राट् के महानगर के द्वार पर आकर आकस्मिक रोग या दैव से मर गया। वह चाहता था कि इस पाप को पुण्य बना दे कोई। यह कार्य केवल राजा कर सकता है।' मैंने थैला उसके हाथों पर फेंक दिया।

यह कहकर मैंने घोड़ा मोड़ा।

कञ्चुक ने मुझे रोककर इंगित किया : 'थैला भीतर चला गया। सम्राट् अभी आयेंगे युवक ! बैठ जाओ।' कञ्चुक ने कहा। मैं चुपचाप एक फलका पर बैठ गया। जब सम्राट् आये, वे कुछ विस्मित भी थे, कुछ घबराये भी।

'कौन है !' सम्राट् ने कहा।

'दास है देव !' मैंने उठकर प्रणाम किया।

'वह तुमने दिया है ?'

'हाँ देव !'

'वह किसका है ?'

'पाप और भ्रम का। एक विनष्ट जीवन का। उसके स्वामी हो सकते हैं केवल देव !'

सम्राट् श्रेणिक बिंबसार मुझे देर तक देखते रहे। फिर कहा : 'तुम कौन हो युवक ! कहाँ रहते हो ?'

'मैं धनकुमार हूँ देव ! एक विदेशी हूँ। इस समय महाश्रेष्ठि कुसुमपाल का अतिथि हूँ।'

बिंबसार चौंक उठे और तब उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा : 'आओ मेरे साथ।'

झुकते दण्डधरों, प्रतीहारों के बीच से होकर वे मुझे अपने विशाल प्रकोष्ठ में ले गये और स्वयं अपने हाथ से उन्होंने पात्र में पानी भरकर मुझे दिया और कहा : 'पियो !'

मैंने गट-गट करके पी डाला उसे। स्वयं सम्राट् ने फिर उसे भरा और मैंने फिर पी लिया। और तब मुझे लगा कि मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा

था। मन हाथ फैला दिया, परन्तु जब मुझे होश आया, मैंने देखा—एक ओर से सम्राट् मुझे सँभाले थे, दूसरी ओर एक प्रतीहारी थी। उन्होंने मुझे एक शय्या पर लिटा दिया। सामने जलती चिता देखकर मैं चिल्ला उठा : 'बुझा दो उसे ! कितनी भयानक है वह चिता !'

मैंने आँखें बंद कर लीं। दूर से लगा कोई कह रहा था : 'देवि ! उस दीपक को बुझा दो। युवक अभी अस्थिर है।'

मैं सो गया।

जब मैं जागा तो शरीर काफ़ी हल्का-सा लगता था। दासी ने कहा : 'प्रभु ! स्नान कर लें।'

मैं स्नानागार में पहुँचा तो देखा, संगमर्मर के कुट्टिम पर कहीं-कहीं केशर पड़ा था। हंस क्रीड़ा कर रहे थे। ऊष्ण और शीतल-सुगंधित जल लिये दासियाँ प्रतीक्षा कर रही थीं। मैंने देखा और कहा : 'एकांत !'

वह सब चली गईं। स्नान करने से मैं जैसे शांत हो गया। भोजन का थाल प्रकोष्ठ में ही आ गया। निरामिष भोजन था। कितने ही तरह के व्यंजन थे। खाकर सोया तो संध्या को उठा। तभी कञ्चुक ने आकर कहा : 'प्रभु ! देव ने स्मरण किया है।'

मैं उठ खड़ा हुआ।

विशाल सुवर्ण सिंहासन पर सम्राट् उपस्थित थे। एक ओर कुणिक अजातशत्रु, और दूसरी ओर अभयकुमार; दोनों राजकुमार खड़े थे। प्रतीहारी मुझे भीतर ले गई। मैंने झुककर प्रणाम किया।

सम्राट् की आज्ञा से मैंने सारी घटना सुनाई, जिसे सुनकर वे कुछ क्षण मौन रहे। कुणिक और अभय भी। तब कहा : 'अभय ! तुम मेरे साथ चलो। कुणिक, हमारी ओर से धनकुमार के लिये एक प्रासाद, और सारी सुविधाएँ। वह धन कोष में दे दो।'

'जो आज्ञा देव !' कहकर कुणिक मेरे पास आया। सम्राट् और अभय के जाने पर कुणिक से मुझे पता चला कि कुसुमपाल को सम्राट् ने बुलाया था और मेरी बहुत प्रशंसा की थी।

मैंने कहा : 'मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।'

कुणिक ने मुस्कराकर कहा : 'वह तुम्हारा घर कहाँ श्रेष्ठिपुत्र ! तुम्हारा

प्रासाद तो उत्तर कोण में है। सम्राट् ने स्वयं अपने लिये बनाया था। तुम हमारे अतिथि हो। वैसे जाओ अवश्य। कुसुमश्री पथ देखती होगी।'

मैं अचकचा गया।

उत्तर कोण में! प्रासाद! अपने लिये बनाया था सम्राट् ने! अब मेरा है वह! मैं कितना हँसू—भाग्य की विडम्बना पर! मैं समझ नहीं पा रहा था। श्रेष्ठि कुसुमपाल के यहाँ पहुँचकर घोड़े से उतरा। संवाद नगर में पहले ही पहुँच चुका था। घर भर जानता था अब कि मैं सम्राट् के पास था। कुसुमश्री मुझे देखकर मेरे समीप आ बैठी। बोली : 'आर्य! मेरी बधाई स्वीकार करें।'

मैंने उसे आँखें फाड़कर देखा। एक बार हमारे नयन उस एकान्त में मिले। मैंने उसके हाथ पकड़कर कहा : 'मत दो मुझे बधाई कुसुमश्री! मुझे भय लगता है।'

'पुरुष होकर भय!' उसने कहा। जैसे पुरुष क्या हुआ पहाड़ हो गया! और सोचा, ठीक ही तो कहती है। स्त्री पुरुष ही की कल्पना करती है। वह नहीं जानती कि अपनी वेदना में पुरुष कितना निरीह होता है। कुसुमश्री ने उच्छ्वसित होकर कहा : 'पुरुष शक्ति है!' और फिर मेरे देखते ही लजाकर सिर झुकाकर कहा : 'स्त्री प्रेम है। पुरुष और स्त्री! जानते हो? सच! मैं कह नहीं सकती!'

'मैं बहुत व्याकुल हूँ कुसुमश्री! मुझे आधार दो। मुझे सब कुछ होते हुए भी, लगता है, मेरे कुछ नहीं है। सब कुछ सूना है। सब कुछ शून्य है। चारों ओर एक अत्यन्त क्रूर और निर्मम प्रकृति बिना कहे, बिना सुने, हमें नचाती चली जा रही है। यह क्या है कुसुमश्री! बोलो! कुसुमश्री!' और फिर मैंने रात की बात सुनाई।

वह मेरी ओर देखती रही, फिर कहा : 'जीवन है तब तक है। कोई कैसे ही मरता है, कोई कैसे ही।'

और सचमुच दो बार उस कहानी को सुनाने पर मुझे लगा कि वह घटना ऐसी कुछ विचित्र नहीं थी। केवल कुसुमश्री ने कहा : 'श्रेष्ठिपुत्र! तुम सचमुच बहुत महान हो। सब कुछ दे डालना तुम्हें सहज है। अपने से कुछ भी मोह नहीं तुम्हें। तभी तो सब तुम्हें चाहते हैं। अब प्रासाद भी नहीं चाहते!'

'तुम चलोगी मेरे साथ देखने? चलो कुसुमश्री।'

उसने लजाकर कहा : 'हाय अभी से !' और उसका कटाक्ष मुझे विभोर कर गया। मैंने कहा : 'तुम नहीं चलोगी तो मैं वहाँ क्या करूँगा !' उस समय मैं नहीं जानता था कि मैं कितना उच्छ्वासित था। मैंने घुटनों पर टिककर उसके वक्ष पर अपना सिर रख दिया। उसके धड़कते हृदय की आवाज़ मैंने सुनी। उसने मेरे सिर को अपनी छाती पर दबा लिया। मैं कहता गया : 'कुसुमश्री ! मझे सहारा चाहिये। धन, अधिकार, शक्ति, पाप और पुण्य, परिवर्तन यह सब प्रकृति और दैव के निर्मम खेल हैं। मैं इनसे लड़कर नहीं जीत सकता। यह सब मनुष्य के हाथ की बातें नहीं हैं। मैं इनको समाप्त भी नहीं कर सकता परन्तु प्रेम मनुष्य की शक्ति है। थोड़ा-सा स्नेह ! दे सकोगी, कि इस शून्य का विस्तार भर जाये ! इस विराट अस्तित्व में तिनके का सहारा यह प्रेम !'

कुसुमश्री ने उसी प्रकार मुझे लिपटाये कहा : 'तिनका ! जिसे पकड़कर सावित्री ने यम को हराया था स्वामी !'

स्वामी ! मैं विभोर हो गया।

बाहर कुसुमश्री की सखी ने आहट करके कहा : 'हला सखी ! अब आगे के लिये भी कुछ रहने दो। माता आ रही हैं।'

यह बिल्ली कब से खड़ी थी यहाँ ? हम दोनों लाज से लाल होकर अलग हो गये। कुसुमश्री तो तुरन्त बगल के द्वार से चली गई।

श्रेष्ठिपत्नी आई। मैंने प्रणाम किया। बैठकर बोलीं : 'बैठो श्रेष्ठिपुत्र ! प्रासाद से सम्राट् ने कहलाया है। सब सुना है हमने। कुसुमश्री के पिता तो हर्ष से मुग्ध हो गये हैं।' फिर स्वर बदलकर कहा : 'श्रेष्ठिपुत्र ! कैसे कहूँ। मुँह नहीं खुलता कि तुम न जाने क्या सोचोगे। परन्तु मेरी यह पुत्री मैंने बड़े लाड़ से पाली है। इतने दिन से राह देखती थी कि कोई योग्य वर मिले···

फिर मेरी ओर गूढ़ दृष्टि से देखा।

मैंने कहा : 'अम्ब ! मैं अज्ञात कुलशील···

'चलो रहने दो', वे काटकर कह उठीं : 'बोलो मत। सब देख रहे हैं फटे वस्त्रों में भी देखा था तुम्हें। तब नहीं समझ गये थे हम ?'

मैंने सिर झुका लिया।

और आज याद करता हूँ। क्यों मैं इतने वेग से गया था उस ओर। उस विषाद की अति ने मुझे वासना के प्रवाह में उठाकर दे मारा था। और तब मैं

प्रासाद में गया, विवाह हुआ, कुलीनों की भीड़ हुई, सम्राट् आये, वैभव नाचने लगा और तब ? तब कुसुमश्री के नयनों में मैं अपने आपको भूल गया और भूल गई कुसुमश्री अपने आपको मेरे संगीत में।

इन्हीं दिनों एक हलचल हुई। महाराज चण्डप्रद्योत महासेन सेना लेकर बढ़ आये। लगा कि युद्ध होगा ही, परन्तु अभयकुमार ने किसी प्रकार उन्हें ऐसा भ्रम में डाला कि वे घबराकर पीछे हट गये। कुछ ही दिन बाद संवाद आया कि चण्डप्रद्योत उज्जयिनी से लौटे और धोखा खाने से क्रुद्ध होकर किसी छल से अभयकुमार को पकड़ ले गये। मुझसे किसी ने राय नहीं ली। अतः मैं कुछ नही बोला। और फिर मुझे अब कोई टीस नही थी। प्रासाद था, दास-दासियाँ, भृत्य, अनुचर, सैनिक, धन, उद्यान, श्रेष्ठ भोजन था और मित्र थे, जो दिन पर दिन बढ़ रहे थे। सारा समय कला-विलास मे बीतता था और सबसे ऊपर थी मेरी प्रिया कुसुमश्री ! फिर भी अभयकुमार का पकड़ा जाना साधारण विषय न था। मैं भी सम्राट् के पास गया। संवेदना प्रगट की। मैं बोला : 'महाराज ! कुछ मेरे योग्य सेवा···

हँसे। मैंने देखा कि वह व्यक्ति राजनीतिज्ञ था। समुद्र का-सा गम्भीर। बोले : 'वत्स ! राजा किसीका अपना नही होता, क्योंकि उसे प्रजा का हित देखना पड़ता है। अभय अभी वही रहे, तो युद्ध दूर रहेगा। प्रद्योत में इतना साहस नही कि उसे दुख दे या मार डाले। मेरे गुप्तचरों से मुझे सब समाचार मिल रहा है। प्रद्योत हठी और मूर्ख है।'

'तो देव मैं कुछ···

'मेरा कौन-सा व्यक्ति कब राज्य के काम आयेगा, यह मैं देखता रहता हूँ वत्स ! जहाँ तलवार की ज़रूरत होगी तलवार भेजूँगा, जहाँ सुई की ज़रूरत होगी वहाँ सुई भेजूँगा। अभी खेलो-कूदो। मैं स्वयं जाग्रत हूँ। हाँ, तुमने सुना ! नगर में ज्ञातृपुत्र महावीर वर्द्धमान आये हैं। वैशाली के क्षत्रिय। गणराजा सिद्धार्थ के पुत्र। कहते हैं लोग, वे तीर्थंकर हैं।'

मैं हँसा। कहा : 'इस युग में तीर्थंकर ?'

'अरे वत्स !' वे बोले : 'वह भी आ गया है।'

'कौन देव ?'

'शाक्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम। गणराजा शुद्धोधन का पुत्र। वह अपने को

बुद्ध कहता है। मुझे याद है, वह गृह त्यागकर यहाँ आया था—राजगृह। अच्छा सुन्दर-सा व्यक्ति था। मैं भी उसे देखकर प्रसन्न हुआ था। मैंने उससे कहा था कि धन, स्त्री, अधिकार, जो तू चाहे, मैं दे सकता हूँ। उसने कहा : नहीं। यह मेरे पास था। अब मैं लोक में धर्म की दुन्दुभी बजाना चाहता हूँ। मैं सत्पथ खोजूँगा।—वत्स ! उस युवक में कुछ था ज़रूर ! उसमें लगन थी। मैंने कहा था : अच्छा ! यदि तू कुछ खोज सके तो मुझे ज्ञान देना !—अब वह आ गया है, सारे शाक्य उसके पीछे लगे हैं। कुछ पा गया लगता है। वत्स ! ऐसे लोग कुछ कर तो लेते है। मैंने अजित केसकम्बल को भी देखा। मंखलि गोसाल से भी मिला हूं। पता नहीं, मार्ग किसका अच्छा है ! पर हैं यह लोग कुछ ठोस ! लोक-मानस को जीतना क्या सहज है ? कहते हैं, गौतम ने शास्त्रार्थ में काश्यप को हरा दिया। अरे काश्यप ! उफ़ ! उसकी मेधा का डंका गांधार से सुनकर लोग आते हैं।'

मगध में हलचल थी। जगह-जगह विवाद। बुद्ध और तीर्थंकर ! दो-दो मानव के पथ ! परन्तु मैंने कुसुमश्री से कहा : 'प्रिये ! यह दोनों कभी मिलते भी हैं परस्पर !'

वह हँसकर बोली : 'बस ! स्वामी ! तुमने कह दी। न मिलने में ही गौरव है। मिलेंगे तो लड़ न पड़ेंगे ? एक वन में दो सिंह कभी रहे हैं !'

मैं भी हँस पड़ा। परन्तु राजगृह के भाग चेते। बड़े-बड़े लोग आने लगे। मैंने कहा : 'चलो कुसुमश्री, देखें तो। सम्राट्, महाराज्ञी वैदेही, देवी चेल्लना, देवी मृगावती, सबने हिस्से बाँट लिये हैं।'

वह बोली : 'स्वामी ! एक और आये हैं, आपने नहीं सुना ?'

मैंने कहा : 'कौन ?'

'शाक्यपुत्र देवदत्त ! वे कुणिक के गुरु बने हैं। कहते हैं, वे सिद्धार्थ गौतम के विरोधी हैं।'

'पर सुना है तुमने ? अनाथपिंडक ने, जेतकुमार है न ? उससे स्वर्णमुद्राओं से पृथ्वी ढँककर मूल्य चुकाकर भूमि खरीदी है उसने। अब जेतकुमार भी एक उपवन बुद्ध के लिये बनवा रहा है ! आखिर तो बुद्ध में कुछ होगा ही !'

'स्वामी ! कहते हैं, इस सिद्धार्थ गौतम की तो स्त्री यशोधरा अभी जीवित है। यों कहते हैं, यह उसे सोते में छोड़ भागा था।'

यों हम बातें किया करते। मैं सम्राट् के साथ दोनों के दर्शन भी कर आया। थे दोनों पहुँचे हुए। यही सम्राट् कहते थे : 'वत्स ! मनुष्य है। प्राचीन ऋषि भी किसीसे कम थे ? यह भी है। सब ठीक है। धर्म तो व्यक्ति का स्वावलंबन है।'

एक दिन मैं सोच रहा था : धनकुमार ! तू क्या था ! और अब क्या हो गया है !—मन ने कहा : वह भटकन थी, व्यक्ति का अतृप्त हाहाकार था। शांति परिवार से आती है, जहाँ कोई हो अपना। जहाँ कोई हो जो सुख-दुख का साथी बनकर रहे। लोक है। सुख-दुख का भण्डार।—परन्तु एक बात की मुझे कचोट कभी-कभी होती थी। मेरे पास जो अब सब कुछ था, वह क्यों ? किसी पापी के धन का पुण्य मुझे मिल रहा था। उधर सम्राट् का कहना था कि सूई और तलवार, दोनों ही वे रखते थे। मैं तलवार हूँ या सूई ! यही मेरी समस्या थी।

इसी समय कोलाहल सुनकर मैं बाहर आ गया।

'स्वामी !' उद्यानपाल चिल्लाया : 'सिचानक छूट गया। नगर में उत्पात मचा रखा है उसने। बाहर मत जाइये।'

अनुचर फाटक बन्द कर रहे थे, किन्तु मैं घोड़े पर छूट निकला। पीछे कुसुमश्री को देखा। बाद में क्या हुआ मैं नहीं जानता। सिचानक अभयकुमार का प्रिय हाथी था। मैंने विशाल राजपथ पर जाकर देखा, प्रासाद के वातायनों में से राजकुल झाँक रहा था। सम्राट् ने पुकारकर कहा : 'हट जाओ वत्स ! सिचानक पागल हो गया है।'

मैंने पास खड़े घबराये हस्ति-संचालकों में से एक के हाथ से दंड छीन लिया और आगे भागा, घोड़ा छोड़कर। और भग्गी पड़ गई थी। सिचानक चिग्घाड़ रहा था। चारों तरफ़ टूट रहा था। ठीक सम्राट् के वातायन के सामने आकर वह चिग्घाडने लगा। उसने अभी चार व्यक्ति कुचल दिये थे, दो को चीर दिया था। दूकानें छोड़कर दुकानदार भाग गये थे। अब एक ओर से बाण चढ़ाये सैनिक आ रहे थे। सम्राट् किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे। अभयकुमार का प्रिय हाथी सिचानक मरने को था। सम्राट् का मुख खुला रह गया था। और उधर अभय पिता के राज्य के लिये बन्दी था।

मैंने खुले में जाकर हाथी को ललकारा। भीमकाय गज ने मुझे देखा और

झपटा। उसका वेग देखकर लोग चिल्लाये : 'हट जाओ श्रेष्ठि ! भाग जाओ !'

परन्तु आज मेरी नागदमनी विद्या की परीक्षा थी। ज्योंही हाथी पास आया, मैं एकदम उसके पीछे हो गया; भीड़ चिल्ला उठी। सम्राट्, साम्राज्ञी, प्रजा, सब देख रहे थे। मैं अब जीवन और मरण के संकट में था। ज्योंही मैं पीछे गया हाथी रोष से चिल्लाया और पीछे पलटा। उसने सूंड बढ़ाई। मैंने भाड़ से लौह दण्ड का प्रहार किया। हाथी फिर चिग्घाड़ा। अब कोई चारा नहीं था। अब दौड़ होने लगी। हाथी मुझे पकड़ना चाहता था और मैं कन्नी काट रहा था। मेरा वह अद्भुत कौशल देखकर बार-बार जयजयकार होता, किन्तु मृत्यु मुझ पर झूल रही थी। बार-बार के दण्ड-प्रहार से हाथी अत्यन्त विह्वल हो गया। वह कभी-कभी क्रुद्ध-सा पिछले पाँवों पर खड़ा हो जाता। सन्नाटा छा गया। उसी समय मैं चिल्लाया : 'अंकुश फेंको।'

तुरन्त मेरे और हाथी के बीच कई अंकुश आ गिरे। हाथी टूटा। मैं फिर चक्कर दे गया और तब लगा कि हाथी की सूंड मुझे लपेट लेगी। लोगों की साँस रुक गई, परन्तु मैंने अंकुश उठा लिया और वह हाथ मारा कि हाथी पीछे हटकर फिर चिल्लाया। वह घूम गया कि मैंने लपककर उसकी पूँछ पकड़ी और मुँह में अंकुश दबाकर उससे लटक गया। अब हाथी घबराने लगा। वह बहुत-बहुत चिल्लाया, नाचा, कूदा, पर अब मैं उसकी पकड के बाहर था। तभी वह दुष्ट बैठने लगा, मुझे नीचे दबाने को, और मैं तुरन्त उसकी पीठ पर चढ़ गया और ज्योंही उसने सूंड उठाने की चेष्टा की मैंने भरपूर वेग से अंकुश उसके माथे में घुसेड़ा। हाथी चिल्लाने लगा और मैं ऊपर लेटकर अकुश मारता हो चला गया। हाथी घबरा गया। मार बढ़ती गई और तब नागदमनी संकेत से बोल-कर मैं उसे आलान के पास ले चला। जब हाथी बैठ गया और हस्ति-चालकों ने लोहे की जंजीरों में उसे जकड़ दिया मैं उतर आया। कैसा निर्घोष उठा ! कैसा कोलाहल ! कैसा जय-जयकर ! राजगृह की ईंट-ईंट चिल्लाने लगी।

'जय ! सिचानक-विजेता धनकुमार की जय !'

'जय ! महापराक्रमी धनकुमार की जय !'

वही पथ। मैं धूलि और स्वेद श्लथ। हाथी ने सूंड हिलाकर मुझे प्रणाम किया। सम्राट्, साम्राज्ञी, रानियाँ, कुणिक, श्रेष्ठकुलीन और नागरिक,···उसी चौक में···और मैं विश्रांत परन्तु अथकित मन···जय···जय·····तभी रथ से

उतरी कुसुमश्री···प्रसन्न मुख।

श्रेष्ठि कुसुमपाल ने मुझे छूकर सान्त्वना पाई। कहीं चोट नहीं।

सम्राट् बिंबसार ने मुझे देखा और स्नेह से कहा : 'वत्स ! तुम मेरी चिंतना ; अनुकूल हो। अभी तक मैंने तुम्हें बुद्धिमान ही समझा था, परन्तु यह वीरता ासाधारण है। सिंचानक—तुम इसे नहीं जानते ! इस युग का ऐरावत है। सका दमन करना क्या सहज है ? शतानीक का पुत्र उदयन जो चौदहवें वर्ष ं ही नागदमन में कुशल माना गया, वह अब १६ का है। वह सिंचानक तो या, इससे उतरने मदवर्षक को भी नहीं दबा सका। तुमने सिंचानक को ऐसे दबा लिया ! सच !'

'सम्राट् !' साम्राज्ञी वैदेही ने कहा : 'मैं तो समझी थी कि वत्स अभय का प्रिय हाथी अब मारना ही होगा। तुमने सच हमारी लाज बचा ली श्रेष्ठिपुत्र !'

'और तिस पर,' दानशूर मलयदास ने कहा : 'नगर में बुद्ध ठहरे हैं, तीर्थंकर ठहरे हैं। यह हाथी उधर ही जाने को था ! उफ़ ! पता नहीं क्या हो जाता ! धनकुमार ! तुम सचमुच परमवीर हो !'

सम्राट् ने सहसा कहा : 'कुसुमपाल !'

'आज्ञा देव !'

'एक मेरी विनय है। बोलो दोगे !'

'महाराज को अदेय क्या है ? ऐसा क्या है जो सम्राट् का नहीं ?'

'तो अपने इस जामाता को मुझे दे दो। मेरी सोमश्री के लिये।'

कुसुमश्री मेरे पीछे खड़ी थी। मर्यादा के रक्षण में थी। सहसा बोल उठी : 'मुझसे कहें पिता ! सम्राट् को मैं दूँगी।'

मैंने कहा : 'क्या कहती हो ?'

परन्तु वह बोली : 'लोग नहीं समझते कुछ स्वामी ! आपके जाने पर सब घबरा उठे।' मैंने कहा : 'भयभीत न हो। मेरे स्वामी हाथी को हरा देंगे। वे दैव को हराने वाले हैं। उनकी सामर्थ्य और पराक्रम तुम नहीं जानते। और जो मैंने कहा था वही ठीक निकला। अब यह अवसर मैं कैसे चूकूँगी ? सम्राट् और मेरे पिता, समकक्ष होंगे। स्वामी ! राजकुमारी सोमश्री मेरी स्वामिनी बनकर रहें। पलकों में रखूँगी। इस समय तुम्हें मेरे सुहाग की शपथ, 'ना' न

करना। यह मगध के वैश्यों के सम्मान का प्रश्न है।'

सम्राट् बिंबसार ने प्रसन्न होकर कुसुमश्री को अपने गले का रत्नहार देते हुए कहा : 'पुत्री ! जैसा सुना था, तुझे वैसा ही पाया।'

कुसुमश्री ने हार पहनकर प्रणाम किया सम्राट् को।

हो गया। सब कुछ। राजगृह में अद्‌भुत आनन्द छाया। सोमश्री आई। और नारी नारी ही थी !

अब मुझे अवकाश नही मिलता था। सम्राट् बिंबसार जैसा व्यक्ति भी क्या सहज समझ में आने को था ? मुझे पता भी न चला कि उस व्यक्ति ने मुझे कैसा बाँध दिया। दिन-रात उसीके काम करता, परन्तु कभी उसने काम नहीं बताया। आज्ञा नही दी। राय लेता था। और मैं ! उसके हाथ का कठ-पुतला था। घर में सोमश्री, कुसुमश्री, कुसुमश्री, सोमश्री···बाहर मित्र, श्रेष्ठि-गण, नागरिकगण। फिर पच्चीसों शिकायतें लेकर प्रजा। सबका काम कौन करे ? धनकुमार ! और सब कुछ करके भी हाथ में अधिकार क्या ? कुछ नहीं। और कौन-सी ऐसी है जगह जहाँ धनकुमार की सलाह नही चलती ? मानता हूँ। बिंबसार के सामने चण्डप्रद्योत सचमुच बच्चा था। उधर जैनों में बिंबसार की जयजयकार हो रही है, इधर बौद्धों में। वज्जियों से पूछो तो बिंबसार भला। कोसलवालों से पूछो तो वह देवता।

पर तब मुझे नही मालूम था। आज सोचता हूँ यह सब। उसने मुझे फँसाया भी किस कौशल से। कोई मुझसे ईर्ष्या करता तो किस बात की ! मैं जामाता ! अधिकार कोई नही। वैसे मैं ही मैं। सच ! मनुष्य भी ऐसा ही है। 'न कुछ' में कितना व्यस्त रहता है ! उसके कौशल की पराकाष्ठा मैं आज सोचता हूँ। उस समय क्या पकड़ पाता मैं।

अभयकुमार उज्जयिनी में था। यह जानकर नगर में क्षोभ था। एक दिन श्रेष्ठि गोभद्र आये। घबराये-से। सभा भर गई। भरी सभा। सारा राजगृह उमड़ पड़ा। गोभद्र ने बेईमानी की ! कोई मामूली बात थी ! गोभद्र ! जिसका नौ खंड वाला भवन मगध में ही नही, दूर-दूर तक विख्यात था। वह बौहरा भी था। उसके यहाँ मूँछ का बाल रखकर एक दिन श्रेष्ठि मलयदास ने उससे धन लिया था, यह बात और थी कि आज भाग्य ने मलयदास को उससे भी बढ़ा दिया और वह दानशूर कहलाने लगा। गोभद्र के सार्थ संसार पर फैले

हुए एक जाल के समान थे।

प्रतिवादी थे गोभद्र और वादी था एक श्रेष्ठि बलभद्र ! उज्जयिनी का। उज्जयिनी मे था अभयकुमार। ऐसे में उस व्यापारी के साथ न्याय होना आवश्यक था, क्योंकि युद्ध तो राजाओं का था, श्रेष्ठियों का नही। इसमें श्रेष्ठियों के विमुख होने की संभावना थी।

मैं सम्राट् के पास पाँचवे आसन पर था।

झगड़ा भी बड़ा विचित्र था। काना बलभद्र कहता था कि उसने छः महीने पहले उज्जयिनी से आकर राजगृह में दूकान खोली थी। वह धनहीन था, सो गया गोभद्र के पास। गोभद्र ने कहा : बन्धक दो।—बलभद्र ने एक आँख निकालकर दे दी। गोभद्र देखता रह गया। चुपचाप दस लाख मुद्राएँ दीं। तब से वह चमक उठा। अब उसके पास धन है और अपनी विवशता के उस स्मारक—उस आँख—को वह लेना चाहता है, पर गोभद्र देता नही। धन ले ले और दे दे। एक दिन था, जब बलभद्र की ऐसी भी हालत थी कि यह तक करना पड़ा ! पर अब गोभद्र को अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान आया है कि एक दिन धन के पीछे यह इतना अमानुषिक हो गया था। अब यह स्वीकार ही नहीं करता कि इसने ऐसा काम किया। धन नहीं लेता। और मैं तो क्या, उस समय जिन्होंने लोभ की इस सीमा को देखकर इसकी निन्दा की थी कि गोभद्र ! तू भी सब ले न जायेगा साथ, आज यह उनको भी झुठा रहा है। पूछ लीजिये। मैं विदेशी सही, पर यह तो यहीं के श्रेष्ठि है। साक्षी हैं। धन दिला कर मेरी आँख दिला दीजिये। वह मैं अपनी दूकान पर रखूँगा और कहूँगा—देखो ! यह है गोभद्र की मनुष्यता। जिस दिन मैं भूखों मरने को हुआ था, उस दिन उसने मेरी यह हालत कर दी थी।—सम्राट् ! यह कहता है कि बीस लाख मुद्रा दूँगा पर बात को छिपा दे। परन्तु धन से मेरी टीस नही मिटेगी देव ! न्याय चाहता हूँ। न्याय दीजिये।

प्रतिवादी गोभद्र ने केवल इतना कहा : 'समाट् ! मैं नहीं जानता, यह क्या कहता है। इसे मैंने कल के सिवा कभी देखा तक नहीं। क्या कहूँ। कल यह आया। मैंने अस्वीकार किया। यह चिल्लाने लगा। इसने यहीं के श्रेष्ठियों की साक्षी भी दिला दी। परन्तु मैं ऐसा जघन्य कार्य कभी करता ही नहीं।'

तब साक्षियों ने कहा : 'तुमने श्रेष्ठि मलयदास के सम्मान को घटाने को

उनकी मूँछ का बाल गिरवी नहीं रखवाया था ?'

गोभद्र सकपका गया। बोला : 'वह और बात है ! और यह तो भयानक बात है। निंदनीय ! यह झूठ है। वैसे महाराज कहें तो दण्ड मैं भर सकता हूँ, परन्तु इस बात पर नहीं।'

गोभद्र अपने एकमात्र पुत्र शालिभद्र की शपथ खाता था। साक्षी सामने थे। जब गोभद्र ने कहा कि बलभद्र के सारे साक्षी उसके कर्ज़दार थे तब बलभद्र ने कहा : 'बताओ उनकी धरोहर तुम्हारे पास है ?' गोभद्र ने कहा : 'यह तो विश्वास पर दिया गया धन था। अब वे नहीं देना चाहते तो इस तरह मुझे बरबाद करना चाहते हैं।' यह सुनकर मलयदास ने पुराना रोष निकला और कहा : 'विश्वास ! विश्वास ही करने वाले होते तुम गोभद्र ! तो मेरे अपमान ही क्यों कराते !'

बलभद्र ने मलयदास की जय बोली। और यह था मामला। बलभद्र ने अन्त किया : 'न्याय समाट् के हाथ है। मैं न्यायप्रार्थी हूँ। उज्जयिनी का हूँ, यह मेरा अपराध है अवश्य, पर अब समाट् की प्रजा हूँ। आगे जो भाग्य में होगा, वह स्वीकार्य है।'

अन्तिम बात बड़ी गहरी बैठी। गोभद्र ने सबा ओर देखा। कुछ में सहानुभूति नही थी। कुछ में थी। पर सब सम्राट् की ओर देख रहे थे। मैंने समझा कि सम्राट् भी घबराये-से होंगे। यह मामला इतने बड़े न्याय और सम्मान का था। बहुत-से लोग थे। कहते थे कि गोभद्र ने सच कहा था। क्या निर्णय हो। उधर उज्जीयिनी में अभय कुमार बंदी था।

परन्तु सम्राट् के मुख पर कोई चिन्ता न थी। सुनकर हँसे। हँसे कि सब अप्रतिभ रह गये। एक बार गूढ़ दृष्टि डाली बलभद्र पर और मुस्कराये। फिर देखा गोभद्र को और हँसे। वादी-प्रतिवादी दोनों के मुँह फक पड़ गये थे। सभा बिल्कुल स्तब्ध थी। सम्राट् ने कहा : 'बस ! यही मामला है ?'

वे फिर हँसे और कहा : 'धनकुमार ! देखा तुमने। न्याय माँगते हैं दोनों ! और उज्जयिनी में बन्दी अभयकुमार को जोड़ते हैं बीच में। मूर्ख ! वह मामला है हमारा और महाराज चण्डप्रद्योत का। इसे उसमें जोड़ने से समझते हैं कि हम न्याय से हट जायेंगे ! कितनी-सी बात और इतना आडम्बर ! धनकुमार ! तुम कहते थे : महाराज ! मेरे योग्य सेवा !—हमने क्या कहा था,

याद है ? लो अब समय आया है । हम तुम्हारी परीक्षा लेते हैं । देखें तुम समझते हो या नहीं ! न्याय करो इनका । हम उसे देखेंगे । पर ध्यान रहे पक्षपात न होने पाये । अन्तिम निर्णय हमारा ही होगा । वादी-प्रतिवादी कल आयें ।'

मैंने उठकर कहा : 'सम्राट् ! यह तो···

सम्राट् ने कहा : 'अरे इतने ही से घबरा उठे । देखो ! दोनों को देखो । देखकर ही पता चलता है कौन झूठा है ।' और फिर दोनों को देखकर कहा : 'अपराधी तो मेरी आँख में है । पर नही । पहले तुम्हें देख लूँ, तब बताऊँगा ।'

वे उठ गये । सभा विसर्जित हो गई ।

मैं बड़े चक्कर में पड़ गया । सम्राट् ने मुझे सारी विपत्ति का केन्द्र बना दिया । सचमुच राज का खाकर रहने वाला, उसके बल पर मौज उड़ाने वाला किस तरह तलवार की धार पर बैठा रहता है, इसका मैंने अनुभव किया । राजा किसका ? किसीका नही । पुत्र तक को बन्दीगृह में रखवा दिया । अब जामाता को फँसा दिया । आप भले बने रहे । अब श्रेष्ठियों की चाल व्यर्थ हो गई । अब तो फ़ैसला श्रेष्ठि देगा । परन्तु मुझे भी तो नमक अदा करना है । न कुसुमश्री मेरी समस्या को हल कर सकी, न सोमश्री । मैंने अपनी ही योजना बनाई ।

दूसरे दिन भीड़ जमा थी बल्कि और बढ़ गई थी । सम्राट् बैठ गये, तब मैंने खड़े होकर कहा : 'देव ! वादी-प्रतिवादी उपस्थित हैं । न्याय-कार्य प्रारम्भ करने की आज्ञा दें ।'

सम्राट् ने सिर हिलाया । मैंने कहा : 'वादी बलभद्र ! तुम्हारे साक्षी ?'

साक्षी आये । प्रतिष्ठित । गण्यमान्य ।

एक । श्रेष्ठि उत्तमदास ।

'हाँ श्रेष्ठि ! आपने देखा ऐसा ?'

'देखा श्रेष्ठिपुत्र !'

'नही' सम्राट् ने कहा : 'इस समय धनकुमार न्यायाध्यक्ष हैं । मर्यादानुकूल बात करो ।'

'हाँ श्रेष्ठि उत्तमदास ! आप मागध हैं ?'

'पुरुष-परम्परा से आर्य !'

'आपके सार्थ चलते हैं ?'

'हाँ आर्य, उज्जयिनी तक ।'

'आप धर्मानुसार शपथपूर्वक कहते हैं ?'

'हाँ आर्य !'

साक्षी—दो । श्रेष्ठि मणिवाहन ।

वही प्रश्न ।

'आपके सार्थ कहाँ अटके हैं ?'

'उज्जयिनी में ।'

उज्जयिनी में अटके हैं सार्थ । श्रेष्ठि उत्तमदास । श्रेष्ठि मणिवाहन । श्रेष्ठि दधिकुमार । श्रेष्ठि सुकुमारदत्त । श्रेष्ठि रघु । और कोई साक्षी ? हाँ वादी बलभद्र ! आपको कुछ और कहना है ?

'नही आर्य !'

प्रतिवादी गोभद्र ।

'हाँ प्रतिवादी गोभद्र ! अपने सर्वश्रेष्ठि उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु को ऋण दिया है ?'

'हाँ आर्य !'

'किस शर्त पर !'

'आर्य ! उज्जयिनी से आते सार्थ हमारे होंगे । हम उनका लाभ लेंगे । चौथाई इनका होगा ।'

'इससे इन्हें क्या लाभ प्रतिवादी ! ऋण इन्होंने क्यों लिया ?'

'आर्य ! इन्होंने उसी समय लाभ की आशा में ताम्रलिप्ति में नये सार्थ लिये ।'

'फिर ?'

'अब मेरे अप्रतिष्ठित होने से यह मुझे लाभांश और मूल, दोनों देने से बच जायेंगे ।'

'यह झूठ है—' वादी और साक्षी पुकार उठे ।

'मर्यादा !' मैंने पुकारा । निस्तब्धता छा गई ।

'हाँ प्रतिवादी ! और कुछ कहना है ?'

'आर्य ! बलभद्र उज्जयिनी का है । महाराज चण्डप्रद्योत ने इसे भेजा होगा ।'

'नहीं प्रतिवादी। यह अनुमान हम नहीं सुनना चाहते। हम स्वयं महाराज चण्डप्रद्योत को जानते हैं। श्रेष्ठियों के झगड़े में वे नही पड़ते। यह श्रेष्ठियों का पारस्परिक संघर्ष हो सकता है। आप इन्हें दरिद्र करना चाहते है। ये आपको। इस झगड़े में राजकुल नहीं आ सकते।'

वादी और साक्षी : 'धन्य है आर्य ! धन्य हैं। हम न्याय चाहते हैं।'

'न्याय मिलेगा।' मैंने कहा : 'प्रतिवादी ! आपने वादी की आँख बंधक रखी ?'

'नहीं आर्य !'

'याद कीजिये !'

'नहीं आर्य !

'फिर सोचिये।'

'नहीं आर्य !'

'प्रमाणित होने पर आप दण्डनीय होंगे।'

सम्राट् की ओर देखा। इस समय कुछ भ्रांत-से थे। अब वह कौशल मुख पर नहीं था। दोनों वादी-प्रतिवादी चक्कर में थे।

मैंने कहा : 'सम्राट् की जय ! देखिये। कल आपने इन दोनों को देखकर ही अपराधी को पकड़ा था। आज मैंने स्पष्ट कर दिया। अब निर्णय आप ही दें।'

और मैं झुककर बैठ गया। सम्राट् ने मुझे देखा। मैं समझा था कि अब सम्राट् फँस जायेंगे, परन्तु सम्राट् ने हँसकर कहा : 'साधु ! न्यायाध्यक्ष! साधु! अब तुम्हीं करो। अन्त तक कैसा निर्वाह करते हो, वह भी हमें दिखाओ।'

मैं मन ही मन हार गया। उफ़ ! सम्राट् सम्राट् ही थे। मुझे खड़ा होना पड़ा। सभा स्तब्ध थी।

मैंने कहा : 'देव ! प्रतिवादी झूठा है। इसने वादी की आँख बंधक रखी थी।'

वादी चिल्लाया : 'जय हो ! न्यायमूर्ति की जय हो !'

साक्षी भी चिल्लाये।

प्रतिवादी के नेत्र भय और घृणा से फट-से गये। उसका गला रुँध गया। उसने हाथ उठाकर गरगलाते गले से कहा : 'यह झूठ है महाराज !'

मैंने कहा : 'तुम प्रतिवादी ! तुमने मगध के श्रेष्ठियों का नाम डूबा दिया। यह वादी बलभद्र ! मनुष्यता के लिये अपना बलिदान देने वाला व्यक्ति ! सत्य के लिये, सत्य को प्रमाणित करने को सब कुछ सकता है !'

'न्यायमूर्ति ! साक्षात् धर्म की जय हो !' वादी हर्ष से विह्वल-सा चिल्लाया, यहाँ तक कि उसकी एक आँख से आँसू गिरने लगे।

सभा में रोष का फूत्कार निकला।

गोभद्र का मुख कठोर हो गया। उसने पुकारकर कहा : 'यदि गोभद्र पापी है तो मगध रसातल में डूब जाये। प्रमाण देना होगा !'

'दूँगा !' मैंने कहा : 'परन्तु महाराज ! साक्षी के लिये अभय दें।'

सम्राट् ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा और कहा :

'मैं अभय देता हूँ।'

'आ जाओ हरिदास !'

हरिदास !! श्रेष्ठि गोभद्र के विश्वसनीय भृत्यों में से ही ? वह हरिदास, जिसका शब्द श्रेष्ठि का शब्द था ! यही क्या स्वामिभक्ति है ? सनसनी। हलचल।

सोमश्री, कुसुमश्री, महाराज्ञी, रानियाँ, राजकुमारियाँ, नगर की प्रमुख स्त्रियाँ, स्वयं गोभद्र की पत्नी, पुत्री सुभद्रा, वादियों की पत्नियाँ, सब सभा में थीं।

हरिदास काँपता हुआ। मुख नीचे किये।

गोभद्र ने देखा और अविश्वास से झूम गया जैसे चक्कर आ गया हो। हरिदास ने मुझे एक मंजूषा दे दी।

मैंने उसे खोलने के पहले कहा : 'हरिदास !'

'आर्य !'

'तुम श्रेष्ठि गोभद्र के कौन हो ?'

'विश्वसनीय भृत्य !'

'तुम उनके विरुद्ध हो या पक्ष में।'

'आर्य ! मैं सत्य की ओर हूँ। मैंने सदैव श्रेष्ठि गोभद्र का कल्याण सोचा है। व्यापारी के लिये सबसे बड़ा गौरव धन है। बलभद्र धन देते हैं, लेना चाहिये। गोभद्र नहीं लेते, यह क्षत्रियों का धर्म-हठ वैश्यों को शोभा नहीं

देता । कुमार शालिभद्र के भविष्य के लिये धन चाहिये ।'

'हरिदास ! तेरी जीभ गल जायेगी ।' गोभद्र चिल्लाया ।

'मर्यादा !' मैंने पुकारा । 'हाँ हरिदास ! तो श्रेष्ठि गोभद्र ने आँख रखी थी ?'

'हाँ आर्य !'

'तो तुमने पहले क्यों न कहा ?'

'आर्य ! मैं तो रात को आया हूँ वत्स से । मुझे स्वामी गोभद्र ने भेजा था । इस बीच में क्या हुआ मुझे यह क्या पता ? रात सुना तो मैंने सोचा कि शायद स्वामी भूल गये हों, क्योंकि आँख एक ही की तो नहीं, कइयों की रखी हैं । आप देख लें । यह मंजूषा मेरे पास ही रहती थी, और रहती है । इसमें जिस-जिसकी आँख हैं उनके साथ भूर्जपत्र पर नाम अंकित है ।'

गोभद्र अवाक् ! वादी चकित ! साक्षी भ्रमित ! भीड़ में घृणा गोभद्र से । सम्राट् स्तब्ध, जैसे कोई बात नहीं । कुणिक चिंतित । सन्नाटा ।

मैंने मंजूषा खोली । पढ़ा : 'आँख !' अरे ! इतनी आँखें ! गोभद्र ! तुमने जरासंध की नरबलि की परंपरा को खूब निबाहा ! नयन-बलि लेकर । कहते हैं कोसल के वन में एक डाकू है जो अंगुलिमाल कहाता है, तुम भी अब नयन-माल कहलाओगे । पहली आँख—रक्त-हास ! 'हरिदास, यह कौन था ?'

हरिदास ने कहा : 'आर्य ! यह व्यापार की गुप्त बातें हैं । इसमें बड़े-बड़ों के सम्मान हैं । गौरव हैं । नाम सबके ज़ोर से न पढ़ें । सम्राट् को दिखा लें और वादी बलभद्र की आँख ढूँढ़ लें । और मूल्य दिला दें ।'

गोभद्र को देखा तो ऐसा लगा वह मर गया था । मैंने वादी बलभद्र से कहा : 'तुमने ठीक कहा था वादी ! तुम सत्य पर दृढ़ रहे । तुमने गोभद्र की भयानक और जघन्य धन-लिप्सा को अपनी मनुष्यता से पराजित किया । पर हरिदास ! यह भूर्जपत्र क्यों टूट गये ? क्या हुआ ?'

'आर्य ! पत्ते का क्या है ? चुरमुरा गया । मैं देखूँ ?'

देखा और कहा : 'सचमुच आर्य ! आँख तो सात हैं । अब पहचान कैसे हो ?'

'अरे वह क्या कठिन है ?' मैंने कहा : 'गोभद्र को दण्ड मिलना है हरिदास ! तुम मत डरो, तुम्हें सम्राट् का अभय है । पापी को दण्ड मिलना ही चाहिये ।

और फिर गोभद्र का यह दुस्साहस कि सम्राट् के सामने झूठ बोला। नहीं, हरिदास ! तुम भी धूर्त हो। तुमने धन कमाने का भी ढंग ढूँढा और स्वामी को भी संदेह का लाभ दिलवाने की चेष्टा की···

'मैं निरपराध हूँ।' काँपते हुए हरिदास ने कहा : 'मेरा कोई दोष नहीं। एक बार ऐसी ही घटना पहले हमारे यहाँ हुई थी। तब आँख की पहचान न होने पर ऋणी ने दूसरी आँख देकर कहा था—लो तोल लो जो बराबर की हो, वह लौटा दो। वादी बलभद्र स्वतंत्र हैं आर्य ! अपनी आँख चुन लें। परन्तु कही दूसरे की न ले जायें आर्य। आप धर्ममूर्ति हैं। न्याय होना चाहिये।'

मैंने चिल्लाकर कहा : 'चुप रहो ! तुम समझते हो कि सम्राट् के न्यायाधिकरण में अन्याय होगा ? सन्देह का अवसर रहेगा ? तुम नही जानते वादी हरिश्चन्द्र की भाँति सत्यवादी है।'

और तब मैने दण्डधरों से कहा : 'वादी की दूसरी आँख निकालो। तुला मँगाओ !'

कोलाहल मच उठा। गोभद्र मेरी ओर ऐसे देख रहे थे जैसे मैं कोई देवता था। श्रेष्ठि-समुदाय मे कुसमुस-कुसमुस चल रही थी। वादी थर-थर काँप रहा था।

एक साक्षी ने बढ़कर कहा : 'सम्राट् ! यह तो अन्याय है।'

'अन्याय !' मैने कहा : 'इसमें अन्याय ? तुम साक्षी हो बलभद्र के, और बोलते हो गोभद्र की ओर। तुम चाहते हो गोभद्र की झूठ न पकड़ी जाये ! तुम नहीं चाहते हो कि आँख तुले और वह अपराधी प्रमाणित हो जाये ! न्याय को छोड़कर तुम मागध होने के नाते अब मागध की ओर बोलने लगे ! किन्तु मैं मागध नहीं हूँ। सम्राट् के न्यायाधिकरण में अन्याय नहीं होगा !'

यह कहकर मैंने छुरा निकाला और दूसरे हाथ से तुला उठाकर दण्डधरों को संकेत किया।

बलभद्र भागा और सम्राट् के चरणों पर गिरकर रोता हुआ चिल्लाया : 'दुहाई है महाराज की। यह झूठ है। मैं बचपन का काना हूँ। मैं उज्जयिनी का नहीं, कोसल का हूँ। मुझे इन उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त, और रघु ने तैयार किया था गोभद्र के विरुद्ध। मैं बहुत दरिद्र हूँ

महाराज । बहु-कुटुम्बी हूँ । मैंने धन के लोभ से ही झूठ बोला था ।'

गोभद्र सुख की अति से मूर्च्छित हो गया । सभा में—धनकुमार की जय, धनकुमार की जय—गूँजने लगा । उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु को पकड़ लिया गया । बलभद्र को बाँधा गया ।

तब मैंने सम्राट् से झुककर पूछा : 'देव ! आप जिस सत्य को देखकर ही पहचान गये थे, उसे आपका जामाता होने के नाते, मैंने भी खोज ही डाला । मुझे उपहार दें ।'

सम्राट् के मुख पर हल्की-सी झेंप आई और बोले : 'पुत्र ! तू नटखट है । तेरा उपहार संध्या को मिलेगा ।'

मैंने हाथ उठाकर कहा : 'मिल गया महाराज ! अब 'तू' कहकर मुझे अपने से आपने मिला लिया । मुझे दास बना लिया, यद्यपि सम्बन्ध से मैं आपके लिए वरेण्य हूँ ।'

सम्राट् हँस पड़े । कुणिक भी ।

जब एकान्त हो गया तब सम्राट्, कुणिक, राजरानियाँ, मेरे श्वसुर कुसुमपाल, सोमश्री, कुसुमश्री और अन्य निकटस्थ लोग रह गये तो सम्राट् ने पूछा : 'क्यों वत्स ! कैसे जाना ?'

'देव की आँखें पढ़कर !'

बहुत हँसे । कहा : 'अच्छा पता कैसे चलाया ?'

'हरिदास से ।'

'सचमुच गोभद्र आँखें रखता है ?'

'अब महाराज ! आप सब जानकर पूछते हैं ?'

सम्राट् मुस्कराकर चुप रह गये ।

कुणिक ने कहा : 'अच्छा, हमें बताओ भगिनीपति !'

'देव ! आज्ञा दें तो ।'

सम्राट् ने कहा : 'बता दो, बता दो ।'

मैंने कुणिक से कहा : 'बता दूँगा !'

सम्राट् ने कहा : 'अभी बता दो । सब उत्सुक हैं ।'

मैंने कहा : 'मैंने पता चलाया । हरिदास ने कहा—सब झूठ था ।—मैंने फिर पता चलाया । पाँचों श्रेष्ठियों के सार्थों की बात पता चली । तब माथा ठनका ।

तब मैंने हरिदास को बुलाकर खूब डाँटा और देखा कि वह टस से मस न हुआ, तब यह योजना बनाई।'

सब मेरी प्रशंसा करने लगे। और तब मुझे झेंपना पड़ गया।

तीसरे दिन सोमश्री और कुसुमश्री ने खाते वक्त मुस्कराना शुरू किया। मैं समझा नहीं।

पूछा : 'क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं।' कुसुमश्री ने कहा।

मुझे अधिक कौतूहल हुआ।

बार-बार पूछने पर कहा : 'श्रेष्ठि गोभद्र ने अपनी पत्नी को भेजा था मध्याह्न में, जब आप प्रासाद गये थे। वह चाहती हैं उनकी पुत्री सुभद्रा को आप अपना लें।'

'दो बहुत है', मैंने कहा, 'अब नहीं।'

'पुरुष के हज़ार !' कुसुमश्री ने कहा।

'न, न, दो क्या कम हैं ?' मैंने कहा।

'तब तो अभी मन नहीं भरा। लानी ही होगी।' सोमश्री ने कहा।

और मेरा विरोध व्यर्थ हो गया। गोभद्र द्वार पर खड़े रहे। श्रेष्ठि कुसुमपाल और सम्राट् बिंबसार की आज्ञा क्या टाल सकता था मैं ? अब फिर स्वयं पत्नियाँ ही मेरे विरुद्ध थीं।

वाद्यध्वनियों और राजगृह के दरिद्रों को बँटते दान के ऊपर से आई सुभद्रा मैंने देखा। और सोचा। अब ? किन्तु नारी का रूप मेरे ऊपर छा गया था। तब वासना समुद्र थी। मैं डूब गया था। कुसुमश्री और सोमश्री से भी अधिक मोहक थी सुभद्रा।

विवाह के एक मास के बाद ही श्रेष्ठि गोभद्र स्वर्गवासी हो गये। सुभद्रा घर चली गई और तभी मेरे जीवन में नया मोड़ आया।

कोई आधी रात का समय था जब मेरे विश्वासपात्र अनुचर मागंध ने मुझे जगाया।

मैं अकेला सोता था, क्योंकि सुभद्रा पिता के घर थी और सोमश्री और कुसुमश्री मातृत्व के पथ पर थी। वे अपनी दासियों से घिरी हुई सोतीं।

'मागंध !' मैंने कहा : 'इस समय ?'

'स्वामी ! इसी समय सम्राट् ने बुलाया है। अकेले राजकुमार कुणिक आये हैं।'

'राजकुमार कुणिक !' मैं उछलकर उतरा और बाहर खड़े हुए कुणिक ने भीतर आकर कहा : 'इसी समय सम्राट् ने स्मरण किया है।'

मैं समझा नहीं। तुरन्त खड्ग उठाया और बोला : 'चलिये आर्य।'

हमने घोड़े प्रांगण में छोड़े और युवराज मुझे सम्राट् के पास छोड़कर चले गये।

मैंने प्रणाम किया और बैठने की आज्ञा पाकर कहा : 'देव ! इस समय ! स्वयं युवराज को भेजकर !'

'हाँ, वत्स !' सम्राट् ने कहा : 'कार्य गुप्त था।'

'ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता था !'

'सुनो पास आ जाओ।'

मैं पास सरक गया। वे कहने लगे।

'अभय के पकड़े जाने से लोग वज्जी संघ में कहने लगे थे कि यह बिंबसार का कपट है कि उसे छुड़ाने का कोई उद्योग नहीं किया। असल में वे अपने पुत्र कुणिक को राज्य देना चाहते हैं। अम्बपाली को यह राजुल्ले वेश्या मानते हैं। वह वेश्या नहीं है। वह तो संथागार ने उसे राज्य की रक्षा के लिये सबकी स्त्री बनाया था। उसका सम्मान हमारा सम्मान है। कुणिक को राज्य मिलने का अर्थ है वज्जीसंघ को भविष्य में भय, और अभय के राजा होने का अर्थ है वैशाली में शांति। अभय कुछ भी हो, अम्बपाली का पुत्र है। कहीं कुणिक व्यर्थ संदेह न करे इसलिये उसीको भेजकर तुझे बुलवाया। राजकाज में न पिता पुत्र पर विश्वास करता है, न पुत्र पिता पर। अब परिस्थिति यह है कि वज्जिय हैं क्षत्रिय और सम्राट् बिंबसार की कन्या सोमश्री का एक वैश्य से विवाह देखकर उन्हें सन्देह बढ़ गया है। वैश्य वज्जिय क्षत्रियों से संतुष्ट नहीं है, क्योंकि गणराज्य में वैश्यों को क्षत्रियों के बराबर अधिकार नहीं हैं, क्योंकि शासन में वैश्यों का कोई हाथ नहीं। अतः वे वज्जी हैं घात लगाये। गंगा-तीर पर जो खानें हैं उनमें वैशाली और राजगृह, दोनों का साझा है। अभी तक तो बँटवारा चला है, पर इधर संवाद आ रहे हैं कि वज्जियों की नीयत बिगड़ रही है। सीधे-सीधे तो इन गणों पर हमला नहीं किया जा

सकता, क्योंकि इन गणों में एका बहुत है। शाक्य और वज्जिय, मल्ल और विदेह सबके संथागारों में एकता है। किसी गणराज्य में पारस्परिक फूट भी नहीं है। और बुद्ध और तीर्थंकर भी क्षत्रिय हैं। वे इधर भी पूज्य हैं। उधर चण्ड-प्रद्योत भी महासेन है। यदि उसपर आक्रमण हो, तो जीतना निश्चित नहीं है, और उस अवस्था में अभय का ही जीवित रहना क्या निश्चित है? अभय को छुड़ाने में वज्जिय सहायता नहीं देंगे। देंगे तो केवल उसे मगध का सिंहासन दिलाने में। उस अवस्था में भी गृहयुद्ध हो जायेगा, यद्यपि अभी उसका डर नहीं। अब अभय के न आने से खानों का झगड़ा बढ़ने की आशंका है। अतः वज्जीसंघ और अवन्ति दोनों को ठीक करना है। ऐसे में क्या होना उचित होगा।'

मैंने कहा : 'देव ! यदि किसी तरह इस समय वज्जियों को यह दिखाया जाये कि साम्राज्य का भविष्य कुमार अभय के हाथ में होगा, और इसलिये उसे छुड़ाने का यत्न हो रहा है; सम्राट् क्षत्रियों को ही चाहते हैं अतः वैश्यों से असंतुष्ट हैं; और उधर अवन्ति को कोई चिन्ता लगा दी जाये तो···

'ठीक है, ठीक है !' सम्राट् ने कहा : 'परन्तु कैसे ?'

मैंने कहा : 'आर्यश्रेष्ठ ! अवन्तिराज को संवाद किसी तरह पहुँचाया जाये कि वैशाली अब अभयकुमार को छुड़ाने में तत्पर है। वह चौंककर आपके प्रति युद्ध न छेड़कर वैशाली में गुप्तचर भेजेगा। कुछ गुप्तचर आप अवन्ति के नाम से भेज दें जो स्वयं पकड़े जायें। वैशाली के लोग आखिर घबराकर आपसे सहायता माँगेंगे। और तब यह दम्भी क्षत्रिय आपसे दबेंगे। आप खानों का मामला आगे रख दें !'

'साधु !' सम्राट् ने कहा। तब मैंने फिर कहा : 'और कुछ गुप्तचर वैशाली में भेजें जो कोसल के बनकर पकड़े जायें जिससे उन्हें पता चले कि महाराज प्रसेनजित् अपनी बहिनों के प्रभाव से मगध में कुणिक को चाहते हैं, परन्तु अभी तक सम्राट् बिंबसार ही एक ऐसे हैं जो वज्जी संघ के पक्ष में है !'

'अद्भुत !' सम्राट् ने कहा : 'मुझे मनुष्य को पहचानने में भूल नहीं होती। परन्तु कुणिक कितना महत्त्वाकांक्षी है यह भी सोचा है? वह शायद नहीं चाहता कि अभय मुक्त हो।'

मैं अवन्ति का नमक खा चुका था, अतः नहीं चाहता था कि महाराज

प्रद्योत को हानि हो। परन्तु उन्होंने अकारण गर्व से मेरी बनाई शांति उजाड़ी थी, इसका मुझे मन ही मन रोष तो था ही। इसलिये मैंने कहा : 'कुछ गुप्तचर वत्स के नाम पर महाराज प्रद्योत के यहाँ यदि पकड़े जायें तो शायद अभयकुमार भी छूट जायें। क्योंकि वत्स और वैशाली और मगध—तीन झंझट प्रद्योत अकेले न झेल पायेंगे।'

'बस यही मैं चाहता था।' सम्राट् ने कहा : 'मैं नहीं चाहता कि अवन्ति और वत्स में युद्ध हो। मैं चाहता हूँ कि अवन्ति और वत्स बस सशंकित बने रहें एक दूसरे से। इससे मगध मुक्त होकर वैशाली पर दृष्टि रख सकेगा और कोसल और वैशाली से परस्पर चौकन्ने रहने से भी मगध का लाभ होगा। वैशाली, मगध और वत्स के संगठित भय से अभय भी छूट जायेगा और कोसल के दबाव से कुणिक का पलड़ा भी सधा रहेगा। काशी की शक्ति का कोई महत्व नहीं। इनमें जब भी जो टकरायेगा, मगध निर्णय करके दोनों पर छाने की सामर्थ्य रखेगा। ठीक है ?'

'बिल्कुल, देव !'

'बस ! सोचो। युद्ध से क्या लाभ। अकारण हत्या। हिंसा ! है न ? शास्ता और तीर्थंकर कहते हैं, मनुष्य को लोभ नहीं करना चाहिये। मैं लोभ नहीं करता।'

'परन्तु अपनी रक्षा तो धर्म है ही सम्राट् !'

'यही तो !' सम्राट् ने कहा : 'अब यह जो भ्रम पैदा करना है कि मैं वैश्यों का विशेष मित्र नहीं हूँ, यह कैसे होगा ?'

मैं सोचने लगा। तब महाराज ने कहा : 'देखो, वत्स का काम भी बड़ा कठिन है। बल्कि मैं चाहता हूँ कि वत्स हमारा मित्र बने। सम्बन्ध स्थापित हो। शतानीक बड़ा अच्छा आदमी है। वत्स के नाम पर गुप्तचर हम भेजें, यह भी सरल कार्य नहीं है। ऐसा न हो प्रद्योत पूछे और शतानीक कह दे कि वत्स में कोई गुप्तचर नहीं हैं।'

मैंने कहा : 'देव ! गुप्तचरों को कौन स्वीकार करता है ? वे हजार कहें। फिर भी सावधान रहना तो आवश्यक है ही।'

तब सम्राट् ने कहा : 'अब जो कुछ है, तुम पर है। तुम चाहो तो कहूँ !'

मैंने कहा : 'महाराज ! मुझे आज्ञा दें और मैं अस्वीकार करूँ ? ऐसा कृतघ्न क्या मैं ?'

'तो जामाता ! तुम वत्स जाओ ! सब मैं ठीक कर लूँगा यहाँ। वहाँ से ुप्तचर भेजना। शतानीक को मित्र बनाना। मैं जानता हूँ तुम्हारे सिवाय इसे ोई नहीं कर सकता।'

'तो कल चला जाऊँ देव ?' मैने पूछा।

'ऐसे नहीं ! चुपचाप वेश बदल कर दरिद्र के रूप में इसी समय चले ाओ। वैश्यों से मै असन्तुष्ट हूँ, यह भी प्रगट होगा और वैसे वैश्य समझेंगे हीं। समझेंगे जैसे आया था, वैसे ही चला गया। ठीक है !'

मैं अचकचा गया। अब मैंने देखा कि मैं बच्चा था, सम्राट् नहीं। मैंने हा : 'किन्तु देव ! मेरी स्त्रियों के···

'मैं जानता हूँ। सुभद्रा पिता के घर है। शेष दोनों गर्भवती हैं। सोमश्री हाँ आ जायेगी। कुसुमश्री पिता के घर चली जायेगी। अवश्य इन्हें वेदना ागी। तुम्हारे भवन पर मैं अपना अधिकार कर लूँगा। कोई गड़बड़ी नहीं ागी। तुम इसी समय चले जाओ। देखो, वत्स देश में तनिक भी प्रगट न हो ः तुम हो कौन ? अन्यथा सब भण्डा फूट जायेगा !'

सम्राट् मेरी घरेलू बातें भी जानते थे। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। ौर तब मैं लाचार था। उसी समय वस्त्र बदले, और फटे कपड़े पहनकर ाकल पड़ा। सूनी रात। अंधेरा। और एकदम ! उस वैभव के बाद। गर्भवती त्रयाँ क्या रोयेंगी नही ? और सुभद्रा ! सब कुछ दूर। अब मैं फिर अकेला ा गया !! राजनीति कितनी कुटिल होती है यह मन ने तभी जाना।

और हठात् मुझे ध्यान आया। इसी तरह तो मृत्यु आती है। क्या यम ा इसी तरह आत्मा को किसी ओर बड़े काम के लिये ले जाता है, जिसे नहीं मझ कर लोग रोते है ? क्या यम भी ऐसा ही है जैसे सम्राट् है ?

उस रात की वेदना और उस रात के भ्रम, विवशता और कसक का मेरे ामने अब कोई मूल्य नहीं। कोई मूल्य नहीं है अपनी राजगृह से मगध तक की त्रा का। इस बार भी मैं मजूर बनकर जा रहा था। और पेट के लिये धंधा रना मैंने पुरपइठान से उज्जयिनी, उज्जयिनी से काशी, काशी से राजगृह तक ख ही लिया था। उसीने मुझे जीवन का वह सत्य बताया था, जिसे न जान-

कर लोग स्वार्थ में डूबते हैं। मैं ! वणिकपुत्र ! एक ही बार व्यापार किया मैंने। और वह थी ईश्वरदत्त से बेईमानी ! फिर मैंने व्यापार किया ही कब ! या तो राज्यों में रहा हूँ, या फिर रहा हूँ भिखारी। आकाश और पृथ्वी का चारी रहा हूँ। मणियों से खेला मैं, भोग लिया मैंने वासना का सुख और फिर धूल चढ़ाकर चला हूँ सिर पर।

कहाँ जा रहा हूँ मैं ?

कोसांबी ! हस्तिनापुर के डूबने पर कुरुकुल की बसाई कोसांबी को। वत्स देश की राजधानी की ओर। प्रासादों और श्रेष्ठियों के वैभव का वास्तविक रूप, दरिद्र जीवन में उतरा हुआ यह जीवन ! फिर भी अच्छा है यह उन दुरभिमानी क्षत्रिय संघों से ! अहिंसा का ढोंग रचते हैं वे, तीर्थंकर और शास्ता के नाम पर ! और बुद्ध प्रशंसा करते हैं उन दंभियों की ! संघ के नाम पर ! स्वयं अपना संघ बना रहे है वे गण की नकल पर ! और वे लोक को जाग्रत करने को नया संघ बना रहे हैं, भिक्षुओं का। मैं बनाऊँगा एक आदर्श व्यवस्था अब ! मैं एक आदर्श नगर बसाऊँगा।

यही सोचा था उस दिन। परन्तु फिर सोचा था। कैसे ?

धन कहाँ है ? साधन कहाँ हैं ? राह के भिखारी !

और याद आया था। पत्नियाँ क्या करेंगी जब सुनेंगी कि मैं सब छोड़कर चला गया। सम्राट् अपनी पुत्री तक को नहीं बतायेंगे। ऐसी है विडम्बना राजनीति की, जिसे मनुष्य कर्तव्य कहता है ! मैंने भी पढ़े हैं अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र ! वे सब मनुष्य के पाप की साक्षी हैं, जिन पर लज्जा करना हमारा जन्मजात अधिकार है। राजा होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। राजा वही होता है जो अन्यों से अधिक छल जानता है। परन्तु वैसे वह बहुत बड़ा मूर्ख होता है क्योंकि अपने स्वार्थ में डूबा हुआ वह सदैव ग्रस्त-सा रहता है। उसके इंगित में होता है नाश, किन्तु सृजन ! और मैंने देखा था बिंबसार को ! महावीर और गौतम के सामने। ये लोग क्या थे जो राजा, महाराजा, सम्राट् भी इनके सामने दीन बन जाते थे। मैं स्वयं गया था इनके सामने। ऐसा लगता था कि ये ऊँचे हैं, हम नीचे हैं। हम उन सीमाओं तक पहुँचे भी नहीं हैं, जहाँ ये पहुँच चुके हैं ! क्यों ! क्योंकि ये वासना का त्याग कर चुके हैं। यदि वासना त्याज्य है तो स्त्री क्या है ? पुरुष का खिलौना ! खिलौने में आकर्षण होना

ही है। जो हो, इतना सत्य है कि लोक अंधकार में है। उसे शासक चाहिये ऐसा, जो उसका सुख देखे। यही दार्शनिकों ने कहा है, परन्तु इस पर व्यवहार कौन करता है! क्या है आज राजा का जीवन! तबियत का खेल। उसे ग्रामणी, माण्डलिक, सबका ध्यान रखना पडता है अवश्य, परन्तु वैसे वह व्यक्तिगत जीवन में प्रायः सनक से काम लेता है। संदेह उसका धर्म है; क्रोध, अहंकार उसके साथी हैं। उसकी तो प्रसन्नता भी बुरी और अप्रसन्नता तो है ही। और लोक ही ऐसा है। सच बोलो, विनम्र रहो, यह दो बातें न जाने कब से दुहराई जा रही हैं। कभी लाखों-करोड़ों में एक-दो सच बोलते हैं, एक-दो होते है नम्र। सच बोलने वाले मूर्ख और विनम्र बोदे समझे जाते हैं। अयोग्य रहते हैं सत्तारूढ़। जब तक योग्य व्यक्ति सत्ता पाता है तब तक वह इतनी मुसीबतें उठा लेता है कि उसमें एक कटुता छा जाती है। नम्रता उनका हथियार है जो लोगों को ठगते हैं, जैसे वैश्य! और दुनिया है कि बही जा रही है, बही जा रही है। मैंने ही चण्डप्रद्योत का नमक खाया है। अब मुझे उसीसे चाल खेलनी है। उसीके राज्य में मेरे माता-पिता हैं, भाई-भाभियाँ हैं। अब तो भतीजा भी बोलने लगा होगा। दादा-दादी का मन बहलने लगा होगा। उधर अभयकुमार को छुड़ाना है। मैंने बिंबसार का भी तो नमक खाया है। क्या करूँ? राजा में दया-ममता नहीं होती। अपने जामाता को ही दाँव पर लगा दिया। पर ऐसे खास आदमी को न लगाता तो करता भी क्या? अभयकुमार तो स्वयं सम्राट् का पुत्र है। उसे भी तो दाँव पर लगा रखा है! और मुझे कितना बड़ा काम करना है। सम्राट् का तो कहीं नाम ही नहीं। मुझे ही ऐसे आदमी ढूंढने हैं वत्स में, जो जान पर खेल जायें अवन्ति जाकर। ऐसे तो दरिद्र ही हो सकते है। उनके लिये बहुत धन चाहिये। मुझे तो सम्राट् ने एक कानी कौड़ी भी नहीं दी। कमाऊँ भी मैं, लगाऊँ भी मैं। इतने दिन जो खिलाया-पिलाया था, वह सब वसूल कर लिया इस तरह। कौन चतुर रहा? मैं कि सम्राट्? और फिर शतानीक को पता भी नहीं चलना चाहिये कि मैं कौन हूँ! और कहीं बिना कुछ किये भाग न जाऊँ इसलिये मेरे घर पर कब्ज़ा कर लिया है बिंबसार ने और उससे भी बढ़कर मेरी स्त्रियों पर और मेरे होने वाले बच्चों पर!

उनका स्मरण करते ही हृदय स्नेह से भर आया। कुछ भी हो। इस बार तो यह सब करना ही होगा। क्या है! मनुष्य कर्म न करे तो करे भी क्या!

यह जो दार्शनिक बुद्ध और तीर्थंकर कहते हैं कि मनुष्य की कोई जाति नहीं, फिर भी सब क्या समान है ? ब्राह्मण अपने वेद को लिये फिरते हैं। वैष्णव अपने देवता को। देवता क्या हैं ? वे भी मनुष्यों की भाँति एक योनिमात्र हैं। उनको भी कर्म बाँधता है। मनुष्य बढकर देवता होता है। कर्मानुसार होता है वह विद्याधर और अंततोगत्वा तीर्थंकर ! पार्श्वनाथ तीर्थंकर थे। क्या महावीर वर्द्धमान भी वैसे ही हैं ? वे क्षत्रियत्व का गर्व नहीं करते। गणराजा के पुत्र हैं। वैशाली के गर्वीले क्षत्रिय के पुत्र। सम्बन्ध हैं उनके सम्राट् बिंबसार से। गणराजा चेटक उनके नाना हैं और सम्राट् बिंबसार को ब्याही है चेटक की दूसरी पुत्री, महावीर वर्द्धमान की मौसी। फिर भी वे सम्राट् के यहाँ नहीं ठहरते। ठहरते हैं कुम्हार—शूद्र के घर ! क्या है यह सब ! और फिर मुझे विचार आने लगे। वे रातें जो मैंने कुसुमश्री, सोमश्री और सुभद्रा के साथ बिताई थी। वे दोनों माता होने वाली हैं। उनको तो संतान का सहारा मिल जायेगा। पर सुभद्रा ! उधर पिता की मृत्यु, इधर पति गायब। वास्तविकता तो सम्राट् जानते हैं या मैं। पर वे तीनों और सब तो यह नहीं जानेंगे कि मैं कभी लौटूँगा भी। कैसे व्याकुल होंगे वे सब ! अंधेरा छा जायेगा। स्त्री के लिये पति ही तो है सब कुछ। तभी तो उसने भी आदत डाल ली है सौत झेलने की। पुरुष भला रह सकता है ऐसे ? कहते है द्रौपदी के पाँच पति थे और अब भी हिमालय मे बहुपति प्रथा है। कौन जाने ! पर सभ्यों में ऐसा कहाँ होता है। क्या हम सचमुच सभ्य हैं ? मैं नहीं जानता। किन्तु वे दुख करेगी। वैसा ही शायद जैसा उज्जयिनी से मेरे चुपचाप चले आने पर माता-पिता ने किया होगा या पुरपइठान से चले आने पर मेरी पज्जा अम्मा ने···

पज्जा अम्मा की याद आते ही आँखें पसीज आईं। शायद सब मिलें, मिलें न मिलें, सबसे मिलने की आशा तो है, परन्तु अब पज्जा अम्मा तो कभी नहीं मिलेगी।

मन भारी हो गया। फिर सोचने लगा—क्या मैं सफल हो सकूँगा ? क्या यह कार्य पूरा होगा ? क्या अभयकुमार को मैं छुड़ा सकूँगा और महाराज प्रद्योत की हानि किये बिना ? बिना युद्ध के, बिना रक्तपात के। वासवदत्ता अभी छोटी होगी अन्यथा उसका उदयन से सम्बन्ध करा पाता तो सफलता मिलती। परन्तु यह बहुत बड़ी कल्पना थी !

जो होगा देखा जायेगा ।

'णमो अरिहन्ताणं' कहकर मैंने कोसांबी में प्रवेश किया । सादे मगर कुछ फटे-से वस्त्र थे । अपरिचित स्थान की भीड़ मनुष्यों के वन की भाँति दिखाई दी । बालक को शिक्षा दी जाती है कि बिना जाने मनुष्य का विश्वास न करो। इसी सिद्धान्त को सारा संसार मानता है । तब मैं सोचने लगा कि क्या करूँ ?

मैं एक धर्मशाला के द्वार पर बैठ गया और हाथ देखने वाला ज्योतिषी बनने की सोचने लगा । इतना मैं राजगृह में ही सुन चुका था कि महाराज परंतप शतानीक की एक कन्या सौभाग्य मंजरी लगभग २० वर्ष की थी, जो योग्य पात्र की प्रतीक्षा में थी । उदयन राजकुमार की माता त्रिचित्र थी । उसे उदयन के गर्भ के समय एक दोहद हुआ था – मनुष्य-रक्त में स्नान करने का, जिसके फलस्वरूप उदयन को उसके पिता ने एक तपोवन मे रखा था, जहाँ से वह तभी राजधानी को लौटा जब वह बारह वर्ष का हो गया । उदयन को हाथी पालने का बड़ा भारी शौक था, और वीणा वह ऐसी बजाता था कि हाथी मुग्ध हो जाता था । उसमें सारे लक्षण ऐसे थे कि उसके प्रतापी राजा होने की आशंका थी । कुणिक और उदयन ! दो ही थे जिनके विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ थी । अभय से लोग मन में अप्रसन्न-से थे, क्योंकि वह बहुभोग्या अम्बपाली का पुत्र था । अम्बपाली को वे वेश्या मानते थे । गण-क्षत्रियों के दम्भ को मैं भी नहीं चाहता था । सामुद्रिक शास्त्री बनने के लिये कुछ आडम्बर की आवश्यकता थी और मैं नंगा था, मेरे पास कुछ भी नही था । नगर में मजूरी करने का विचार मुझे ग्राह्य नही हुआ । अन्ततोगत्वा, मैं उठा और नगर की हाट की ओर चल पड़ा ।

एक जौहरी की दुकान पर पहुँचकर मै बैठ गया । मेरे वस्त्र देखकर उसने कहा : 'क्या चाहते हो ?'

वह स्वर अपमानजनक, कठोर और शुष्क था । मैं जानता था कि इस संसार में मनुष्य का कोई मूल्य नहीं, वस्त्रों का होता था ।

मैंने कहा : 'कुछ रत्न देखना चाहता हूँ ।'

'क्या करोगे देखकर !' उसने व्यंग्य से कहा ।

'यदि मेरे पसन्द आयेगा तो खरीद लूँगा ।' मैने उत्तर दिया । परन्तु जानता था कि इस खेल का परिणाम आज ठीक नहीं निकलेगा ।

रत्न-विक्रेता हँसा और अपने सेवक से बोला : 'मण्डूर ! वणिक् श्रेष्ठ आये हैं। दिखा तो ! इन्हें तो बड़ी पहचान होगी !'

मण्डूर भी हँसा। मुझसे बोला : 'जाओ भैया ! यह वह दुकान नहीं है। परसों-तरसों की बात है। एक विदेशी ने भाँग खाकर किसी दूधवाले के यहाँ दूध पिया। कुछ कपर्दिका बाकी रही। दूधवाले ने दूसरे दिन दे देने का वायदा किया क्योंकि विदेशी ने कहा कि फिर कल पी जाऊँगा। जब भाँग खाकर आया हुआ वह विदेशी चलने लगा तो दुकान की पहचान के लिए देखा सामने एक बिजार बैठा था। उसे देखकर चल दिया। दूसरे दिन सायंकाल फिर भाँग खाकर दुकान ढूँढने चला तो बिजार को ढूँढने लगा। अन्त में बिजार मिला एक लुहार की दुकान के आगे। देखते ही विदेशी चिल्लाने लगा— कोसांबी के दुकानदार साले सब चोर हैं। चार कपर्दिका के पीछे बेईमान रातों रात धन्धा बदल बैठा !'

रत्न-विक्रेता हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। बोला : 'अरे मण्डूर ! तू सदा ऐसी ही बात करता है। पर हर विदेशी एक-सा नहीं होता।'

'स्वामी !' मण्डूर ने कहा : 'कल ही की तो बात है। मैंने देखा एक वंध्या बच्चों के कपड़े खरीद रही थी। पूछा मैंने : अरी यह क्या ?—बोली : अरे तू क्या होंगे भी नहीं।'

अब क्या था। श्रेष्ठि रत्न-विक्रेता तो लोट-पोट हो गया। मण्डूर ने मुझसे कहा : 'प्रभु ! इस दुकान पर महाराज शतानीक जैसे दीन-दरिद्र आते हैं आप आगे कोई स्थान देख लीजिये न।'

वह समझे थे मैं चिढ़ूँगा, गाली दूँगा। परन्तु मैंने हँसकर कहा : 'मित्र रत्नों के बीच मण्डूर* रहे और विदेशी इस पर यहाँ न टिके तो कहाँ जाये अवश्य यहाँ रत्न के नाम पर काँच भी होगा। वही मैं ले जाऊँगा। यदि मैं परख न कर सकूँ तो तुम जीते। यदि मैं परखकर गया तो तुम और तुम्हारा स्वामी मुझे क्या देंगे ?'

मण्डूर को चोट पहुँची। वह दिल्लगी से ही शायद अपने स्वामी को प्रसन्न किये था। मेरी बात सुनकर चिढ़कर बोला : 'तुम परख करोगे ? मुँह देखा है ?'

---

* लोहे का मैल

'देख रहा हूँ ! तुम बहुत सुन्दर हो !'

रत्न-विक्रेता स्वभाव के हँसोड़ निकले। वे पक्षपात नहीं करके, बात पर हँसते थे। बोले : 'रे मण्डूर ! तूने किसका मुँह देखा है, यह तो बताया ही नहीं।'

मैंने देखा आदमी अच्छा था। कहा : 'तो मण्डूर ! आओ शर्त बदो।'

मण्डूर ने उत्तेजित होकर मेरे सामने एक मंजूषा खोल दी और कहा : 'परखो ! बताओ इनमें क्या दोष है ?'

मैं एक-एक रत्न उठाकर जब दोष बताने लगा तो रत्न-विक्रेता बोले : 'अरे भैया ! तुम तो गजब करते हो ! ऐसे वस्त्र पहन रखे हैं कि कोई क्या कहे। बन्द कर दे मण्डूर ! ऐसे दो-चार भी ग्राहक आ गये तो दुकान बैठ जायेगी।'

मण्डूर ने मंजूषा तो बन्द कर दी पर स्वामी से कहा : 'प्रभु ! यह अवश्य रत्न-विक्रेता हैं। समय ने इन्हें उजाड़ दिया है। अन्यथा इस मंजूषा के रत्नों के दोष तो स्वयं महाराज शतानीक भी नहीं पहचान सकते।'

इससे मुझे ज्ञात हुआ कि महाराज रत्नों के गहरे पारखी थे। मैंने कहा : 'इस मंजूषा के रत्नों के दोष मैं दूर कर सकता हूँ। परन्तु यह सब सस्ते रत्न हैं। मुझे चाहियें और भी मूल्यवान रत्न !'

रत्न-विक्रेता सुत्थक मेरे समीप आ गया और बोला : 'मित्र ! इनके दोष दूर कर दो तो मैं तुम्हें लाभ कराऊंगा।'

मैंने हँसकर कहा : 'लाभ ! तुम कराओगे ? क्या लाभ कराओगे ?'

'आधा दूँगा।'

मैंने फिर हँसकर कहा : 'श्रेष्ठि ! मुझे यह रत्न नहीं चाहिये। इस छोटे लाभ से मेरा क्या होगा ? मेरे रत्नों को अम्बपाली पहनती है, जो एक रात के आठ हज़ार सुवर्ण मुद्रा लेती है। जिसके चरणों पर वज्जिय क्षत्रिय और सम्राट् बिंबसार लोटते है। तुम्हारे रत्नों के दोष तो मैं मुफ़्त मिटा दूँगा। पर कोसांबी दरिद्र है यह मुझे याद रहेगा।'

यह कहकर मैं उठ खड़ा हुआ।

और मैंने फिर कहा : 'रत्न भाग्य से मिलते है।'

'भाग्य !' सुत्थक ने कहा : 'मैं कोसांबी का सर्वश्रेष्ठ रत्न-विक्रेता हूँ।

रत्न ! रत्न तो कोसांबी में ऐसे है कि तुमने देखे न होंगे । महाराज शतानीक के पास एक ऐसा रत्न है कि आज तक कोई उसे परख नहीं सका । उनकी तो घोषणा है कि जो मेरा रत्न परखेगा, वही मेरी पुत्री सौभाग्य मंजरी का स्वामी होगा । इसी प्रतीक्षा में पुत्री की आयु इतनी हो गई और विवाह नहीं हुआ । पुत्री है वह ! स्वर्ग की अप्सरा है हमारी राजकुमारी । पर तुम्हें मैं प्रासाद कैसे ले जाऊँ ? यह वस्त्र पहनकर चलोगे तो दण्डधर भीतर नहीं जाने देंगे ।'

'वस्त्रों का क्या ?' मण्डूर ने कहा : 'बदल लेंगे !'

मैंने हँसकर कहा : 'मित्र मण्डूर ! मैं लोहा हूं मण्डूर नहीं । मैं तुम्हारे महाराज से क्या मिलूँ जो मनुष्य को वस्त्र देखकर परखते हैं ! रत्न कहाँ से निकलता है श्रेष्ठि ?'

उस पर मेरी बात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उठा और बोला : 'चलें आर्य ! मेरे घर चलें ।'

जब मैं उसके साथ भीतर चला तो पता चला कि वह बहुत बड़ी दूकान थी, जिसमें कई सेवक थे । जहाँ मैं गया था वह तो दूकान का वह भाग था जो पिछवाड़े की छोटी सड़क पर खुलता था । वहाँ सुत्थक एकान्त के लिये बैठकर अपने मुँह लगे सेवक मण्डूर से पाँव दबवाता था । हाट में सुत्थक को देखकर सब प्रणाम करते, तब मुझे पता चला कि मैं अचानक ही कोसांबी के बहुत बड़े श्रेष्ठि से टकरा गया था, वह जिसकी दूकान के पिछवाड़े तक में बहुमूल्य रत्न रखे रहते थे । उसके भवन पहुँचने पर उसके वैभव का ज्ञान हुआ । हाट और घर सब जगह मुझे सम्मान लेकर वह जब चला तो मेरे बारे में लोगों को कौतूहल हो गया ।

उसने मेरी बड़ी सेवा की । रात को बहुमूल्य पर्यंक पर सुलाया और मैं फटे कपड़े पहने उस पर ऐसे सो गया जैसे मैं उससे बिल्कुल प्रभावित नहीं था । उसके किसी भी वैभव ने मुझे चमत्कृत नहीं किया, क्योंकि मैंने भी वैभव देखा था और अब भी अपने को वैभव का स्वामी समझता था । सुत्थक ने चतुर दृष्टि से पहचाना और कहा : 'आर्य ! नाम तो सुना । धनकुमार ! अब परिचय दें ।'

मैंने कहा : 'अज्ञात कुलगोत्र हूँ ।'

'न बतायें । पर कल बताना होगा । महाराज को सूचना भिजवा चुका हूँ कि

रत्नपारखी ला रहा हूँ, एक और।'

मुझे लगा, अब भाग्य फिर करवट ले रहा था।

सुत्थक के जाने पर मैं सो नहीं सका। रात भर तरह-तरह की यादें आती रही।

प्रातःकाल स्नान करके जब मैंने वही वस्त्र पहने, सुत्थक देखता रहा। बोला नहीं। अन्य जौहरी भी आ गये थे। हम सब प्रासाद पहुँचे। महाराज ने हमें भीतर बुलवा भेजा। स्वयं एक रत्नजटित आसन पर बैठकर उन्होंने हमें पारसीक कालीन पर बिठाया। प्रकोष्ठ में भीतों पर उनके हाथ से शिकार किये गये अनेक जन्तुओं के सिर लटक रहे थे, मसालों से भरे।

'परीक्षा कौन करेंगे ?'

सुत्थक ने मेरी ओर इंगित किया। जौहरियों को आशा थी कि महाराज हसेंगे। पर वे हँसे नहीं। क्षण भर देखते रहे, फिर बोले : 'ले आओ !'

एक दासी ने स्वर्ण के थाल में मणि को लाकर रख दिया। मैंने देखा। गंगा-तीर वाले मणि से छोटा था। न उतना मूल्यवान ही था। मैंने कहा : 'देव ! वह रत्न कहाँ है जिसकी मैंने इतनी प्रशंसा सुनी थी !'

महाराज का मुख क्रोध से तमतमा उठा। जौहरी काँप उठे। सुत्थक को लगा कि मारा गया।

'क्यों ?' वे गरजे। 'इसमे दोष है ?'

'अभय दें देव ! पारखी को सत्य का अधिकार दे।'

राज्य के सबसे बड़े पारखी वे स्वयं थे, और बाकी भी श्रेष्ठ पारखी बैठे थे।

बोले : 'इसके गुण बताओ श्रेष्ठि !'

मैंने कहा : 'देव ! इसका एक ही वैभव है, और आप उसीके कारण इसे अमूल्य समझते है कि जब इसको चावलों के साथ रखा जाता है, तब इसके रहने तक पक्षी पास नहीं आते, और इसके उठाते ही पक्षी आकर दाने चुग जाते हैं।'

श्रेष्ठियों ने मुझे आश्चर्य से देखा। महाराज का क्रोध लुप्त हो गया। मुझे देखते रहे। फिर धीरे से कहा : 'अद्‌भुत !'

'परन्तु देव !' मैंने कहा : 'इस रत्न में एक दोष है। यदि वह मिट जाये

तो यह आपको समृद्धि दे सकता है।'

'रत्न ठीक भी हो सकता है ?' शतानीक ने कहा।

मैंने हँसकर कहा : 'देव ! पत्थर मनुष्य से अधिक सरल और सहज होता है। वह अपना मोल स्वयं कभी अधिक नहीं बताता।'

महाराज ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा और कहा : 'आपकी निर्भयता क्षत्रियोचित है श्रेष्ठि ! आपका शुभ नाम ?'

'देव ! धनकुमार !'

'कुलगोत्र ?'

'अज्ञात।'

'निवास स्थान ?'

'समस्त पृथ्वी।'

'विवाहित हैं ?'

'तीन बार।'

'सन्तान ?'

'भविष्य के गर्भ में।'

'और अब कहाँ है ?'

'देव के श्रीचरणों में।'

सुत्थक ऐसे बैठा था, जाने कब क्या होगा।

सम्राट् ने मुस्कराकर कहा : 'मिल गया। श्रेष्ठि सुत्थक ! मिल गया।'

'हाँ देव !' सुत्थक ने कहा : 'मिल गया।'

'क्या मिल गया सुत्थक ?' सहसा महाराज ने पूछा।

सुत्थक फिर मरा। इधर देखा, उधर देखा। फिर बोला : 'वही देव ! जिसकी प्रतीक्षा थी।'

'ओह् हो हो हो', करके महाराज हँसे। सुत्थक भी। सहसा महाराज ने फिर कहा : 'हाँ सुत्थक ! किसकी प्रतीक्षा थी ?'

सुत्थक के दाँत फिर बन्द। अब क्या कहे ! पर यों भी मरना ही था। साहस बटोरकर बोला : 'देव ! यह तो हमारा सौभाग्य···

'हमारा नहीं', महाराज ने हँसकर कहा : 'हमारी सौभाग्य मंजरी···

'देव ! देव !' सुत्थक समझकर मुग्ध हो गया। 'यही तो, यही तो···

महाराज ने कहा : 'युवक ! मेरी प्रतिज्ञा जानते हो ?'

'सुना था देव !' मैंने कहा : 'परन्तु मैं उसके योग्य नहीं ।'

'क्यों ?'

'मेरा वेश !'

'साधु ! धरती किसकी है ?'

सुत्थक ने कहा : 'देव ! आपकी ।'

'शान्त रहो सुत्थक !' महाराज ने कहा : 'हाँ युवक ! धरती किसकी है ?'

मैंने कहा : 'मिट्टी की ।'

जौहरियों के मुख से आश्चर्य की ध्वनि निकली । परन्तु महाराज गंभीर रहे । मैं समझा । महाराज जितने मूर्ख लगते थे, वास्तव में वे उतने ही कुशाग्र बुद्धि और चतुर थे । बोले : 'और राजा उस मिट्टी से सुवर्ण उगाहते है ! जानते हो ?'

'सीख रहा हूँ देव !'

'साधु ! विनय और शील भी हैं । जय काव्य पढ़ा है ?'

'सुना है देव !'

'महावीर कर्ण का कुलगोत्र क्या था ? वीरों का क्या गोत्र ?'

'परन्तु देव ! आप कुरुकुल भूषण है । क्षत्रिय हैं । मैं क्षत्रिय नही हूँ ।'

महाराज ने कहा : 'युवक ! गुणानुसार वर्ण होता है । वृष्णि यादव नंद वैश्य था और वसुदेव क्षत्रिय, परन्तु दोनों का भ्रातृ सम्बन्ध था । देवकीपुत्र कृष्ण ने जिस हाथ से कंस का दासत्व करते हुए गाएँ चराई थीं, उसीसे चक्र उठाकर राजसूय और अश्वमेध यज्ञ कराये थे । अब भी तुम्हें काई संशय है ?'

'देव !' मैंने कहा : 'मेरे तीन विवाह हो चुके है ।'

महाराज ने कहा : 'राजा के चार विवाह तो शास्त्रानुमोदित हैं—महिषी, परिवक्तृ, पालागली और वावाता और अतिरिक्त असंख्य ! और अब तो श्रेष्ठि भी अनेक करते है । पुरुष का क्या ! पुरुष यूप है, जिससे अनेक स्त्रियाँ बँधती हैं । तुम जैसा योग्य और सुन्दर पुरुष देखकर यदि सौभाग्य मंजरी 'ना' कह दे, तो मैं प्रतिज्ञा भंग कर दूँगा ।'

वे उठ खड़े हुए । और कहा : 'प्रजा देखेगी कि शतानीक वस्त्रों से नहीं, मनुष्य के गुणों से उसकी पहचान करता है । यही परम पवित्र ऋषियों का

मार्ग है, जो कुटियों में रहते थे। आज उसीके भूल जाने से यह असंख्य म निकल रहे हैं, जिनमें प्रत्येक उपदेष्टा अपने को अन्तिम सत्य का प्रचारक मान है। धर्म की गति कितनी गूढ़ है, यह शताब्दियों तक नहीं जाना जा सका। अब दार्शनिक समझते है कि सब कुछ उनके हाथ में है। इसी वेश में मेरे जामा आयेंगे सुत्थक ! तभी मै इनका विवाह करूँगा अपनी पुत्री से, जिसे मैंने उदय की अनुपस्थिति में पुत्र से भी अधिक मानकर पाला है।'

उनके नयन भीग गये।

सुत्थक जब प्रासाद के बाहर आ गया, उसने लम्बी साँस ली और कहा 'ओह ! कमाल हो गया !'

मैंने कहा : 'क्या हुआ श्रेष्ठि !'

'अरे जामाता ! अभी कुछ हुआ ही नहीं ?'

'कुछ कहो भी तो !'

'यही क्या कम हुआ कि आज मेरी गर्दन बच गई।'

सब हँस पड़े।

सुत्थक ने कहा : 'महाराज बहुत अच्छे हैं, पर एक बात है। जो जम गः मन में, सो जम गई। उदयनकुमार को तपोवन में रखा, तो रखा। उसी पुराने आदर्श पर। पर अब वे ब्राह्मण है कहाँ ? गणों के क्षत्रिय कितने भी बन ले परन्तु जो ब्राह्मण वहाँ रहते है, रहते है ठसक से ही।' फिर सुत्थक ने धीरे से कहा : 'बड़ी नरम जाति है ब्राह्मण। बस पूज्य कह दो, चाहे जो करा लो। मैंने देखा था इन्हें पंचाल मे। सारे अनार्य मन्दिरों मे पुरोहित कौन ? ब्राह्मण नागों के तीर्थ है। वहाँ पुरोहित कौन ? ब्राह्मण। वैसे पुराने कर्मकाण्डी जो हैं वे ज़रूर कट्टर है। महाराज ब्राह्मणों के प्रशंसक है !'

मैंने सोचा, महाराज भी कैसे हैं। एक मणि की परीक्षा से पुत्री का भाग्य जोड़ रखा था। अगर कोई बुड्ढा परख कर जाता तो ! किन्तु महाराज की मनुष्य के प्रति आस्था थी। यह कितना बड़ा आश्चर्य था। ब्राह्मण-चिन्तन का भी ऐसा प्रभाव पड़ता है, यह अनुभव करके परम्परा से आया ब्राह्मण विरोधी भाव मुझमें दब गया।

दूसरे दिन वृद्ध राजपुरोहित मुझे प्रासाद में ले गया। महाराज बैठे थे मुझे बिठाया। मैं उन्हीं वस्त्रों में था। बातें चल पड़ीं। महाराज ने कहा

युवक ! इस धरती में प्राचीनकाल में मनु प्रभृति बड़े-बड़े महापुरुष हुए है । बड़े-बड़े चक्रवर्ती हुए हैं । तपस्वियों ने साक्षात् ब्रह्म का अनुभव किया है । फिर भी यह पवित्र भूमि आज खण्ड-खण्ड पड़ी है और मैं देख रहा हूँ कि चारों ओर उच्छृंखलता व्याप्त है । युवक घर छोड़ जाते है । माता-पिता बुढ़ापे में धन कमाते है । स्त्रियों को पति के जीवित रहते हुए वैधव्य सहना पड़ता है । लेकिन क्यों ? क्योंकि क्षत्रियों और ब्राह्मणों में द्वन्द्व है । क्षत्रिय गण बनाये बैठे हैं, जहाँ जाति का निर्णय जन्म करता है । गणों में दास है । हमारे यहाँ नहीं । हर नया विचारक समझता है कि अब तक संसार में सब मूर्ख थे, अब ज्ञान प्रारम्भ होगा । ऐसे ही सुना है राजगृह में कोई बुद्ध और तीर्थंकर आये हैं । बड़े-बड़े ज्ञानी पहले भी थे । याज्ञवल्क्य, गार्गी, श्वेतबालाकि, नारद ! अश्वल जनक कुछ कम पहुँचे हुए थे ! यह संसार कितना प्राचीन है, कोई जानता है !'

मै सुनता रहा, वे कहते रहे ।

'देखो न ? मनुष्य का धर्म हो क्या सकता है ? बाल्यावस्था से यौवन तक पूर्वजों की विद्या का संचय करे, फिर संतान को जन्म दे । फिर ऊब जाये तो लोक को छोड़कर वन में रहे और अपनी आत्मा को शुद्ध करे । अब वानप्रस्थ ही उठ गया । मैं तो उदयन को समय रहते सब देकर चला जाऊँगा । उसमें पिता-पुत्र से प्रेम रहता है । आजकल राजा बुड्ढे हो गये है, सड़ गये हैं, मगर कांताभोग नही छोड़ते । पुत्र युवक है । पर उसे अधिकार नही है । असल में गड़बड़ हो गई कि एक दिन कुरुकुल ने एक अन्धे को गद्दी पर बिठाकर जाति का संहार करा दिया । अन्यथा यह उच्छृंखलता काहे को उठती ! अब युवक है कि मूँछ निकलने से पहले घर छोड़ते है । मनुष्य का सत्य खोजते हैं वे ! आत्मा की शांति ! आत्मा की शांति संतोष में है । शून्य की भटकन में नही । आखिर स्त्री की कोई मर्यादा है या नही ? अरे गृहस्थ धर्म ही यदि बुरा है, तो तुम कहाँ से आ गये ? मर्यादा का प्रारम्भ, बड़े-छोटे की मर्यादा, घर से प्रारम्भ होती है । ऋषियों ने स्त्री के उस पक्ष को बुरा कहा है, जो केवल भोगपरक बनाकर पुरुष को नष्ट कर देता है; अन्यथा वे लोक के प्रति पूर्ण जागरूक थे । जानते हो ? मैंने सुना है, तक्षशिला गये थे एक ब्राह्मण । अरे ! वहाँ तो सहस्रों पुस्तकें पड़ी है । ब्राह्मण भी होता है कुशाग्र । खूब पढ़कर लौटे । आकर क्या किया ? बोले—मैं असंतुष्ट हूँ ।—चल दिये घर छोड़कर ! क्या यह भी कोई बात

हुई ? पुरुषार्थ छोड़कर भीख माँगना आत्मा का कल्याण है ? जब बूढ़े हो जाओ तब और बात है ! वृद्ध को सम्मान चाहिये, भोग नहीं। यह सृष्टि ! ऋषियों ने कहा है—यथा पूर्वमकल्पयत् । —पूर्व क्या था ! पूर्व ! यह सृष्टि उसने ऐसे बनाई जैसे पहले कभी बनाई थी । पहले कब ? जाने कब । ऋषियों ने कहा है कि यह सृष्टि पहली बार नहीं बनी। जाने कितनी बार बन चुकी है। शायद पहले भी होगी। यह सूर्य-चन्द्रमा क्या इसी बार बने होंगे ? जाने कितनी बार बने होंगे। तभी ऋषि ने कहा : यह तो फिर-फिर बनती है। —यह विराट सत्य ! और कितना महान् ! और फिर इन नये उपदेशकों का यह दम्भ कि सब कुछ खोज लिया ! बस हमसे बढ़कर कोई नहीं ?'

मैंने कहा : 'महाराज ! मैं वेद को नहीं मानता। मै पार्श्वनाथ के मत को मानता हूँ। जिनमतानुयायी रहा हूँ।'

'जिनमत ! जिनमत अनीश्वरवादी है युवक !' महाराज ने बिना विचलित हुए कहा : 'वेद में ऋषभ की तपस्या का उल्लेख है। उस अवस्था, उस ऊँचाई को पहुँचने पर मनुष्य सत्य को पा जाता है। ऋषभ ने तप किया और उठ गये। नंगे रहे। वे सत्य से मिल चुके थे। आत्मा के पक्ष पर ज़ोर देकर उन्होंने यही प्रमाणित किया था कि दुख कर्म से है। उस समय कर्मकाण्डी ब्राह्मण स्वार्थलिप्त थे। उन्होंने विरोध किया। परन्तु ऋषभ की भाँति अनेक ऋषि हुए। वेद को रटनामात्र काफ़ी नही है। परन्तु ऋषभ ने लोक धर्म का तो विरोध नहीं किया। उनकी अपनी साधना का पथ अलग था। साधना-पथ क्या ऋषियों में एक है ? धर्म और साधना दो हैं न युवक ! शील, आचार, संसार, आश्रम, यह सब ही तो लोक को साधने है। ऋषभ क्या इनके विरोधी थे ?'

महाराज की बात ने मेरे सामने एक नयी दृष्टि जगा दी। फिर बोले : 'मैंने अपना स्वप्न उदयन में उतारने की चेष्टा की है। एक बार फिर युधिष्ठिर का-सा विशाल साम्राज्य बने और धर्म की स्थापना हो। यह छोटे-छोटे राज्य ! यही पाप की जड़ हैं। क्षत्रियों ने गण बनाये, ब्राह्मणों का विरोध करने को। अनाचार फैला। बताओ वत्स ! यह गण जो जगह-जगह हैं, वे क्या अनाचार के अड्डे नहीं ? दास में क्या आत्मा नही ? ब्रह्म सबमें एक है। जाति ! जाति वर्णानुसार है, लोक धर्म को चलाने के लिये। स्वधर्म को सब छोड़ दें तो काम कैसे चलेगा। जो जहाँ जन्मा है, वह अपने कुलकर्म को जितना जान सकता है,

उतना दूसरा जान लेगा? लुहार बढ़ई बन जायेगा? अरे स्वधर्म में मरना भला। दूसरा धर्म भयानक है। किसान जौहरी बन सकता है? रही उन्नति! वह केवल समर्थ कर सकता है। परशुराम ने क्षत्रियत्व धारण किया। द्रोण ने शस्त्र उठाया। परन्तु मैं तो फिर भी कहूँगा कि ऐसी सामर्थ्य ने लोक में प्रायः ही अनाचार फैलाया। एक बार ऐसा करने वाले व्यवस्था से ऊपर अपना स्वार्थ देखते हैं, लोक धर्म से ऊपर महत्वाकांक्षा देखते हैं। आज आर्यों में पहले की शक्ति है? पहले म्लेछ, जंगली जातियाँ, और ऐसे बर्बर इस प्रजापति की भूमि को सिर झुकाते थे। अब पारसीक साम्राज्य का मुझे पता चला है, यह दुरभिमान हो रहा है कि इस आर्य भूमि पर शासन करे! ब्रह्मा, विष्णु और शिव के देश में वे म्लेच्छ शासन करेंगे? असुरों की सन्तान!!'

बातें शायद चलता रहतीं।

तभी पर्दे के पीछे से आवाज़ आई: 'देव! राजकन्या ने देख लिया। स्वीकृत है!'

महाराज उछल पड़े। बोले: 'ब्रह्मा, मै मनुष्य को जानता हूँ। कार्तिकेय की क्या पहचान थी जो इन्द्रपद तक जा पहुँचा। अब तुम मेरे जामाता हुए!'

ओह! इसलिये मुझे यहाँ बिठाया गया था। मै इतना चतुर बनता था, पर वास्तव मे यह राजा मुझसे अधिक चतुर थे। तभी वे राजा थे और मैं उनका कृपापात्र भर ही तो था। वैसे हर एक को अधिकार है कि वह अपनी मूर्खता में अपने को सबसे बड़ा बुद्धिमान समझता रहे। और महाराज ने मुझसे झुककर कहा: 'जामाता! भ्रम मत करो। आकाश और पृथ्वी के बीच काल सूर्य के ताप में पुटी बना रहा है। हम सब उसीके भीतर है। स्मृतियाँ अनेक हैं, श्रुति का भी एक पथ नहीं। मार्ग अनेक हैं, और धर्म का पथ अत्यन्त गहन है। आत्मा ही सर्वत्र है और यह सब जो है ब्रह्म ही है। न हम मार्ग का आदि जानते हैं, न अन्त। इस लोक में कर्मानुसार फल पाते हैं। जीवित रहना है, तभी जीव जीव को खाकर रहता है। फिर भी दया, अहिंसा, हमारे मन को उठाती रहें, यही हमारे लिये अच्छा है। आये हैं, तो रहेंगे। 'भाग्य'-'भाग्य' चिल्लाकर नहीं मरेंगे, उद्योग से रहेंगे। और कोई चारा नहीं है। तब लोग मर्यादा क्यों नष्ट करें? वैसा करने से भी क्या होगा? अनाचार होगा, अधर्मी सिर पर

चढ़ेंगे, पाषण्डी और अत्याचारी, दम्भी और घृणा के प्रचारक लोक को दबायेंगे। सब देवता ठीक है, सब उसीको विभिन्न रूपों में देखते है। 'वह' क्या है ? वह सबसे परे है। यह वर्ण-जाति वास्तव में कुछ नहीं, लोक धर्म के नियम हैं। अन्यथा सब उलटे जायेगा। पुत्र पिता को मारेगा, पुत्री भाई से व्यभिचार करेगी। हमें तो वही करना है, जो महापुरुषों ने किया है। पूर्वकाल के मनीषियों ने यह नियम यों ही नहीं बनाये। बड़े अनुभव के बाद बनाये थे कि स्त्री-भोग वासना तो है, परन्तु फिर भी सन्तान के लिये आवश्यक है। विवाह नहीं करोगे तो व्यभिचार बढ़ेगा, क्योंकि सब एक-से संयमी नहीं होते। पृथ्वी किसीकी नहीं। परन्तु लोक चले इसलिये खेती होनी है। तो 'कर' भी चाहिये क्योंकि किसान खेत जोते ताकि सेना उसकी रक्षा करे। इसीसे इसे वीरभोग्या कहा गया है। समझ रहे हो न ?'

मैंने देखा कि उनकी बात बड़ी ठोस थी। कितनी मान सका हूँ, नहीं जानता। परन्तु लाचारी की स्वीकृति भी इतनी सहज हो सकती है, और यही ब्राह्मण की नई बात थी, यह सोचता हूँ तो लगता है कि यह भी क्या गलत था ! बार-बार मन में गूँजने लगा—यह लोक बहुत पुराना है।

महाराज ने हंसकर कहा : 'वत्स ! लोक आज से प्रारम्भ नहीं हुआ। अब से बहुत पहले हुआ था। मनुष्य जाने कितने मार्ग सोच चुका है और अन्त में वह इसी निर्णय पर पहुँचा ! अब मेरी चिन्ता दूर हुई। सौभाग्य मंजरी ने तुम्हें पसन्द कर लिया। पुत्री होनी है न ? बड़े लाड़ की पली है मैंने। उसे सदा सुख से रखना। अरे, कण्व ने एक दिन जैसे शकुन्तला को पाला; परन्तु दुष्यंत की भाँति तुम न बनना !'

महाराज ने आँखें पोंछ लीं। और उठ खड़े हुए।

और तब मैंने सोचा कि राजनीति कितनी बुरी है। उसे राजनीति क्यों कहूँ। अपनी पत्नियों और होने वाली संतान का स्वार्थ क्यों न कहूँ, जिसके कारण मैं ऐसे अच्छे आदमी से भी चाल खेलने को विवश था, और स्वयं उसका जामाता बनता हुआ ? और उधर प्रद्योत, जिससे मुझे छल करना था, उसका भी मुझे ध्यान था कि कहीं नुकसान न उठा जाये; क्योंकि मेरे माता-पिता, भाई-भाभियों का स्वार्थ मुझे उधर रोके था। उफ़ ! कैसा विडंबना से भरा जीवन हो गया था यह !

फटे कपड़े पहनकर मैं वर बनकर गया। और महाराज शतानीक का जामाता बना। उन्होंने कन्या-शुल्क (दहेज़) में मुझे अपने राज्य का एक विशाल भूखण्ड दिया, जिधर आबादी नहीं बसी थी। अब मैं राजा हो गया। धन्य मेरे भाग्य ! तेरे खेल को जिस तरह मैंने झेला, वह मैं ही जानता हूं। मैं ही क्या, लोक का कौन-सा मनुष्य नहीं झेलता, या नहीं जानता।

सौभाग्यमंजरी ने मुझे अपना कौमार्य अर्पित किया, जैसे दिवस-ज्योति इस लोक को अपनी लालिमामयी ऊषा पहले अर्पित कर देती है और अन्धकार दूर हो जाता है। उपरांत उसने पूछा : 'मेरी तीन बड़ी बहनें हैं। सुना है मैंने। कैसी हैं ?'

तब मैं रहस्य नहीं छिपा सका। कहा। परन्तु छिपा गया अपना राजनीतिक पक्ष। न माता-पिता की कही। कहा, केवल तीन थी। तीनों पिता को मानती थीं। पतिपक्ष नहीं। इसीसे उन्हें छोड़ आया।

सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'मगध भूमि प्रारम्भ से ही अनार्य रही है। तभी ऐसा हुआ। विवाह के बाद स्त्री का तो सब कुछ पति ही होता है।' और यह कहते हुए उसने मुझे भुजा में बाँध लिया और बोली : 'तुम्हारा सुख ही मेरा सुख होगा स्वामी। मुझे तो न छोड़ोगे ?'

मैं विह्वल हो गया। कुसुमश्री, सोमश्री, सुभद्रा। तीनों ने यह कभी नहीं पूछा। क्या यह ब्राह्मण-परम्परा थी कि स्त्री अपना समर्पण बिना शर्त और बिना अह के करती थी ? क्या यह प्रेम की और ऊँची मंजिल नहीं थी ?

मैंने उसकी लटों को सहलाते हुए कहा : 'सौभाग्य मंजरी ! अब मुझे कोई अभाव नहीं। राज्य भी पाया है। और अब मेरा जीवन-स्वप्न प्रारम्भ होगा। मैं एक ऐसा प्रदेश बसाऊँगा जहाँ पृथ्वी पर स्वर्ग होगा। दीन-हीनों को आधार मिलेगा। आर्यावर्त में लोग इसे देखकर सोचेंगे कि क्या ऐसा भी हो सकता है?'

सौभाग्य मंजरी ने मुस्करा कर उत्तर दिया : 'मैं तुम्हारे साथ काम करूँगी।'

और मुझे ध्यान आया कि अभी तक किसी स्त्री ने मुझसे ऐसा नहीं कहा था ! क्या यह एक नये जीवन का प्रारम्भ था ?

आज कह सकता हूँ कि भले ही वह नये जीवन का नहीं, परन्तु एक नये प्रयोग का प्रारम्भ अवश्य था। प्रयोग ! महाराज शतानीक ने कहा ही था कि अनेक अनुभवों के बाद मनुष्य ने देखा था कि इस मार्ग का आदि कोई नहीं

जानता, न अन्त ही। हम तो केवल बीच में हैं। बीच में उठते हैं और वहीं कुछ चलकर लुप्त भी हो जाते हैं।

महाराज शतानीक ने जब मेरी कल्पना के बारे में सुना तो बोले : 'जामाता को प्रयोग करने दो। उदयन को अनुभव प्राप्त होगा।'

मैंने नगर का नक्शा खींचा। चैत्यों, उपवनों के स्थान निर्धारित किये। और सचमुच नगर खड़ा हो गया। सौभाग्य मंजरी ने उसका नाम रखा—धनपुर। और मैं कितना प्रसन्न हुआ। शीघ्र ही मैंने गुप्तचर नियुक्त किये और अभय-कुमार के लिये लोगों को भेज दिया। परन्तु फिर सोचा। यह मेरे गुप्तचर क्यों बने? गुप्तचर जब पकड़ा जाता है तब उसका स्वामी उसे अपना कहकर स्वीकार नहीं करता और वह मारा जाता है। ऐसा जीवन मनुष्य क्यों स्वीकार करता है? क्योंकि ऐसे जीवन को भी वह अपने बाकी जीवन से अच्छा मानता है। इससे रोटी, नमक और स्वामिभक्ति उपजती है। जीव जीव को खाता ही नहीं, जीव अपने पेट में जाने वाले जीव के लिये, दूसरे जीव पर निर्भर भी करता है। उस निर्भरता के कारण रोटी देने वाले का स्वार्थ जीवित रखना रोटी पाने वाले का धर्म हो जाता है। तो क्या दरिद्रता ही इस निर्भरता का कारण है? या दरिद्रता से भी बढ़कर है धन का सहज प्राप्ति में रहने की आदत, जो खतरों को झेलने की ताकत देती है और मनुष्य मौज में रहता है और जीवन से परोक्षरूप से घृणा करता है। कैसी होती है यह घृणा जिसमें भोग—भोग ही प्रधान रहता है। मैं भी तो मूलतः एक गुप्तचर ही हूँ। स्वार्थ में खेल रहा हूँ। इस स्वार्थ को क्या मुझे भाग्य की गति कहना चाहिये? मैं कोई उत्तर नहीं सोच पाया।

मैं, मेरा धनपुर दिन-रात बढ़ रहे थे। सौभाग्य मंजरी तो मेरा ही 'मैं' थी, उसे मैं अलग क्यों गिनूँ?

मैंने व्यापारियों को बुलाकर मंत्रणा की। कर नियत किये। वन-भाग में सुव्यवस्था का प्रबन्ध किया। ब्राह्मणों को मंत्रिमंडल में लिया। क्षत्रिय सेना में रहे। दासों को श्रेष्ठियों में बाँटा और फिर भृत्यों के लिये नियम बनाये—कोई इन्हें मारे नहीं, सेविका को नंगा न करे, उससे व्यभिचार न करे। उसे अपनी संतान का अधिकार हो। मैंने दास-दासियों की हाट ही नहीं बसाई। इतना सब कुछ हुआ, परन्तु जब वर्षा समय पर नहीं हुई, तब अन्न

नहीं उपजा। मैंने किसानों को ऋण दिलवाया, श्रेष्ठियों से; और बदले में उनका कर कम किया; किन्तु बाहर से आने वाले सार्थों पर कर बढ़ा दिया। फिर भी समस्या नहीं सुलझी। अन्त में मैंने पुराने ग्रंथ देखे। सम्राट् युधिष्ठिर ने नहरें खुदवाई थीं। उनमें धन लगता था। कृषि सुव्यवस्थित होती थी। बड़े राज्य थे, तब नहर खुदवाई जा सकती थीं। छोटे राज्यों के पास इतना धन ही कहाँ था कि वे ऐसा करते!

सौभाग्य मंजरी ने कहा: 'यह कार्य कठिन नहीं है स्वामी। साहस करना होगा।'

मैंने आश्चर्य से कहा: 'साहस इसमें क्या करेगा?'

बोली: 'कहते हैं, आपने तो पौलस्त्यवध काव्य सुना ही होगा; रघुकुल में पहले एक राजा राम हुए थे, जिन्होंने अपनी पत्नी सीता को राक्षस से मुक्त करने को वानरों की सहायता से सागर पर पुल बाँधा था। सीता धरती की बेटी थी। तो हम राज्य रखकर धरती पर नहर नहीं बहा सकते?'

मैंने कहा: 'दक्षिण पथ में लोग रावण को राक्षस नहीं विद्याधर कहते हैं। वानरों को भी विद्याधर मानते हैं।'

'उससे क्या फ़र्क पड़ता है!' सौभाग्य मंजरी ने कहा: 'नहरें क्या रावण के विद्याधर हो जाने से नहीं खुद सकतीं?'

मैं निरुत्तर हो गया।

'पर होगा कैसे?'

'राजा धनकुमार खोदेंगे तो किसान लगेंगे अपने आप। तब अपने आप श्रेष्ठि धन देंगे। भोजनमात्र बदले में मिलेगा। नहर खुद जाने पर नाममात्र का कर लगेगा, उतना कि नहर की व्यवस्था ठीक बनी रहे। अन्न उपजेगा तो प्रजा धन देगी। किसान सुखी रहेगा तो वर्ण-व्यवस्था चलेगी और लोक में धर्म रहेगा। प्रमुख लोगों (जागीरदारों) को भूमि बाँटी जाये। वे स्वयं उसका शासन करें अपने-अपने खंड में। प्राचीन परम्परा के अनुसार ग्रामणी (सरपंच) नियत हों और श्रेणियाँ[1] अपना निर्णय स्वयं अपनी सभा (पंचायतों) में करें। राजा केवल सबका नियोजन करे और शत्रु से रक्षा।'

'अरे मेरी स्त्री तो पूरी पंडिता है!' मैंने कहा।

१. Guilds = भारत में जातियाँ।

बोली : 'स्वामी ! पिता ने अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों पढ़ाये हैं ।'

मैंने कहा : 'ठीक है ।'

'और एक काम सोचती हूं । पर हो सकेगा या नहीं, यह आप देखें । अन्य राज्यों में दीन-दरिद्र है । गणों में दास है जो बिकते हैं । किसी तरह उन्हें यह खबर पहुँचे कि वहाँ खाने को मिलेगा, उन्हें स्वतन्त्रता मिलेगी : तो चुपचाप भाग आयेंगे । हम किसीको भी नहीं रोकेंगे । जो आये काम करे । और काम करेगा तो हमारी प्रजा होगा, हम रक्षा करेंगे उसकी ।'

'और जो गणस्वामी और अन्य दास-स्वामी इसका विरोध करें बाहर से तो ? जो किसीने चढाई कर दी ?'

वह हंसी और कहा : 'जब तक अपने में इतनी शक्ति नहीं कि सबसे टक्कर ले सकें तब तक यह काम छिपकर गुप्त रूप से करना होगा ।'

मैंने ग्रामों के मुखिया बुलाये और योजना रखी । उन्होंने मुस्कराकर मौन धारण किया । मैं समझ गया, इन्हें विश्वास नहीं हुआ । तब सौभाग्य-मंजरी ने कहा : 'ग्रामणी हो तुम ?'

'हाँ महारानी !'

'जानते हो प्राचीनकाल में एक राजा थे पृथु । उन्होंने पृथ्वी को गाय की तरह दुहा था । तब हिमालय को उन्होंने बछड़ा बनाकर खड़ा किया था । हम हिमालय को बछड़ा नहीं बना सकते; न पृथ्वी को दुह सकते हैं, परन्तु पृथु ग्वाला बन सकते थे, तो तुम्हारे महाराज भी धरती खोद सकते हैं । बोलो ! अब भी विश्वास नहीं कर सकते ?'

एक वृद्ध ग्रामणी ने हाथ जोड़कर कहा : 'देवी ! यह सच है, पर राजकुल ने कब हल चलाया है ?'

सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'ग्रामणी ! क्षत्रिय-परम्परा के जीर्ण होने से ही कहते हो । प्राचीनकाल में राज्य की शांति के लिये, समृद्धि के लिये जो वैष्णव यज्ञ होता था, उसमें राजा को हल चलाना पड़ता था ।'

ग्रामणी निरुत्तर हो गये ।

और मैं, धनकुमार, धनसार श्रेष्ठि का पुत्र—जो कई बार मजूरी कर चुका था, खड़ा हुआ धोती ऊँची बाँधकर । धरती पर मेरा फावड़ा चला । सौभाग्य-मंजरी ने मिट्टी तसले में उठाकर फेंकी, एक भीम जयनाद के साथ लोग जुट

पड़े और सौभाग्य मंजरी का कार्य प्रारम्भ हो गया। काम की देखभाल के लिये मैंने पास का एक घर अपने लिये चुना, जहाँ सौभाग्य मंजरी साधारण गृह-पत्नियों की तरह खाना पकाने लगी और मट्ठा बिलोती। हम ऐसे उतर आये कि मैं कभी सोच भी नहीं पाता। शायद मैं स्वयं वहाँ न होता, तो अपने बारे में ऐसी कल्पना पर भी मैं विश्वास नहीं कर पाता। फिर मैं तो गरीबी जानता था, लेकिन सौभाग्य मंजरी! पति के लिये स्त्री क्या कुछ नहीं कर सकती, यह मैंने तब ही जाना। सुना था, सावित्री यम से लड़ी थी, लेकिन वह केवल कहानी थी। कुछ ही दिन में काम चल पड़ा। तब मैं कभी अपने विशाल भवन में रहता, कभी उसी छोटे घर में, क्योंकि दोनों जगह मेरा काम पड़ता था। सौभाग्य मंजरी वही बनी रही। मेरे संगीत ने सौभाग्य मंजरी को मुझ पर मुग्ध कर दिया।

एक दिन विशाल भवन में था कि मुझे एक गुप्तचर ने आकर सम्वाद दिया। वह सम्राट् बिंबसार का भेजा हुआ था। उसने बताया: 'वैशाली, कोसल, और अवन्ति का कार्य ठीक चल रहा है। सोमश्री को पुत्र हुआ है, कुसुमश्री को कन्या।'

मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। अकेला था सो भाव छिपाने की जरूरत थी। तुरन्त उसे गले का हार उतार कर दिया। मैंने कहा: 'और सुभद्रा के बारे में कुछ नहीं बताया?'

गुप्तचर बगलें झाँकने लगा।

मुझे कुछ शंका हुई। कहा: 'कहता क्यों नहीं?'

'बात यह है आर्य ··

'कहो, कहो! डरो मत!'

'वह बात बहुत लज्जाजनक है जामाता···

'लज्जाजनक!!' मैंने आँखें नीची किये हुए ही पूछा: 'कह जाओ!'

'वे आपका जाना सुनकर उद्भ्रांत हो गईं। फिर कुसुमश्री और सोमश्री से मिलीं। उन्हें गर्भवती देखकर वे घर लौट गईं। एक सेविका बताती थी कि रातभर विचलित रहती थीं। कहती थीं: मेरा पति कायर था जो मुझसे कहे बिना चला गया।—सम्राट् की दृष्टि सदैव उनपर रही। वे एक दिन तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान के यहाँ गईं और कहा: मेरा पति भाग गया है, मुझे दीक्षा

दें ।—तीर्थंकर ने कहा : स्त्री को छोड़कर जाने की यह परम्परा अनुचित है जामालि !* कहकर जाना चाहिये । सिद्ध बनने को चलते समय मनुष्य पाप नहीं करता कि पलायन करे । पलायन करने वाला बड़ा निर्बल होता है ।—परन्तु उन्होंने दीक्षा नहीं दी । कह दिया : पहले मन को धैर्य दो, तब आना । आवेश में प्राप्त दीक्षा, आवेश में ही चली जायेगी ।—तब वे शास्ता गौतम बुद्ध के पास गई । कहा : भन्ते ! मेरा पति मुझे बिना कहे छोड़ भागा है । मैं क्या करूँ ?—वे चुप रहे, फिर कहा : हो सकता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर गया होगा ।—सुभद्रा ने कहा : क्या वह कायर नहीं है ? मैं क्या उनके सिद्धिपथ को रोक लेती ? या मैं तप नहीं कर सकती ? भन्ते ! मुझे प्रव्रज्या दें ।—किन्तु शास्ता ने कहा : मैंने संघ में स्त्री के लिये स्थान नहीं रखा था । किन्तु महा-प्रजापती गोतमी के कारण मैंने आज्ञा दे दी । तुम आनन्द से कहो ।—वे आनन्द के पास गई किन्तु भिक्षु ने कहा : वासना की अतृप्ति के विक्षोभ में कुछ मत करो । आवेश थमने पर आना ।—तब वे घर लौट गई ।'

वह चुप हो गया । मैंने कहा : 'इसमें लज्जा की बात क्या है शंख ?'

शंख ने कहा : 'वह यह है कि फिर एक रात वे अपने प्रकोष्ठ में घुसीं । एक सेवक ने उनके शयनकक्ष में शालिभद्र के भृत्य सुदाम को घुसते देखा और प्रातः-काल होने पर पता लगा कि स्वामिनी अपने सेवक के साथ कहीं भाग गई थीं । सुदाम सुन्दर और स्वस्थ तो था ही, परन्तु धन वे घर से कुछ नहीं ले गई । सुदाम कितना कृतघ्न था ! उसका पिता श्रेष्ठि गोभद्र का अत्यन्त विश्वासपात्र अनुचर था । बचपन से सुभद्रा के साथ यह सुदाम खेला था । सम्राट् ने बहुत ढुँढवाया । कुछ पता नहीं चला । सोमश्री और कुसुमश्री भी इसी लज्जा से छिपी रहती हैं घर में । श्रेष्ठि शालिभद्र और उनकी माता भद्रा तो कहती हैं कि सुभद्रा मर गई !'

'हाँ !' मैंने कहा :'वह मर जाती तो अच्छा रहता ।'

इतना दुखी हो गया मैं कि उसे बिदा करके शय्या पर गिर गया । मेरा निर्दय भाग्य हँसने लगा । उसी समय मुझ पर एक वज्र और टूटा । शंख के जाते ही

---

* **महावीर का शिष्य और जामाता था । बाद में महावीर से अलग हो गया था, स्वतन्त्र विचारक बनकर ।**

छंदक आया। वह मेरा चर था, जो मैंने वत्स से उज्जयिनी भेजा था। उसने कहा : 'देव ! उज्जयिनी में मैंने धनसार को बहुत खोजा। आपने पता दिया था, वहाँ मैंने ढूँढा, सारा नगर छान डाला। बहुत तलाश करने पर पता चला कि श्रेष्ठि धनसार के एक पुत्र था जिसे प्रद्योत चाहते थे। वह चला गया कहीं, तो प्रद्योत बहुत क्रुद्ध हुए। श्रेष्ठि धनसार भी बहुत दुखी हुए। महाराज ने श्रेष्ठि को बुलाकर डाँटा। श्रेष्ठि अकड़ गये क्योंकि वे पुत्र के विषय में कुछ नहीं जानते थे। तब महाराज ने सबको राज्य की सीमा के बाहर निकलवा दिया। पता नहीं फिर उनका क्या हुआ।'

छंदक चला गया, परन्तु मैं चक्कर खाकर वहीं बैठ गया। यह भी मेरे कारण हुआ !! मैं ही हूँ वह पापी, जिसके कारण इतना विनाश हो रहा है। तब मुझे क्रोध आने लगा। बिंबसार उत्तरदायी है। वही सुभद्रा के पतन का उत्तरदायी है। प्रद्योत ! प्रद्योत उत्तरदायी है मेरे माता-पिता के अपमान का। वही उत्तर देगा इस अपमान का।

मै विक्षुब्ध हो उठा।

मैं कैसी विचित्र परिस्थिति में था ! अपने भाव मैं किसी पर प्रगट भी तो नहीं कर सकता था। अब मुझे जीवन सूना लगने लगा। सौभाग्य मंजरी मेरी प्रिया ! और उससे भी मैं नहीं कह सकता। कैसी घुटन थी ! कैसे कहूँ ? किससे कहूँ ? कहाँ भटक रहे होंगे मात-पिता ! वृद्ध ! या मर गये होंगे ! और सुभुद्रा ! एक सेवक के साथ ! सेवक ! घृणित ! संभोग का ही तो सुख नही था सुभद्रा को। क्या उसके बिना वह एक सेवक की शय्या-गामिनी बन गई ? उसने भाई शालिभद्र की नाक कटा दी ! क्या कहेंगे सम्राट् बिंबसार ! कहेंगे कि स्त्री का विश्वास ही क्या ? ऐसी तो समय रहते चली गई सो अच्छा हुआ, अन्यथा कभी गहरा धोखा देती ! सच ही तो है।

कुछ नहीं। धनकुमार ! तू मद में भूला है। जब वैभव मिलता है तू तुरन्त भूल जाता है। सोमश्री, कुसुमश्री को तो सन्तान मिल गई। अब पति की आवश्यकता ही क्या है उन्हें। उनको धन की कमी ही क्या है ? सब स्वार्थी हैं ! सौभाग्य मंजरी भी समय आने पर क्या करेगी ? कौन जाने ! मैं अभय-कुमार को क्यों छुड़ाऊँ ? बिंबसार के कारण मेरी सुभद्रा खो गई ! मिलने दो उसे भी बदला। लेकिन नहीं। मैं उसे छुड़ाऊँगा। मैं नमक चुकाऊँगा

बिंबसार का । और इस नाते प्रद्योत को दण्ड भी मिल जायेगा उसके 'चण्डत्व' का । ऐसा है उसका क्रोध ! उसने पिता का अपमान किया । राजा है तो क्या अमर है ! उसके राज्य की सीमा ! और मुझे मिथिला के उस जनक की याद आई जिसने एक ब्राह्मण से क्रुद्ध होकर कहा : 'निकल जा मेरे राज्य की सीमा से !' यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा : 'जाता हूँ राजा, पर तू मुझे अपने राज्य की सीमा बता ।' जनक लम्बी साँसें लेने लगा और बोला : 'तू ठीक कहता है ब्राह्मण । मेरा राज्य क्या है ? मेरा तो कुछ नहीं !' और चण्डप्रद्योत ऐसा गर्वी है ? फिर भी मैंने उसका नमक खाया है ।

उफ़ ! मैं पागल हो जाऊँगा । क्या करूँ ? छोड़ चलूँ सब ! अपनी वेदना में मुझे बचा सका तो केवल मेरा संगीत, जो मुझे सब भुला देता था । अब वह नहरें, वह आयोजन; सब मुझे व्यर्थ लगता । यह सब एक नाटक-सा लगता, कोसांबी की रंगशाला में नित्य नये नाटक होते थे । कभी रंभा-रावण, कभी नल-दमयंती । मेरे धनपुर में भी आनन्द की कमी नही थी । पर अब मेरे लिये सब सूना था । सात दिन वहीं रहा ।

आठवें दिन छोटे घर गया । मुझे देखकर सौभाग्य मंजरी प्रसन्न-सी बोली : 'आये तो आर्य ! रोज पूछती तो पता चलता राज-काज में व्यस्त है । स्वामी ! राजकुल की स्त्रियों को तो धैर्य की शिक्षा दी जाती है । उनका पति उनका ही नहीं, प्रजा का भी होता है । हम ही तो है, जिनका धर्म है रण में जाते समय पति के शरीर पर कवच बाँधना । विदुला का पूरा उपाख्यान मुझे याद है । पर हाँ ! मैंने एक काम कर डाला है बिना आपकी आज्ञा के ।'

'वह क्या ?'

'धनपुर के लिये एक विशाल सरोवर की आवश्यकता थी । सो खुद रहा है । कुछ विदेशी आये हैं । एक तो पूरा परिवार है । और भी हैं । वह परिवार, देखा है मैंने तो अच्छे दिन देखे हुए-सा लगा । मैंने कह दिया है मज़ूरों से—मेरे पास से मट्ठा ले जाया करो ।— आती हैं औरतें । बस रोटी बना लेती हैं । मट्ठा ले जाती हैं । मैंने उनलोगों से कहा तो कुछ शरमा-से गये । उनमें जो बूढा है, वह बड़ा स्वाभिमानी है । बोला : स्वामिनी ! मेहनत जो देती है, वह हम अपना समझकर लेते हैं । और स्नेह जो कुछ देगा, उसके लिये हम सिर झुकाते हैं, पर स्वामिनी ! उसे चुकाने फिर जन्म लेना होगा !—

उसकी बात सुनकर मैंने कहा : ऐसा नहीं है। जन्म लेना है तो लेना ही पड़ेगा। मेहनत-मजूरी तो है ही ! पर आत्मा तो सब में एक है। उसको स्नेह भी चाहिये। तुम वृद्ध हो, इस नाते समझदार हो, पर मैं तो स्त्रियों और बच्चों के नाते कहती हूँ। सब अपने-अपने भाग्य का पाते हैं।—तब एक वृद्धा, शायद उसकी स्त्री थी, बोली : अच्छा स्वामिनी ! तुम्हारी दया बनी रहे। बहू को भेजूँगी !'

यह कहकर मुझसे कहा : 'क्यों स्वामी ! मैंने ठीक कहा न ?'

मैंने कहा : 'तुम इतनी अच्छी हो सौभाग्य मंजरी ! तुम इतनी अच्छी हो कि मुझे डर लगता है। वैसे तो जीवन में मैं सबसे बिछुड़ता रहा हूं, माता, पिता, भाई, भाभी, पत्नियाँ, सबसे। पर मैं क्या तुम्हारे बिछुड़ जाने पर जी सकूँगा ?'

मेरी सारी वेदना उमड़ पड़ी और मैं उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। उसे भी रोना आ गया हर्ष और प्रेम से। बोली : 'छिः, पुरुष होकर रोते हैं। मृत्यु या परमार्थ के अतिरिक्त हमें कौन अलग कर सकेगा !'

सौभाग्य मंजरी तू धन्य है। मृत्यु की याद है तुझे ! परमार्थ को भी याद रखती है। धन्य है शतानीक, जिन्होंने तुझे ऐसी शिक्षा दी। राजा की बेटी धूलि में बैठी है। तुझे तनिक भी संदेह नहीं मुझ पर ! सौभाग्य मंजरी तू मेरी है !

मैंने कहा : 'मंजरी ! तुम मुझसे नहीं पूछती मैं कौन था ! कैसे सबसे बिछुड़ गया !'

सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'तुम मेरे स्वामी हो। पर मैं भी तुम्हारी अर्द्धांगिनी हूँ। स्वामिनी हूँ। अवश्य तुम्हें उससे दुख होता है तभी तो नहीं कहते ! फिर मैं पूछकर तुम्हें दुख क्यों दूँ ? तुम यों कहते हो शायद, कि स्त्री को कौतूहल अधिक होता है !'

जब मैं बड़े भवन को लौटा, खा-पी चुका था—सौभाग्य मंजरी के हाथ का बनाया खाना। रात का अंधेरा फिर आया था। देखता चलूँ तालाब की तरफ भी, यही सोच मुड़ गया। अब वह खुदी भूमि मुझ पर हँसती थी। पर यह भूखे काम पा गये थे, यही क्या कम था। जगह-जगह रोटी सिक रही थीं। अंधेरे में बस छोटे-छोटे चूल्हे और कहीं-कहीं सिरकी के जोड़े का तंबू। उनके नीचे मनुष्यों के परिवार। बात-चीत। कहीं गाना। कहीं लड़ाई। कहीं हास्य। परिवार का जीवन। ऐसा जीवन मैं नहीं बिता पाया। प्रारंभ में भाइयों ने नहीं रहने

दिया और उसके बाद वैभव ने जीवन को कर दिया बनावटी। यह सब संग काम करते हैं। लड़ते हैं, फिर भी संग रहते हैं। अभाव है न ? उसके कारण केवल मनुष्यत्व ही इनके आपस के नाते जोड़ता है। और यह है दासत्व से मुक्त हुए लोग ही अधिकतर !

यों सोचता मैं बढता गया अंधेरे में। एक जगह एक कड़कड़ा स्वर सुना : 'बेटा ! मजूर है मजूरी कर। देखकर दूसरों को जलाता क्यों है ?'

एक बच्चा रो उठा।

स्वर फिर उठा—'मेहनत से धरती जो देती है वह सोना बनता है। मेहनत की रोटी से मनुष्य के जन्म-जन्मांतर के पाप कट जाते है। मेहनत तपस्या है। समझा ! व्यापार नहीं जिसमें दूसरों का भाग अपना लाभ बनता है, बात करने के कौशल से धन खनखनाता है। यहाँ तो लोहे से पत्थर टकराते हैं। जितना मिले उसे खा। कोई चिन्ता नही। ऊपर आस्मान, नीचे धरती। चैन की नींद।' वह हँसा। फिर कहा : 'तू तो खैर तब भी मूर्ख ही था, पर मैं जानता हूँ। तब सब कुछ था तो धन का डर था। राजा, कर्मचारी, मन्त्री, चोर, डाकू—सब का डर था। अब यम का भी डर नही बेटा। तब व्यर्थ आशंका थी, घर भर को पालने का अहंकार था, और अब ! सब अपने हाथों रोटी कमाते हैं। अब दूसरों को पालने का घमड भी नहीं। तब एक का भाग्य था, अब सबका भाग्य है। तब दो हाथ थे, आज सोलह हाथ है। बोल तब सुखी थे कि आज हैं !' वह फिर हँस उठा। फिर वे सब बातें करने लगे। समझ में आना बन्द हो गया।

मैं चला आया।

तीसरे दिन पहुँचा तो सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'आज एक स्त्री आई थी। और अब वह भी उसी परिवार के साथ मिल गई है। स्त्री के साथ एक और है। उसका पति ही होगा। वह आती है मट्ठा लेने। और भी कई आती हैं।'

मैंने सोचा कि इसने यह मट्ठे का व्यापार और वह भी बिना लाभ का अपने लिये खूब निकाल लिया है। आज मैं थका-सा था। मैंने बहुत मुश्किल से अभयकुमार को छुड़ाने की तरकीब सोची थी और आदमी भेजे थे। सो ज्यादा बातें न कीं। खा-पीकर सोने लगा। सौभाग्य मंजरी मेरी शय्या पर आ

बैठी और मेरे बालों में उंगलियों से कंघी-सी करने लगी। मैंने उसकी ओर देखा तो उसने हाथों में मुँह छुपा लिया मुस्कराकर। मैंने कहा : 'क्यों मंजरी !'

'हटो चुप भी रहो !'

'क्यों आखिर !'

'मुझे पिता के घर भेज देना थोड़े दिन बाद !'

'क्यों, तुम भी रूठ गई ?'

उसने हाथ हटाये और कहा : 'पहली बार तो जाना चाहिये न ?'

मैं एकदम स्फुरित हो गया।

'सच ! कब !'

'छिः ! यह क्या पूछते हैं ?'

मैं स्वयं लज्जित हो गया। तो सौभाग्य मंजरी अब माँ होनेवाली है। और तब मैं उदास हो गया। तो क्या अब यह भी मुझसे बिछुड़ जायेगी !!

हवा से दीप बुझ गया था। मैंने उसे अपने अंक में भर लिया और कहा : 'मंजरी ! तुम्हारी संतान बहुत अच्छी होगी, क्योंकि तुम बहुत अच्छी हो।'

'और तुम स्वामी !!'

रात की हवा सियराने लगी थी। आज मेरे दो दाँव थे। अभयकुमार को छुड़ाने की चाल। सौभाग्य मंजरी के गर्भ में मेरी संतान ! दो दाँव ! और मेरा कुटिल भाग्य !!

तीन महीने यों ही बीत गये। तालाब आधा-सा खुद गया। उस दिन मै सौभाग्य मंजरी के यहाँ से कहीं नही गया। रात सोया वहीं। दूसरे दिन दोपहर की वेला थी। मैं शय्या पर पतली चादर से मुँह ढाँके लेटा था कि आँगन में एक स्त्री आ खड़ी हुई। उसके साथ एक पुरुष भी था।

'आ गई ?' सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'इसे भी ले आई ?'

'आपने तो कहा था स्वामिनी !'

मैने आँख पर से चादर ज़रा हटाकर देखा। देखूँ तो, सौभाग्य मंजरी ने किसे बुलाया था।

देखा तो लगा कि जैसे मैं जीवित नहीं था !

यह पतन ! यह सीमा ! सीमा ! यह तो सीमा का भी अतिक्रमण था !

सुभद्रा अपने प्रेमी सुदाम के साथ। दोनों मेरे ही ताल में मजूरी कर रहे है। सुभद्रा है यह ! गोभद्र की बेटी ! शालिभद्र की बहन ! सुवर्ण, मरकत, नीलम और रत्नों के ऊपर पाँव रखकर चलने वाली सुभद्रा एक मजूरिन बन गई है ! ऐसा है सुदाम ! इसके प्रेम में ऐसी दृढ़ता है। प्रेम कि वासना !

तभी सुभद्रा ने कहा : 'स्वामिनी ! मैंने इससे कहा। इसने कहा : कर दूँगा।'

सुदाम ने कहा : 'यह जो कहे मैं करूँगा स्वामिनी ! मैं इसका बचपन का दास हूँ।'

सौभाग्य मंजरी हँसी। कहा : 'तो मुझे यह पता लगाकर ला कि वह परिवार कौन है। मैंने पूछा उन स्त्रियों से। कहने लगी कि हम तो मजूर है। पर वे मजूर लगते हैं ? तुम हो। देखकर कोई भी कह देगा कि मजूर हो।'

सुभद्रा मुस्कराई। कहा : 'स्वामिनी ! धनी नहीं छिप सकते।'

सुदाम ने सुभद्रा को देखा और हँसकर कहा : 'इसे देखकर कोई अगर कहे कि यह बड़ी धन वाली है तो समझो आस्मान के पंख निकल आये।'

सौभाग्य मजरी हँस पड़ी। और कहा : 'अच्छा कैसे पता चलायेगा तू ?'

सुदाम ने कहा : 'यह है पिप्पली। यह उनकी स्त्रियों से मेल बढ़ा लेगी। फिर मुझे बुला लेगी।'

'ठीक कहता है उपक। यही ठीक रहेगा। पर स्वामिनी ! हम यहाँ कितने दिन के ! हम तो घूमते-फिरते है।'

'क्यों ?' सौभाग्य मंजरी ने पूछा।

'इसकी धुन है।' सुदाम ने कहा।

'तू नहीं रोकता इसे ?'

'स्वामिनी ! पिप्पली की बात मै कैसे टाल सकता हूँ ?'

'तुझे ऐसा कहते लाज नहीं आती ?' सौभाग्य मंजरी ने हंसकर कहा। वह मज़ा ले रही थी। प्रायः स्त्रियाँ पत्नी के दास को देखकर हँसती है और अपने पति की उससे तुलना करती हैं।

जब सौभाग्य मंजरी ने मट्ठा डाला तो सुभद्रा ने कहा : 'और दो स्वामिनी ! हम गरीब लोग हैं। ज्यादा खाते हैं।'

वे दोनों चले गये। मुझे रोम-रोम में विष पुर गया-सा लगा। चादर

ढाँक ली। सौभाग्य मंजरी आई और एक चौकी पर बैठ गई। चंदन की थी वह चौकी।

मैंने कहा : 'मंजरी ! यह कौन थे ?'

'मजूर थे बेचारे !'

मैं घृणा से अपने मुख की विकृति नहीं छिपा सका। वह चौकी। कहा : 'क्यों ? क्या बात है ?'

मैंने कहा : 'यह दोनों स्त्री-पुरुष हैं ?'

'वह तो हैं ही।'

'तुम इन्हें जानती हो ?'

'मैंने बताया था न पहले। पिप्पली स्त्री का नाम है, और पुरुष का नाम है उपक।'

मैंने कहा : 'और वह परिवार कौन-सा है ?'

'एक बूढ़ा है। खूब काम करता है। जवान बेटा बैठ जाता है तो बूढ़ा कहता है : काम कर बेटा ! पुराने पापों का प्रायश्चित्त कर ! देख ! आकाश के सूर्य को देख। कभी थकता है ? बेटा ! पानी निकलेगा। कभी देखा था ऐसा चमत्कार ! धरती का पानी खींचकर निकाल, आँख का पानी बेकार मत बहा। बेटा ! जवानी मे थक गया है। काम कर ! रो मत ! स्वामिनी भली मिली है तो उसका ज्यादा फायदा न उठा। धनपुर मनुष्य के सत्य के लिये बन रहा है। भला हो स्वामिनी का। कहते हैं महाराज शतानीक की पुत्री है। इस घर में रहती है आकर ! और तुम्हारे लिये मट्ठा बिलोती है ! खून को पानी मत कर बावरे ! खून को मेहनत में बदल !—सच, जानें कैसी-कैसी बात करता है। मजूर न होता तो कोई बडा ऊँचा आदमी बन सकता था वह। उसका माथा ! यों रहता है ऊँचा। उदयन भैया जिस तपोवन में थे, वहाँ मैने ऐसा ही एक तपस्वी देखा था। अभी मैं औरों के बारे में कुछ जान नहीं पाई हूँ।'

मन में आया सुभद्रा की बात कह दूँ। पर सोचा; नहीं, यह ठीक नहीं होगा। किसी दिन अचानक उसके सामने खड़ा हो जाऊँगा। तब देखूँगा क्या करती है ? सौभाग्य मंजरी जानेगी तो शायद सौतिया डाह में उसे कहीं निकाल बाहर करे !

तब मुझे लगा कि मैं एक बड़ा हरियाला वृक्ष हूँ। सुन्दर, ऊपर फूल भी हैं।

जब अपनी यंत्रणा से काँपता हूँ तब लोग समझते हैं कि मैं हवा में झूम रहा हूँ। मैं बड़े-बड़े सुपनों से भरे पक्षियों को अपने ऊपर बिठाता हूँ, जहाँ वे घोंसले बनाते है। लेकिन मेरी जड़ में दीमक लगी है और मेरे कोटर में साँप हैं जो उन पक्षियो के अंडे चुरा लेते है। फिर भी मै खड़ा हूँ क्योंकि मेरी जड़ें धरती के भीतर घुसी हुई जाने कहाँ-कहाँ का पानी चूस रही है। सब कुछ ठीक सही, किन्तु मेरी पत्नी अपने सेवक के साथ मिट्टी ढोये और मस्त रहे! मेरा ऐसा अपमान! और मैं देखता रहूं? कुछ कर न सकूँ? इसे पकड़कर कटवा दूँ। पर यह तो मेरे लिए ऐसे अपमान की बात होगी कि मुँह न दिखा सकूँगा, क्योंकि लोग तो जान जायेंगे! तब क्या चुपचाप इसकी हत्या करा दूँ?

नही, नही। मै सुभद्रा की हत्या नहीं कर सकता, सुभद्रा को मैने प्यार किया है। आज वह इस तरह सुखी है। तो इसी तरह रहे, परन्तु मै ऐसा पाप नही कर सकता। मै राजा नही हूँ। मै वही धनकुमार हूँ। मैं वही दीन-दरिद्र हूँ। मैं अभागा हूँ।

राज्य छोटा था, परन्तु फैसले तो करने ही पड़ते थे। और मैने देखा कि यहाँ भी झूठ था, मक्कारी थी। धनपुर एक धन का नगर ही निकला। मेरा आदर्श नगर कही नही था। तो क्या ससार सदैव ऐसे ही चलेगा? इस विचार ने तो मुझे बिल्कुल ही कही का न रखा। बाहर के श्रेष्ठियों पर 'कर' अधिक लग गया था सो वे अब धनपुर कम आते थे। स्थानीय व्यापारी अब माल के दाम बढ़ाते थे। किसानों पर उनका ऋण था इसलिये वे घी की कटौती करने लगे। कर्मचारी व्यापारियों से घूस लेते और हद तो यह हुई कि सेना के क्षत्रिय मजूरिनों पर डोरे डालने लगे। सब व्यर्थ था। जो दाम भागकर आये थे, वे यहाँ खाना पाते तो काम कम करते, ताकि काम ज्यादा दिन तक चलता रहे। वनभाग में डाकू फिर उठने लगे थे। क्योंकि बाहर के व्यापारी कम आते थे, सेना को घूस कम मिलती थी, वह ध्यान कम देती थी और परिणामतः हमारे सार्थ ही लुट जाते थे। सेना से प्रश्न होता था तो वे ग्रामणियों पर दोष रखते थे कि ग्रामणी ही डाकुओं से मिले हुए हैं और ग्रामणी कहते थे कि यह काम गणराजाओं के भेजे आदमियों का हो सकता है, जिनके दास भाग आये हैं।

मेरा बालू का घरौंदा ढह रहा था। और मेरे मन में आग जल रही थी। उधर अभयकुमार के बारे में कुछ पता नही चला था। माता-पिता तो गायब थे

ही, और सुभद्रा मेरे सामने ही आई थी उस दिन। बिंबसार की तरफ से पत्ता तक नहीं खड़क रहा था। एक आशा थी सौभाग्य मंजरी! और वह मातृत्व के भार से लदी, ऐसे स्वप्नों में डूबी थी कि मुझे लगता था वह किसी दूसरे लोक में चली गई थी। यों मैं मजूरों की भीड़ देखता। पर अब मैं क्या कर सकता था! मनुष्य के भविष्य में से मेरा विश्वास उठ चला था। मैं प्रायः राजकाज के बहाने से विशाल भवन में रहता। एकान्त मुझे अच्छा लगता। सौभाग्य मंजरी बेचारी उसी लगन और विश्वास से उसी छोटे घर में रही आती। पन्द्रह दिन बीत गये। मैं और मेरी वीणा। यही दो थे उस जीवन के उन नीरव और सूने क्षणों में। सोलहवें दिन मैंने सौभाग्य मंजरी के पास चलने का इरादा किया कि एक रथ धीरे-धीरे आकर भीतर घुसा और गर्भभारालसा सौभाग्य मंजरी उतरी। मैं चौंक उठा।

उसने एक सेवक से पूछा : 'स्वामी कहाँ है?'

प्रणाम करके उसने कहा : 'ऊपर हैं देवी।'

वह ऊपर आई। मैंने कहा : 'क्या बात है? घबराई-सी कैसे हो?'

वह कुछ उत्तेजित-सी थी। आते ही बैठ गई और बोली : 'पानी!'

मैंने पानी दिया। पीकर मुझे देखती रही और फिर कहा : 'धनपुर डूब गया!'

डूब गया! मैं चौंका! डूब कैसे गया!

मैंने पूछा : 'डूब गया? वह कैसे?'

'ऐसे कि पाप वहाँ आ गया।'

'पाप?'

'आप यहाँ बैठे कौन-सा राजकाज देख रहे है? जानते हैं चारों ओर क्या हो रहा है?'

मैं समझा नहीं। पूछा : 'ऐसी कोई बात तो नज़र नहीं आती।'

'नज़र नहीं आती! सेना के उद्दण्ड लोग मजूरिनों को छेड़ते हैं।'

'मजूरिनें उन्हें बढ़ावा देती होंगी।'

सुनते ही वह झल्ला उठी : 'पुरुषों की-सी बातें मत करो। रोटी पेट की जुटाने आती हैं अपने बच्चों को पालने और आप ऐसा कहते हैं। कल रात तो हद कर दी उन्होंने। उपक को मार डाला।'

'उपक !'

सोचा । कितना अच्छा किया उन्होंने ।

कहा : 'उपक ने कुछ किया भी तो होगा ?'

सौभाग्य मंजरी आश्चर्य से देख उठी और बोली : 'आप यह कह क्या रहे हैं ? उन्होंने बलात् पिप्पली को उठा ले जाना चाहा । वह तो कहो कि उस परिवार में वह हिल गई थी, संग ही उठना-बैठना था । आवाज सुनकर वह बूढ़ा निकल आया और लड़ने लगा । उसके भी चोटें आई है । बूढ़ा सैनिकों से क्या लड़ता अकेला । तब उसकी स्त्री ने लड़कों और बहुओं को ललकारा । बड़ी मुश्किल से पिप्पली बची है । घायल हो गई । सबके चोटें लगी है । मजूरों में बड़ा भारी रोष है । उन्होंने मुझे भेजा है कि स्वामी को तुरंत सूचना दें । और आप हैं कि किसी स्त्री के सम्मान और पातिव्रत का ध्यान ही नहीं करते ?'

'पातिव्रत !' मैंने विषाक्त फूत्कार किया । 'पिप्पली और पातिव्रत !'

'हाँ, हाँ । वह पतिव्रता है ।' वह चिल्लाई : 'आपने देखा भी है उसे !'

'देखना ही तो चाहता हूं ।' मैंने कहा : 'उसे एक बार सामने लाओ । यदि वह मेरे सामने खड़ी हो सके तो देखूँ !'

सौभाग्यमंजरी ने ताली बजाई । एक सेवक ने प्रणाम करके घुसते हुए कहा : 'आज्ञा स्वामिनी !'

'नीचे रथ में एक मजूरिन है । उसे यहाँ छोड़ जाओ !'

वह अवरुद्ध-सी, क्रुद्ध-सी बैठी रही । मैं छाती पर हाथ बाँधे खड़ा रहा । द्वार पर सेवक आया और बोला : 'चली जा भीतर ! स्वामिनी हैं ।'

सेवक चला गया । पिप्पली घुसी । मैंने वातायन से बाहर झाँकते हुए, उसकी ओर पीठ करके कहा : 'हाँ पिप्पली ! तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है । स्वामिनी ने मुझे सूचना दी है ।'

'स्वामी !' सुभद्रा ने प्रणाम कर के कहा : 'मेरा भाई मारा गया है ।'

भाई ! भाई !!

मैंने मुड़कर कहा : 'झूठ मत बोल ! तू कौन है क्या मैं नहीं जानता ?'

मुझे देखा उसने और हाथ उठाकर पागल-सी हँसी और झपटकर मेरे पाँव पकड़ कर रोने लगी : 'छलिया तुम यहाँ हो !'

मैं घृणा से पीछे हट गया ।

'मत दिखा यह त्रिया-चरित्र मुझे पापिनी ! तूने कुल की मर्यादा डुबा दी ।'

सुभद्रा दोनों हाथों पर टिककर बैठ गई । और मुझे देखकर मुस्करा उठी । सौभाग्य मंजरी अवाक् बैठी थी । मेरे क्रोध का जैसे सुभद्रा पर प्रभाव ही नहीं पड़ा था । उसने सौभाग्य मंजरी की ओर देखा और मुस्करा कर कहा : 'मेरी सौत !'

सौभाग्य मंजरी ने झपटकर सुभद्रा को छाती से लगा लिया और कहा : 'यही है । अरी ! तूने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा ! इन्हींके लिये तूने कुल का अपमान सहा । इन्हींके लिये तेरे दास ने अपना सब कुछ, प्राण तक बलि-दान कर दिया । इन्हींके लिये श्रेष्ठि गोभद्र की पुत्री, श्रेष्ठि शालिभद्र की बहन, लोकलाज त्यागकर दर-दर भटकी ! इन्हींके लिये तूने मिट्टी ढोई । अभागिन ! पर तुझे क्या मिला आखिर ! जिसके लिये इतना किया, वह तो बधिक से भी अधिक क्रूर-सा तुझे मार डालने को उद्यत है । यही है जो तुझे बिना कहे छोड़ आये थे, और पुरुष के उस दंभ को तोड़ने को तूने जीवन के इतने कठिन संघर्ष झेले ? तू मेरी सौत नहीं, मेरी स्वामिनी है ।'

मैं चक्कर खाकर बैठ गया । जब सँभला तो सुना सुभद्रा कह रही थी : 'लेट जा ओ स्वामिनी ! तुम्हारी हालत ऐसी नहीं है ।'

'मैं तेरी स्वामिनी नहीं बहन ! तू मेरी बड़ी बहन है । है न ? पर वे तुझ पर विश्वास नहीं करते न ? न करें । तू मेरे पास रह । मैंने देखी है तेरी दिन-दिन की घुल-घुलकर तड़पती वेदना ।'

सौभाग्य मंजरी लेट गई । पर कहती गई : 'सुभद्रे ! पुरुष की यही परंपरा रही है । इनका क्या विश्वास ! स्त्री तो जैसे कुछ है ही नहीं । रघुकुल के राम ने क्या वैदेही को कम सताया था !'

सुभद्रा मेरी ओर देख भी नहीं रही थी । जैसे उसे मेरी उपेक्षा की चिन्ता ही नहीं थी । सौभाग्य मंजरी ने मुझसे कहा : 'अग्नि-प्रवेश कराऊँ इसका ?'

मैं बैठा रह गया । तो यह जानती है कि सुभद्रा कौन है ? पर यह नहीं जानती थी कि मैं ही इसका पति था । मैंने अपना परिचय ही इसे कब दिया था ! फिर मंजरी का अपराध ही क्या था ! स्वामी की पुत्री का विषाद न देख सकने के कारण सुदाम ने उसकी सेवा की, हर हालत में उसके साथ रहा और

अन्त में जान तक दे दी ! गोभद्र की पुत्री ! शालिभद्र की बहन ! वैभव ! सुवर्ण-रत्न ! उपवन ! आनन्द ! क्या नहीं था इसके पास ! सब छोड़कर निकल आई। क्यों ? मेरे लिये ! नहीं सह सकी अपने नारीत्व का अपमान ! पुरुष को दिखा देना चाहती थी अपनी शक्ति। और कुलनारी के रूप में छिप नहीं सकती थी। इसलिये इसने मजूरी की। सूखी रोटी खाई। उसने सूखी रोटी खाई, जिसकी गायों के नीचे की धरती दूध से चिपचिपी रहती है।

मैंने देखा। वह अब भी अभिमानिनी थी। उसपर मैंने लांछन लगाया था। वह पर्वत जैसी थी जिसपर वह वज्र नष्ट हो गया था। मेरी मूर्खता पर उसने ध्यान ही नहीं दिया ! उसके सामने मैं अपराधी हूँ। वह क्षमा माँगे तो किसकी ?

मैंने सिर पकड़ लिया और चिल्ला उठा : 'ओ निर्दयी भाग्य ! ओ निर्मम ! क्या-क्या देखना है अभी ! ले क्यों नहीं जाता ! एक दिन भरे-पूरे परिवार को छोड़कर आना पड़ा था भाइयों के कारण, क्योंकि वे अपनी ईर्ष्या से मेरी हत्या करना चाहते थे। वैभव को उस दिन छोड़कर भिखारी बना था; सोचकर कि अब सुख से रहूँगा। परन्तु मैं हूँ वह पापी कि मुर्दे में से मुझे निकालकर दैव ने रत्न दे दिये। अवन्ति का वैभव मेरे पाँवों पर लोटने लगा। वह भी छोड़ा फिर, भाइयों के द्वेष और चण्डप्रद्योत की क्रोधमयी हिंसा के कारण। फिर बना राह का भिखारी, और राजगृह आया। और भाग्य ने मुझे उठाकर आकाश पर धर दिया। किसीके पाप को पुण्य बनाने चला था कि स्वयं पाप बन गया। भागना पड़ा रातों रात, राज्य के लिये, राज्य के नमक का मूल्य चुकाने को। दुर्दम राजनीति और अभयकुमार को छुड़ाने के लिये सबको छोड़ना पड़ा। और आया था कोसांबी महाराज शतानीक को मगध का मित्र बनाने, परन्तु हुआ क्या ? मेरे अहंकार का सर्वनाश मंजरी। सुभद्रा·····

मैं नहीं जानता मेरे स्वर में क्या था कि उस मानवती का मान टूट गया। दोनों मेरे दोनों ओर बैठ गईं और मुझे पकड़ लिया जैसे मैं गिर रहा था।

सुभद्रा ने कहा : 'इतना अविश्वास था तुममें। सब कुछ करते हो, पर किसीपर मन नहीं खोलते ! किसीको भी अपना नहीं समझा आज तक !'

उसकी आँखों में आँसू भर आये। सौभाग्य मंजरी चुप बैठी मुझे देखती रही।

'मै बहुत अभागा हूँ सुभद्रा ! मुझे क्षमा करो। मुझे क्षमा कर दो सुभद्रा ! मैंने सदैव छल किया है। मंजरी से भी···'

'छिः !' सौभाग्य मंजरी ने मेरा मुँह अपने हाथ मे बन्द करके कहा : 'छल करो तुम मेरी मौत से। मुझसे क्यों ?'

यह सुनकर सुभद्रा हँसी और सौभाग्य मंजरी भी।

बाहर कोलाहल होने लगा था। एक सेवक ने आकर कहा : 'देव ! बहुत-से मजूर आये है। श्रमिक कहते हैं पिप्पली कहाँ है। पिप्पली का न्याय राजा को देना होगा।'

मैंने उसी आवेश में कहा : 'जाकर कह दो कि पिप्पली राजा की है। मेरे पास वह आई है, वह मेरी है। उसे मुझसे अब दैव भी नही छीन सकता।'

सेवक चला गया। पता नही बाहर क्या हुआ। सुभद्रा ने कहा : 'मुझे जाने दो स्वामी ! वे मुझे देखकर शान्त हो जायेगे।'

'तुम बैठो सुभद्रे ! आज बातें करने दो मुझे। मैं तुम दोनों को अपनी कहानी सुना दूँ, वर्ना मेरा मन फट जायेगा। न्याय फिर हो जायेगा। भीड़ चली गई लगती है।'

वे दोनों मेरे पास बैठ गईं। मैं सुनाने लगा। क्या-क्या कहा। कब तक कहा ! पर वे रोने लगीं और मैं सुनाता रहा।

द्वार पर मेरा विश्वस्त भृत्य नील दिखाई पड़ा।

मैंने पूछा : 'क्या है नील ?'

'देव ! भीड़ चली गई। दण्ड प्रहार करना पड़ा। एक बूढ़ा और उसके पुत्र बहुत उत्तेजित थे। बूढ़े ने कहा : तुम्हारा राजा लोलुप भेड़िया है जिसने उसे स्त्री जानकर पकड़ लिया है। किन्तु हम शान्त नहीं रहेंगे। राजा है तो क्या वह प्रजा की बहू-बेटियों की लाज लूट लेगा ! ऐसे राजा को हम पापी कहते हैं।—देव ! वे हटा तो दिये गये, परन्तु उन्होंने हाट में जाकर पुकारा और नगर के संभ्रान्त व्यक्ति नीचे आये हैं। वे देव के दर्शन चाहते है।'

मैं उठ खड़ा हुआ। मैंने कहा : 'मंजरी ! पिप्पली को स्नान कराओ।'

नीचे गया तो नगर के गण्यमान्य खड़े थे। मैंने कहा : 'विराजिये।'

वे बैठ गये। तब ऊँचे आसन पर मैं भी बैठ गया।

'कहिये !' मैंने कहा : 'कैसे कष्ट किया ?'

क्षणभर वे बगलें झाँकते रहे फिर वयोवृद्ध श्रेष्ठि कंठाभरण ने कहा : 'आर्य ! प्रजा में आज विक्षोभ व्याप्त हुआ है ।'

मैंने कहा : 'कारण ?'

'आर्य ! वे कहते हैं कि किसी स्त्री का स्वयं आपने ही अपहरण किया है ।'

'मैंने ? नहीं । वह स्त्री स्वयं मेरे पास रहना चाहती है । कौन कहता है, मैंने उसे अपहृत किया है । वह स्वयं मेरे पास आई है ।'

वे एक दूसरे का मुंह देखने लगे ।

तब क्षत्रिय जयभास ने कहा : 'आर्य ! फिर भी क्या वह परस्त्री नहीं है ?'

'कौन कहता है वह परस्त्री है ? उसका कोई पति हो तो बुलाइये । आपसे किसने कहा ?'

वे बड़े चकित हुए । जयभास ने कहा : 'देखते क्या है आप लोग । उनका नेता वह बूढ़ा है जो दुहाई पर दुहाई दे रहा है, उसे बुलाइये !'

सेवक को इंगित हुआ । वह एक वृद्ध को लाया जो उत्तेजित था । उसने दूर ही से मुझे देखा और चिल्लाया : 'यही है तुम्हारा राजा ! इसीने अपने धन के मद में एक कुल-नारी का अपहरण किया है ? वह पतिव्रता थी । हमने देखा है कि वह किस तरह जीवित थी ।'

वह शायद और भी बहुत कुछ कहता, पर मैंने उसकी ओर पीठ मोड़कर उठकर कहा : 'क्या कहना है तुम्हें वृद्ध ! व्यर्थ कोलाहल मत करो । आओ मेरे साथ और देखो कि जिस स्त्री को तुम देवी बना रहे हो, वह इस समय कैसा शृंगार कर रही है ।'

वृद्ध अवाक् रह गया ।

मैं भीतर चला । तब श्रेष्ठि कंठाभरण ने कहा : 'जाओ ! जाओ !'

वे परस्पर तरह-तरह की बातें करने लगे । वृद्ध खोया-खोया-सा मेरे पीछे चलने लगा । जब हम भीतर के प्रकोष्ठ में पहुँचे मैंने मुड़कर कहा : 'आप बैठिये । वह आती है ।'

वृद्ध ने घृणा से मेरी ओर देखा भी नहीं ।

तब मैंने कहा : 'बैठ जाइये श्रेष्ठि धनसार !'

धनसार !! वृद्ध काँप उठा ! फिर देखा मुझे !!

'तू !'

'मैं ही हूँ पिता !'

'धनकुमार ! धन वत्स ! और ऐसा काम ! आज तू मुझे इस वैभव में मिला है पुत्र ! तुझे देखकर मेरे भाग्य धन्य हो गये ! मैंने जीवन में कुदाल चलाई, यह वेदना भी चली गई। तेरे भाई, भाभियाँ और माँ पेट के लिये दर-दर भटकते रहे यह दुख भी चला गया। तेरा भतीजा सूखी रोटियाँ खाता है, यह भी कुछ नहीं। पर कोई चरित्र-भ्रष्ट नहीं हुआ। और तू अधिकार और वैभव पाकर ऐसा हो गया। धिक्कार है तुझे। तू कुत्ता हो गया मेरे पुत्र ! क्या तू सचमुच मेरा ही पुत्र है ! अकस्मात् ऐसे वैभव में मिलने पर भी तू मुझे 'तू' क्यों नहीं दीखा। तू मुझे भिखारी ही मिलता तो लाज से मेरा सिर तो नहीं झुकता। ओ दैव ! तूने इसे भी एक कुदाली दी होती तो मेरा गौरव तो अपराजित रह जाता !'

तभी द्वार पर राजस वेश में सुभद्रा आई। उसने कहा: 'स्वागत पिता !'

पिता ने उसे देखा और विषाक्त फूत्कार किया : 'कुलटे ! बिक गई ! तू तो कहती थी कि तू अच्छे घर की है। अपने पति को खोज रही है और आज कहाँ है तेरा वह विरह, वह पीड़ा। भाई मर गया है इसकी सेना के हाथ, और तू इससे विलास करने को खड़ी है ! उपक न मरता और तू ही मर जाती तो स्त्री पर कलंक तो न लगता ! बस यही है तेरी पति की खोज का अन्त !'

'हाँ पिता !' सुभद्रा ने कहा : 'यही अन्त है। राजगृह के श्रेष्ठि गोभद्र की पुत्री सुभद्रा को अपना पति मिल गया। उपक मेरे पिता का अनुचर था।'

वृद्ध अवाक् रह गये। मैंने कहा : 'सुभद्रा ! श्रेष्ठि धनसार को प्रणाम करो। यह मेरे पिता है !'

'पिता !' सुभद्रा ने पाँवों पर सिर रख दिया और तब पिता ने आश्चर्य से देखा कि उनके पाँवों पर एक सिर और था—उनकी स्वामिनी—सौभाग्य-मंजरी का।

हर्षातिरेक से पिता वहीं बैठ गये और अपने दोनों हाथों से सिर पीटकर रोते हुए कहने लगे : 'हाय री जीभ ! गल जा, जिसने पुत्र और पुत्रवधू से ऐसे शब्द कहे। धनसार ! तूने दरिद्रता में भी अहंकार किया। ले ! यह उसका फल तुझे मिल गया।'

मैंने कहा : 'मंजरी ! पिता को स्नान कराओ। मैं वहीं जाता हूँ।'

मुझे लौटने में देर हो गई। नागरिक कुछ सशंक थे। मैंने अपने स्थान पर बैठकर कहा : 'उन्हें कोई विरोध नहीं है। वे तो प्रसन्न है। आप चाहें तो देख सकते हैं।'

उपस्थित समुदाय को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, जैसे क्या यह जादूगर है ? या बंदी कर देता है ले जाकर ? क्या बात क्या है ?

मैंने कहा : 'आप देखिये। कोई और तो उस स्त्री का रक्षक नहीं बनता !'

वे एक दूसरे को देखने लगे। जयभास ने कहा : 'देख डालो। देख डालो ! व्यर्थ हमारे राजा पर दोष लगाया !'

वह लज्जित था, सभी झेप रहे थे, पर सन्देह सबके मन में था।

सेवक लौटा तो दो युवक और एक वृद्धा साथ थी। उसकी गोद में एक बालक भी था।

मैंने किसीको बोलने का अवसर न देकर कहा : 'चले आओ इधर ! स्वयं देख लो कि जिस स्त्री और वृद्ध के तुम रक्षक बने हो, वे स्वयं इस बात को चाहते हैं कि वह स्त्री मेरे पास रहे।'

वृद्धा ने कहा : 'ओ तेरा नाश हो पापी ! ऐसा मत कह। यह न समझ कि तू राजा है तो हम डर जायेंगे।'

एक युवक चिल्लाया : 'धिक्कार है ! आप नगर के सम्भ्रांत पुरुष है। और चुप बैठे हैं।'

दूसरा युवक पुकार उठा : 'राजा वेन भी नहीं रहा, फिर यह क्या चीज है ?'

मैंने कड़ककर कहा : 'समय नष्ट न करो। इधर आओ।'

लोग बोले : 'आगे जाओ। पहले देखो तब बात करो।' वे कुछ घबराये-से बढ़ आये। भीतर के प्रकोष्ठ में ले जाकर मैंने पुकारा : 'मंजरी ! इन्हें भी ले जाओ।'

'स्वामिनी !' मंजरी को देखकर वे कह उठे।

मैं नहीं रुका। बाहर आ गया।

फिर अपनी जगह बैठकर मैंने कहा : 'आप नगर के गौरव हैं। आपका

और मेरा गौरव एक है। आप उनको बुलाकर पूछ सकते हैं। कोई असंतुष्ट नहीं है।'

भीड़ बाहर जमा थी। मैंने कोलाहल भी सुना। फिर कहा : 'और कुछ ?'

जयभाम ने कहा : 'किन्तु आर्य ! भीड़ तो अशात है।'

'आप शांत करिये। आप ही उसे लाये हैं।'

वे चक्कर में पड़ गये।

'देखिये', मैंने कहा : 'जो विरोधी थे, वे अब विरोधी नहीं रहे।'

'प्रमाण !' कण्ठाभरण ने कहा।

मैंने ताली बजाई।

नील आया। मैंने कहा : 'भीतर जाओ। और स्वामिनी से रेशम लेकर उसपर हमारे विरोधियों के हस्ताक्षर ले आओ कि वे हमारे विरोधी नहीं है। वह बालक छोड़ देना। वह हस्ताक्षर नहीं कर सकेगा।'

नील मुस्कराकर चला गया। और जब नील ने काष्ठ को खीचकर, डंडे सीधे करके, पत्र पर लेख दिखाया, उपस्थित जन उठ खड़े हुए। वृद्ध कण्ठाभरण ने कहा : 'इसे हमें दो नील ! बाहर दिखाना होगा।'

इसके बाद वे सब चले गये। मैं वही खड़ा रहा। सेवकों ने द्वार बंद कर दिये। सैनिक पहरा देने लगे। नील ने आकर कहा : 'प्रभु ! भीड़ छँट गई। पर तीन स्त्रियाँ और एक पुरुष रह गये। वे शायद इसकी शिकायत करने महाराज शतानीक के पास जायेंगे।'

मैंने कहा : 'नील ! अपराधी सैनिक रात में ही पकड़ लिये जाये। श्रमिकों की रक्षा को दूसरे सैनिक नियुक्त हों। घोषणा करा दो कि राज्य में अन्याय नहीं चलेगा। और देखो ! तुम स्वयं उन चारों पर आँख रखना !'

नील ने कहा : 'जो आज्ञा प्रभु !'

उसके चले जाने पर मैं धीरे-धीरे भीतर गया। मैंने भीत की जाली में से देखा। पिता एक पर्यक पर बैठे थे। माता नीचे कालीन पर बड़े भैया धनदत्त और छोटे भैया धनचन्द्राधिप के साथ बैठी थीं। बालक सुभद्रा की गोद में था और मंजरी उसके पास थी। वे सब स्नान करके स्वच्छ और बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए थे।

मैं प्रकोष्ठ में घुसने ही वाला था कि मेरे अत्यन्त विश्वस्त भृत्य माघ ने

इंगित किया। मैं रुक गया। उसने हाथ से मुझे बगल के प्रकोष्ठ में बुलाया।

मैंने पास जाकर कहा : 'क्या है माघ ?'

'राजा !' उसने कहा : 'तुरन्त चलें।'

'अभी मिलकर इनसे···

'विलम्ब घातक है। इसी क्षण चलें।'

मैंने कहा : 'बात क्या है ?'

'मार्ग में कहूँगा। अभयकुमार का विषय है।'

हम नीचे आ गये। माघ ने वहाँ खड़ी प्रतीहारी से कहा : 'देवी से कहना कि विशेष कार्य से स्वामी माघ के साथ गये हैं। अभी।'

यह कहते हुए उसने घोड़े की लगाम पकड़ ली। और हमने घोड़े बढ़ाये।

सिंहद्वार से निकलते ही मैंने कहा : 'किधर ?'

'दक्षिण वन की ओर !'

घोड़े दौड़ने लगे। हमारे लटकते खड्ग घोड़ों के दौड़ने से हिलकर उनका पीठों पर लगते और वे और वेग से भागते। हम इस तरह नगर के बाहर आ गये। तब माघ उतर गया और बोला : 'उतरिये स्वामी !'

मैं उतर पड़ा।

तब माघ ने कहा : 'स्वामी ! गजब हो गया।'

'वह क्या ?'

'प्रभु ! यहीं मिलने को कहा था राजहंस ने। परन्तु वह अब है नहीं।'

हम निश्चित नहीं कर सके। दूर एक घोड़ा तेज़ी से दौड़ता हुआ दीखा। वह इधर ही आ रहा था। हम पेड़ों की आड़ में हो गये। वहाँ आकर घोड़ा रुक गया और एक व्यक्ति ने गरगलाते भर्राये स्वर से पुकारा : 'माघ !'

'प्रभु ! राजहंस है।'

हमने देखा वह लहूलुहान था। मुझे देखकर उसने घोड़े का सहारा छोड़कर प्रणाम किया, किन्तु वह इसमें गिर गया।

माघ ने सँभाला। मैं बाँया घुटना टेककर झुक गया। राजहंस की आँखें मुँद गईं।

माघ ने पुकारा : 'राजहंस !'

राजहंस ने आँखें खोलीं। वह इतना घायल था कि बोल भी नहीं पा रहा

था। बड़ी मुश्किल से उसने कहा : 'अभय मुक्त·····हुए·····प्रद्योत के चर आ रहे हैं·····पकड़ लें·····उन्हें सीमा पर ही·····अन्यथा युद्ध·····वत्स की सेना भी उधर ही है·····

वह कुछ नहीं कह सका। सिर लुढक गया। मैंने खड्ग निकाल कर उसे अभिवादन किया। माघ ने भी। माघ उसे जलाने को चिता बनाने लगा। मैं सोचता हुआ बैठा रहा। और हमारे देखते-देखते राजहंस जैसा सोने का आदमी लहू से अपनी रोटी का मोल चुका कर चला गया।

तीन दिन बीत गये। हमने अवन्ति के गुप्तचर पकड़ लिये और उन्हें मिटा दिया। अवन्ति की जो सेना की टुकड़ी आ रही थी, वह अवश्य ही वत्स की सेना से टकराती। युद्ध का श्रीगणेश हो जाता। मैंने वैशाली का एक सार्थ देखा। तुरन्त चालाकी से ऐसा प्रबन्ध किया कि वह लूट लिया गया। और लुटेरों के रूप में अवन्ति के वे सैनिक घेर लिये गये। कमाल तो माघ का था, जिसने वैशाली के सार्थ का माल भी अवन्ति के सैनिकों के पास से बरामद किया। अभयकुमार छूट ही चुका था। मेरे सब काम हो चुके थे। वैशाली और अवन्ति में फूट पड़ चुकी थी। अवन्ति को वत्स से डर भी पैदा हो गया था। माता-पिता और भाई मिल ही चुके थे। केवल भाभियाँ और धनदेव रह गये थे।

मैंने कहा : 'माघ ! अब मुझे लौटना है।'

माघ ने कहा : 'हाँ देव ! आप जायें। मैं यहीं हूँ।'

'कोई बात हो तो मुझे तुरन्त सूचना भेजना।'

'मैं स्वयं आऊँगा।'

घर पहुँचा तो माँ रोई। दोनों भाई गले मिले। मैंने बालक को गोद में लेना चाहा तो वह नहीं आया। माँ ने कहा : 'अरे तेरा पितृव्य है !'

पर बालक ने दादी के आँचल में मुँह छिपा लिया। बाकी सबसे वह हिला हुआ था। पिता के चरण छुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया और बोले : 'पुत्र ! अब उन्हें तो बुला।'

मैं इसी फ़िक्र में बाहर आया तो नील ने कहा : 'मैं कल से राह देख रहा था प्रभु !'

'क्यों क्या हुआ ?'

'उस आदमी का नाम धनदेव है। बड़ा हठी है। महाराज शतानीक के यहाँ जाकर अड़ गया। उन स्त्रियों में से एक चिल्ला रही थी : अरे, उसने मेरे बच्चे को भी बन्दीगृह में डाल दिया है ? धिक्कार है ऐसे राज्य को ! हम कोई दास नहीं। हम नागरिक है। क्या गरीब जानकर तुम हमारी सुनवाई नहीं करते !— अन्त में प्रजा इकट्ठी हो गई और महाराज शतानीक तक बात पहुँची। मै भीतर नहीं जा पाया। जो सुना है उससे यही पता चला है कि वे आप पर बहुत क्रुद्ध हुए। और अपनी पुत्री पर भी।'

मैंने हँसकर कहा : 'वह तो मामूली बात है। सब ठीक हो जायेगा।'

बाहर से एक सेवक ने प्रवेश करके कहा : 'प्रभु ! महाराज शतानीक का पत्र लेकर एक घुड़सवार आया है।'

'ले आओ।' सुनकर वह चला गया। पत्रवाहक ने मुझे प्रणाम किया और पत्र दे दिया। कपड़े का पुलिंदा खोलकर मैंने पढ़ा। साराश यह था कि महाराज शतानीक राज्य मे इस अन्याय को देख बहुत विक्षुब्ध हुए है और वह भी अपने जामाता और पुत्री के हाथो। स्त्री को बालक लौटाया जाये और बन्दियों को छोड़ दिया जाये और उस व्यभिचारिणी स्त्री को, जिसके पीछे इतना काण्ड हुआ है, उचित दण्ड दिया जाये। और भी बाते थी कि ऐसी तो उन्हें आशा न थी इत्यादि। और यदि आज्ञा का, पारिवारिक सम्बन्धों का अनुचित लाभ उठाकर, तुरन्त उचित पालन नही किया गया तो महाराज शतानीक स्वयं ही, जामाता और पुत्री, दोनों को न केवल महाराज होने के नाते दण्ड देंगे, बल्कि ससुर और पिता होने के नाते भी। सब बन्दी साथ लेकर कोसांबी मे उपस्थित हुआ जाये !

मुझे कुछ बुरा भी लगा, परन्तु महाराज की कर्तव्यनिष्ठा, मुझ तक ही नहीं, पुत्री तक थी; इससे अपमान-सा नही लगा। मैंने कहा : 'उत्तर सध्या तक पहुँच जायेगा तुम जा सकते हो !'

पत्रवाहक प्रणाम करके चला गया। मैंने पत्र नील को दे दिया। उसने पढ़ा तो चेहरा सफ़ेद पड़ गया।

बोला : 'अब !'

'मै महाराज को समझा दूँगा।'

हम बातें समाप्त भी नही कर सके थे कि माघ बाहर घोड़े से उतरता

दिखलाई पड़ा। यह कैसे आया ! मैं सोचने लगा।

सेवकों से पूछता वह सीधा मेरे पास आ गया।

'इतनी जल्दी कैसे आ गया माघ !'

'प्रभु ! आफ़त आ रही है। महाराज शतानीक तक संवाद पहुँच गया है कि अवन्ति की सेना ने उनकी सीमा के पास वशाली का सार्थ लूटा। वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड देना चाहते है। मैंने सुना है अवन्ति की और भी सेना आ रही है। इस समय दण्ड से आहुति पड़ जायेगी और होगा युद्ध। और युद्ध होने पर पता चलेगा महाराज को कि वत्स से गुप्तचर गये थे अवन्ति मे। तब भण्डा फूट जायेगा।'

मैं गहरे सोच में पड़ गया।

आगे जो हुआ उसे मै भाग्य का ही खेल समझता हूँ, वह मेरा क्या था !

माघ को भेजा कि अवन्ति से आने वाली सेना की टुकड़ी का वह वत्स सैन्य द्वारा स्वागत कराये। इसके लिये सीमा के सेनानायक को अपनी मुद्रांकित आज्ञा दी। और नील के द्वारा महाराज का ध्यान इधर से बंटाने को उनसे कहलवाया कि जामाता धमकी मे नही डरते। वे न्याय पथ पर है। महाराज का क्रोध भड़केगा इसलिये जम्बूक को भेजकर चुपचाप राजपुरोहित से कहलवाया कि आप महाराज को रोकिये। यह जामाता का पारिवारिक मामला है। आप स्वयं जाँच करिये। जो हो, इस कोसाबी और धनपुर की सनसनी और हलचल में महाराज शतानीक को मैने कौशल से इतना समय ही नही मिलने दिया कि वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड दे पाते। सीमा पर अवन्ति की नई सेना का स्वागत हुआ। अवन्ति की सेना का नायक मेरे पास लाया गया। मैंने उसे ठहराया। मुझे वह पहचान गया। मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। वृद्ध राजपुरोहित ने महाराज शतानीक को रोक दिया। जाँच करने स्वयं आये। मैंने असली बात बताई। सबसे मिले और बोले : 'ठीक है। धनदेव को तो तंग करना उचित है। उसीने परिवार भर को रुलाया है, पर उन भाभियों ने क्या बिगाडा है·····

'यही तो मैं मरी जाती थी सोच-सोचकर'—माँ ने कहा।

राज पुरोहित बोले : 'तो जामाता ! मैं निमन्त्रण भिजवाता हूँ कोसांबी जाकर। सबको लेकर आना। वहाँ प्रासाद में तुम सब भीतर पहुँचो, तुम्हारी

भाभियाँ वहीं भेजी जायेंगी। धनदेव को तुम जानो। महाराज को मैं समझा दूंगा।'

संध्या के समय तक हम सब चल पड़े। दूसरे ही दिन कोसांबी की राजसभा में खचाखच भीड़ हो गई। मैंने ऐसे बहुमूल्य वस्त्र, और किरीट पहना कि आँखें चौंध जाती थीं। सभा में महाराज को प्रणाम किया और कहा : 'देव ! अपराध क्षमा हो। वादी को बुलवालें।'

आया धनदेव ! किरीट से लटकती मणिमालाओं ने मेरा मुँह कनपटी पर हँक-सा रखा था। धनदेव मुझे नहीं पहचान पाया। मैंने कहा : 'देव ! मेरा अपराध !'

धनदेव दूर खड़ा था कृत्रिम पर। बोला : 'न्याय दें महाराज ! यही वह व्यक्ति है जिसने मेरे पिता, माता, भाइयों और भतीजे को बंदी किया है क्योंकि वे उस स्त्री को छुड़ाने गये थे, जिसे इसने पकड़ लिया था और जो···

मैंने ऊँचे स्वर से कहा : 'तुम्हारी कौन थी वह स्त्री !'

धनदेव अचकचा गया। उसने कहा : 'वह हमारे साथ काम करती थी। वह दासी नहीं थी। यदि केवल रक्त सम्बन्ध की बात की जाये तो शायद धर्म और न्याय ही उठ जाये।'

मैंने कहा : 'महाराज ! यह झूठ बोलता है। इसके साथ और भी कोई है ?'

धनदेव ने कहा : 'मेरी भाभी हैं, पत्नी है और मेरे छोटे भाई की वधू हैं देव !'

मैंने कहा : 'बुलवायें देव ! और उन्हें अपने संरक्षण में भेजें। राजपुरोहित के हाथ मैंने अपना सारा परिवार दे दिया है। इस समय मैं स्वामी नहीं राजपुरोहित स्वामी हैं। आप परीक्षा लें महाराज ! यदि इस वादी के साथ की स्त्रियाँ मेरे परिवार को देखकर कह दें कि मैंने कहीं बल प्रयोग किया है या अनौचित्य, तो मैं प्राणदण्ड का प्रार्थी हूँ।'

महाराज शतानीक ने कहा : 'क्या कहते हो वत्स ?'

मैं कृत्रिम बनता गया। मैंने बिखरकर कहा : 'न्याय दें महाराज ! यह आदमी मुझे झगड़ालू लगता है। उन स्त्रियों को बुलवाइये।'

सीखे-सिखाये राजपुरोहित ने तीनों भाभियों को भीतर पहुँचा दिया। और कुछ ही देर में आकर कहा : 'देव ! उनमें सुभामा और अलका नामक स्त्रियाँ

तो बाकी सबसे मिलकर बड़ी प्रसन्न हुईं। एक सुमुखी है जो बड़ी प्रसन्न है, परन्तु बड़े सोच में पड़ी-सी रोती है, पर लज्जित-सी मुस्कराती है, और कहती है—जो हो ! मैं ठिकाने तो आ गई, परन्तु पति ही मेरे सब कुछ हैं। क्या करूँ ! किधर जाऊँ !'

'सुन लिया महाराज !' मैंने स्वर उठाकर कहा।

महाराज ने वादी से कहा : 'और कुछ कहना चाहते हो !'

धनदेव समझ नहीं सका। स्तब्ध खड़ा रहा। फिर उसने हाथ उठाकर कहा : 'देव ! आज मैंने सीखा कि जब तक मैं पाप में लगा रहा, तब तक मैं सुखी था। जब मैं स्त्री की मर्यादा, परिवार के लिये न्याय और नागरिक के आत्मसम्मान के लिये उठ खड़ा हुआ, मैं आज अकेला हूँ। मेरी स्त्री भी बिक गई लगती है। देव ! मैंने राज-जामाता पर झूठा दोष लगाया है। मुझे दण्ड मिलना चाहिये।'

वह घुटनों के बल बैठ गया और हाथ उसने आगे रख लिये घुटनों पर।

मैंने विक्षोभ और समर्पण देखा। भाग्य से समर्पण। धर्म पर विक्षोभ।

मैंने कहा : 'देव ! यह मेरा अपराधी है। मुझे दिया जाये।'

महाराज शतानीक कुछ भी नहीं समझे थे। बोले : 'वादी ! क्या यह ठीक है ?'

'ठीक है देव !' धनदेव ने अत्यन्त विरक्ति से कहा : 'मैंने जीवन में अपने एक भाई से अकारण ईर्ष्या करके उसके सुख को नष्ट किया था। मैंने पिता को वैभव से दारिद्र्य में ला पटका। माँ और भाभी मुझे समझाती रहीं। अन्त में मेरे कारण, मेरे अहंकार और मेरी मूर्खता के कारण वे मिट्टी खोदने पर विवश हुए। आज समय बदला है। वैभव ने सबको, मेरी स्त्री तक को खरीद लिया है। मैं इसी वैभव के लिये लालायित था ! आज मैंने देखा कि यह वैभव कितना भयानक है। देव ! मैं देव का अपराधी हूँ। देव आपका रूप ले या राज-जामाता का, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। जहाँ भी मृत्यु अधिक निर्मम हो, मुझे वहीं भेज दिया जाये।'

वह सिर झुकाकर चुप हो गया। मैंने कहा : 'देव ! अपराधी मेरा हुआ। अब मैं इसे दण्ड देता हूँ। इसे मैं कई दण्ड दूँगा, ऐसे कि यह बहुत दिन तक अपनी

वेदना में तड़पा करे। आर्य !' मैंने राजपुरोहित से कहा : 'बन्दी बुलवाये जायें।'

सभा चित्रलिखित-सी खड़ी थी।

बन्दी आ गये।

मैंने कहा : 'वह स्त्री आये जिसके पीछे झगड़ा है।'

बहुमूल्य वस्त्रों से सजी सुभद्रा आई। साथ में थी सौभाग्य मंजरी !

'स्वामिनी ! तुम भी !' धनदेव ने आश्चर्य से कहा और फिर सुभद्रा को देखकर मुंह फेर लिया अत्यन्त घृणा से।

मैंने कहा : 'शेष बन्दी भी लाये जायें।'

महाराज को नाटक-सा लग रहा था। सब आ गये। बालक ने धनदेव से कहा : 'पित्त !'

वह पितृव्य का तोतला रूप था। धनदेव ने बालक का स्वर सुनकर आँखों में आँसू भरे हुए देखा तो सब पर दृष्टि पड़ी; पिता पर भी, तब वह व्यंग से हँसकर बोला : 'श्रेष्ठि की जय ! आज आप मुझे कुछ उपदेश नहीं देंगे ?'

आज वह देगा !' कहकर पिता ने मेरी ओर उंगली उठाई। सुमुखी की हालत अजीब थी। डरी हुई कातर-सी अलग खड़ी रो रही थी।

मैंने कहा : 'मैं दूँगा धनदेव ! मैं दूँगा।'

यह कहते हुए मैंने कहा : 'महाराज ! वादी धनदेव का नाम आपने नहीं बताया, पर मैं जानता हूं। यह स्त्री जिसके पीछे झगड़ा हुआ है, राजगृह के श्रेष्ठि गोभद्र की दुहिता और श्रेष्ठि गालिभद्र की भगिनी है। यह मेरी पत्नी है। मैं इसे छोड़ आया था, इसकी परीक्षा लेने। तभी यहाँ मैं अज्ञात कुलगोत्र रहा। मेरे लिये ही इस पतिव्रता ने वह अपार वैभव छोड़कर मिट्टी खोदी।'

सबमें प्रशंसा का भाव दौड़ गया।

मैंने फिर कहा : 'यह सुभद्रा मेरी पत्नी है, धर्मपत्नी। जैसे है आपकी पुत्री सौभाग्य मंजरी। उस सुभद्रा को मिले हैं अपने श्वसुर धनसार श्रेष्ठि, सास, जेठ धनदत्त, जेठ धन चन्द्राधिप, भाभियाँ सुभामा, सुमुखी और अलका, एक भतीजा। फिर धनदेव को क्या आपत्ति है। आपत्ति है तो मुझे देखो, मुझसे बदला लो धनदेव ! आओ ! मैं खड़ा हूँ यहाँ !'

यह कह मैंने किरीट उतार दिया और तब मेरा मुख दिखाई दिया।

धनदेव चिल्लाया : 'धनकुमार !'

वह दौड़कर मेरी ओर बढ़ा। वह शायद मेरे पाँवों पर गिरना चाहता था, परन्तु मैने उसे वक्ष से लगा लिया। जब तक हम अलग न हुए महाराज शतानीक देखते रहे। फिर बोले : 'जामाता ! तुम तो बड़े छलिया हो। स्वागत है तुम्हारे परिवार का। आज हम तुमसे बहुत प्रसन्न है। माँगो।'

मैने झुककर कहा : 'देव ! जो माँगूगा मिलेगा ?'

'तुम्हें अदेय ही क्या है वत्स !'

'देव, मुझे वत्स की प्रजा का कल्याण दें। सभा भरी है। मुझे जीवन दें, मृत्यु नही।'

'हम समझे नही।' महाराज ने कहा।

मैंने कहा : 'देव ! महाराज तक खबर पहुंची है कि अवन्ति की सैन्य ने वैशाली का सार्थ लूटा है। देव ने इसीमे उस सैन्यगुल्म को पकड़ लिया है। देव ! अवन्ति और वत्स मित्र-देश है। यह झगड़ा अवन्ति और वैशाली का है। वत्स इसमें क्यों बोले ! सवाद मिला है कि अवन्ति ने वैशाली पर अकारण प्रहार नही किया। मगधराज बिबसार के पुत्र अभयकुमार अवन्तिराज के बन्दी थे। अभयकुमार की माता अंबपाली वैशाली की है। इसीलिये कहते है कि वैशाली ने अभयकुमार को छुड़ा लिया। इसीका दोनों में झगडा है। अब आप निर्णय दें।'

महाराज शतानीक ने क्षण भर सोचा और कहा : 'वैशाली और अवन्ति के संघर्ष से वत्स का कोई सरोकार नही। महाराज प्रद्योत हमारे मित्र है। और महाराज बिबसार भी हमारे मित्र है। अवन्ति सेना को सादर भेज दो।'

सभा समाप्त हो गई। महाराज ने मुझसे कहा : 'वत्स ! जब राजा स्वेच्छाचारी हो जाता है तब प्रजा में अनर्थ होते है। धर्म का पथ है न ? बडा कठोर है। मैंने जामाता और पुत्री के नाते से चुप रह जाना पाप समझा। एक समय था, जब राजा स्वेच्छाचारिता का अतिक्रमण कर गये। तब राज्य के कुलीन क्षत्रियों ने कहा : यह एक व्यक्ति का स्वेच्छाचार तो बहुत बुरा है। हम क्यों न सलाह कर के राज्य कर लें। तब उन्होंने संघ बनाया। आज वे ही गणराज्य है। यह आयुध-जीवी संघ नहीं हैं- वे तो केवल गणगोत्र हैं। यह है संथागार में आने वाले लोग। ऐसी ही वैशाली है। परन्तु होता क्या है वत्स ! अब वही गणराजा दासों को सताते है, उनमें बड़ा गर्व है। होने दो। तुमने

बुरा तो नहीं माना, हमारे व्यवहार से ? हमने अनुचित तो कुछ नहीं किया ?'

मैंने कहा : 'देव ! आप क्या कहते हैं ! आप मेरे पिता जैसे हैं । मैं आपसे पाँव पुजवाकर भी आपके चरणों की धूल हूँ ।'

यों धनदेव को लेकर मैं घर आ गया । उस आनन्द का क्या वर्णन करूँ ! बाप, बेटे, पति-पत्नी, सास-बहू, सौत-सौत, जिठानी-देवरानी, भाई-भाई, पुत्र सबके वर्णन करने बैठे तो कोई कवि न जाने कितने श्लोक बना डाले । किन्तु मुझमें वह सामर्थ्य कहाँ । अब मेरे संगीत में उल्लास फूट निकला । सुभद्रा ने कभी नहीं सुना था, सो चकित रह गई । बाकी सब जानते ही थे ।

आज सोचता हूँ कि उस समय क्या अभाव था ? मन तृप्त था । बल्कि मुझे अब राजगृह लौटने की जल्दी थी । वहाँ कुभुमश्री, सोमश्री थीं । मेरा पुत्र था । मेरी पुत्री थी । सोच ही रहा था कि बहाना मिल गया । सम्राट् बिंबसार का पत्र आया—चले आओ ।

मैं महाराज शतानीक के पास गया । निवेदन किया । वे बोले : 'तुम्हारा महाराज बिंबसार से क्या संबंध है ?'

'देव ! मै उनका जामाता हूँ ।'

'जमाता !' वे चौंककर बोले : 'तुम तो पहेलियाँ बुझा रहे हो जामाता !'

मैंने सुनाया । परन्तु यह नही कहा कि वत्स देश मैं क्यों आया था । केवल कहा : 'सुभद्रा की परीक्षा लेने चला था, परन्तु भाग्य को यही स्वीकार था, जो यहाँ हो गया ।'

महाराज हँसे । कहा : 'मेरा जामाता बड़ा खिलाड़ी है । इस नाते महाराज बिंबसार हमारे संबंधी हुए, बल्कि भाई । क्योंकि तुम्हारी पत्नियाँ तो बहनें हुईं न ? अच्छा । जाना चाहते हो अपने पुत्र और पुत्री को देखने ? तो अवश्य जाओ परन्तु धनपुर का क्या होगा ?'

मैने विनीत उत्तर दिया : 'देव ! मेरे पिता, भाई-भतीजा सब आपकी शरण हैं ।'

महाराज मान गये । मैंने पिता से कहा ।

वे बोले : 'धन वत्स ! अब मैं और तेरी माता तो चलें ।'

'कहाँ पिता ? अभी नहीं । अभी मैं नहीं जाने दूँगा ।'

पिता राजा हुए । राज्य के प्रबन्धक हुए मेरे भाई, उत्तराधिकारी हुआ भतीजा—धनराज ।

और मैं अपनी पत्नियों के साथ लौट चला। सौभाग्य मंजरी सुभद्रा को इतनी इज्जत से रखती कि मुझे देखकर आश्चर्य होता। सुभद्रा कहती : 'भगिनी ! तुम इतना काम मत करो। तुम्हारे भीतर एक प्राण और है।'

काम तो था ही क्या ? सेवक-सेविकाओं की क्या कमी थी ! मेरा कार्य पूरा हो ही चुका था। इस सुख की समृद्धि को देखकर मुझे डर लगने लगा। किन्तु यह आशंका मुझमें क्यों थी, यह मैं नहीं जानता था। अब मेरा यश फैला हुआ था।

जब हम लक्ष्मीपुर पहुँचे वहाँ का राजा जितारि मेरे स्वागत को सीमा पर मिला। किन्तु जब हम लक्ष्मीपुर से चले तब मेरे साथ दो की जगह छः पत्नियाँ थीं।

सुभद्रा कहती : 'पुरुष का यश भी बुरा। लोक ऐसा है कि जिसके अधिक पत्नियाँ नहीं, उसका गौरव कम माना जाता है। ऐसे में हम करें भी क्या ? यही अच्छा है कि मिलजुल कर रहें। गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवंती ! बस स्वामी अब नहीं। एक पक्ष मे चार पड़ेंगी ! और स्वामी ! अब और ठीक नहीं है।'

मैंने छेड़ा : 'और अपने भाई शालिभद्र की भी तो कहो जो मास में, प्रतिदिन एक के बाद भी, दो को फिर भी बाकी पाता है !'

'अरे स्वामी ! भाई है तो क्या, है तो तुम्हारी ही जाति का ? स्त्री का क्या है। स्त्री होती ही मूर्ख है ! मैं ही कौन कम हूँ ?'

वह हँसती और हम सब हँसते। सचमुच, कैसे अजीब थे यह विवाह !

कुछ भी नही। हम सब बैठे थे। राजा जितारि ने अपनी पुत्री गीतकला से गाने को कहा, केवल मनोरंजन के लिये। जितारि के मन्त्री शंकुक की पुत्री सरस्वती भी वहीं उपस्थित थी।

फिर जितारि ने मुझसे कहा : 'यह मेरी पुत्री है। यह है सरस्वती। दोनों एक प्राण दो देह हैं। सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि वह उसी व्यक्ति से विवाह करेगी जो इसकी सखी गीतकला का पति होगा।'

मैंने हँसकर कहा : 'बड़ी विचित्र प्रतिज्ञा है।'

'प्रतिज्ञा की न कहें आर्य्य ! बाल हठ का क्या ठिकाना ! हमारी गीतकला

ऐसा गाती है, ऐसा गाती है कि उसका-सा गाने वाला आज तक कोई नहीं हुआ।'

'शायद ऐसा ही हो !'

'हो नहीं आर्य ! स्त्री के विषय में तो गीतकला मान लेती है कि शायद ऐसा कोई स्त्री भले ही गा ले। परन्तु पुरुषों के विषय में तो यह कहती है कि ऐसा कोई गा ही नहीं सकता !'

मुझे कचोट हुई। कहा . 'राजन् ! आप भी ऐसा स्वीकार करते हैं ! जब मैं कोसांबी में यमुना-तीर पर था मैंने एक पुरुष का गाना सुना था। मैं आपसे क्या कहूँ ! वैसा मैंने शायद कभी सुना ही नहीं।'

'सुना ही नहीं।' राजा बोले : 'यही तो मेरे साथ दुख है। एक बार यदि मैं सुन लेता तो क्या गीतकला की बात सुन सकता था ! गतवर्ष उज्जयिनी में एक विराट उत्सव हुआ था। आप तो जानते हैं महाराज चण्ड प्रद्योत महासेन की पट्टमहिषी अंगारवती की एक ही कन्या थी—वासवदत्ता, जिसके कारण उनकी अन्य १६ रानियों को अपने-अपने पुत्र के विषय में राज्यसिंहासन की बड़ी आशा थी। उस आशा पर तुषारपात करके पट्टमहिषी ने एक पुत्र को जन्म दे दिया। पुत्र का नाम रखा गया—गोपालक। उसीके नामकरण संस्कार के दिन कोई एक गायक गया था वहाँ, जिसकी बड़ी भारी प्रशंसा हुई थी। वही गायक यहाँ भी आया था एक महीने पहले। परन्तु गीतकला ने योंही हरा दिया, योंही !'

राजा ने चुटकी बजाई।

मुझे कौतूहल हुआ।

'तब तो अवश्य ही सुनकर आभारी होऊँगा।' मैंने कहा।

गीतकला मुझे देख रही थी। सरस्वती ने चिकोटी काटी उसके हाथ पर, और राजकन्या चिहुँक उठी।

सरस्वती ने मुस्करा कर कहा : 'प्रतिज्ञा वैसे ही भंग मत कर सखी। गा तो सही।'

राजकन्या का मुख लाल हो गया, किन्तु सुभद्रा ने मुझे तीखी आँखों से देखा। मैं नहीं समझा।

गीतकला गाने लगी।

सचमुच उसका कण्ठ बहुत ही मीठा था। उससे वातावरण ऐसा हो गया

जैसे हम किसी बड़ी पवित्रता में निमज्जित हो गये थे। चाँदनी रात एक विशाल श्वेत कमल-सी खिली हुई थी। उसका संगीत एक भ्रमर की मधुर गुंजार-सा गूँजता चला गया।

जब उसका गीत थम गया। मैंने कहा : 'आर्य ! निस्संदेह आप धन्य हैं, आपकी पुत्री धन्य है, जो ऐसे स्वर्गिक संगीत को आपने पाया है। अहाहा ! जीवन एक बोझ है आर्य ! यदि मनुष्य के पास अपने आपको भुलाये रखने का साधन नहीं है। कवि होते हैं कुछ लोग ! वे क्या धन-वैभव की चिन्ता करते हैं ? सच्चा संगीतज्ञ कभी प्रतिस्पर्धा में नहीं लगता। राजकन्ये ! स्पर्धा की तृष्णा में मत लगी रहो। संगीत की साधना करो, अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिये। राज्य, धन, वैभव, मर्यादा, यश, यह सब है मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा जाने जाने वाले कार्य। इनको एक दूसरे की इच्छा होती है। इन सबको व्यक्ति अपने अहंकार को तुष्ट करने के लिये अपनाता है। किन्तु संगीतज्ञ, कवि, और चित्रकार अहं को तुष्ट नहीं करते, वे अहं को उदात्त करके व्यापक बनाते हैं। उन्हें गर्व नहीं होना चाहिये। संगीत में स्त्री-पुरुष का द्वन्द्व क्यों ?'

सुभद्रा ने मेरी ओर देखकर कहा : 'संगीत आपको बहुत प्रिय है न ? स्वामी ! राजकन्या का गीत सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। परन्तु स्वामी! आपने जो उस दिन गाया था न, वह मैं नहीं भूल पाती। इसलिये नहीं कहती कि आप मेरे स्वामी हैं। एक बार गाकर सुनाइये न ?'

'हाँ, हाँ, अवश्य !' जितारि ने वीणा मेरी ओर सरकाई।

मैंने संकोच से कहा : 'पर मैं प्रतिद्वन्द्विता नहीं चाहता राजन् ! मुझे कोई ऐसा अभ्यास नहीं है।'

सुभद्रा ने सौभाग्य मंजरी की ओर देखा, जिसने मुस्कराकर कहा : 'स्वामी! आप जीतने को बजायें, यह कौन कहता है ? यह तो मन बहलाने की बात है। हार-जीत की क्या बात है ! गाना क्या सब जानते हैं ? मुझे ही लीजिये ! सुनने को बहुत अच्छा लगता है, परन्तु कैसे गाते हैं, यह मैं इतनी शिक्षा के बाद भी सीख ही न सकी।'

मैंने उत्तर दिया : 'संगीत समझने की क्या आवश्यकता है देवी ! वह तो नाद की अनुभूति है। उसके लिये मन चाहिये।'

सरस्वती ने गीतकला की ओर देखकर मुझसे लड़खड़ाते स्वर में कहा : 'गायें आर्य ।'

गीतकला ने एक बार मेरी दोनों पत्नियों को देखा और फिर घुटनों पर हाथ टिकाकर उस पर मुख रखकर आँखें झुका लीं । जितारि राजा ने कहा : 'सरस्वती ! मृदंग तू ले ।'

अमात्य शंकुक ने रहस्यभरे नयनों से अपने राजा को देखा और कहा : 'राजन् ! सब कुछ दैव के हाथ है ।'

मै नहीं समझा । गीतकला चुप बैठी रही । सुभद्रा ने मुस्करा कर कहा : 'प्रारम्भ करे देव ! आपको मेरी सौगंध है, जो मन लगाकर न गाया । मैं राज-कन्या को पराजित करने को नहीं कहती । देखिये, उपवन में यह मृग और मृगियाँ विचरण कर रही हैं, इस कलधौत चन्द्रिका में सारी सृष्टि एक स्वप्न-लोक में डूबी हुई है । ऐसे में वह नाद छेड़िये कि यह मृग विभोर हो जायें । स्वामी ! आप ही तो कहते थे कि नाद में असीम शक्ति होती है । सौंदर्य जब अरूप हो जाता है तब वह नाद बन जाता है !'

वह रात । वह चाँदनी । मखमल के गद्दे । रेशमी बहुमूल्य वस्त्र ! कलाबत्तू पर पड़ती चाँदनी की चमक ! सुगंधियों से गमकता श्वेत पाषाण का स्निग्ध चबूतरा । सामने चाँदनी में कभी-कभी झूम जाते कुसुमों से लदे वृक्ष । कौन कहता है कि लोक में दुख है, दारिद्र्य है, रोग है । यह तो एक कल्पना की सृष्टि थी ! सम्मोहन ही इसका सौंदर्य था । प्रकोष्ठ के खुले द्वार में से, दक्षिण समुद्र और महोदधि (बंगाल की खाड़ी) की सीपियाँ दीवारों पर जड़ी हुई दीपालोक मे चमक रही थीं । और रत्नाकर (अरब सागर) की मणियों से दीपक का आधार जटित था ।

मैं गाने लगा । और गाते-गाते सब कुछ भूल गया । दुख में भी मैंने गाया था । गाया था अपने मनको बहलाने को, कभी दूसरों को सुनाने को नहीं । संगीत मेरे जीवन का ऐसा अकेला साथी था, जिसने मेरे जीवन के अवसाद में मुझे एक सार्थकता का संतोष दिखाया था । मैं कि धनकुमार, जो क्या था, और क्या हो गया था, इस परिस्थिति-चक्र में घूमते हुए, उत्थान और पतन में पड़े विकल प्राणी—का एक ही सौंदर्य था, वह था संगीत ! आज मेरे पास सौभाग्य मंजरी का स्नेह था समर्पणभरा, आज मेरे पास सुभद्रा का स्नेह था स्पर्धा-

भरा, आज मुझे पास से याद आ रही थी कुसुमश्री की वह तृप्ति कि स्वामी की सामर्थ्य अपार है, और मेरे भीतर तक गूँज रही थी सोमश्री की वह साँस—वह साँस जो एक दिन पुंस्कोकिल की अनावृत पुकार में भोर की कली की तरह काँप उठी थी। अब मुझे लग रहा था कि मैं दुखी नहीं था। साक्षात् आनन्द था। इतने दिन मैंने त्याग, वैभव से घृणा और प्रज्वलित वेदना में अपने दिन बिताये थे। वह मेरी भूल थी। भूल थी वह मेरी। मैं अब अच्छा हूँ। अब जब कि प्राप्ति का स्वामी हूँ। संघर्षों की उच्चावस्था ने मुझे विजय दी है। क्या मैं हार गया हूँ? मेरी हार वह कहाँ है? ओ मेरे संगीत! यह सब कुछ भी हो, है दुखद ही। और तब मैं उसमें डूब गया। डूब गया।

गीत जब रुका, जितारि चौके। शंकुक भी।

सुभद्रा ने कहा : 'अरे !'

सौभाग्य मंजरी हँस दी। हरिण स्तब्ध खड़े थे। अब वे भी हिल उठे। सरस्वती ने उठकर मुझे प्रणाम किया, घुटने मोड़कर, अपने माथे को अपनी अंजलि पर धरती पर टिकाकर, उस पर समर्पित करके। परन्तु गीतकला चुप बैठी रही।

जितारि ने कहा : 'दुहिते ! ओ मेरी राजदुलारी ! क्या हुआ तुझे ! तू तो सदा ही हँसती थी दूसरों को गाते देखकर ! क्या अब तू अपने निस्संतान पिता को छोड़ जायेगी हठीली !'

वह भर्राया स्वर; गीतकला की नींद टूट गई। आँखों में आँसू आ गये। कहा : 'पिता·····

फिर लाज से मुँह छिपा लिया।

मैंने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया।

सुभद्रा ने छेड़ा : 'राजकन्ये ! गीत रुचा !'

गीतकला ने उठकर सुभद्रा और सौभाग्य मंजरी के पाँव छुए और एक बार मेरी ओर कनखियों से देखकर खड़ी हो गई; फिर देखा पिता को, जो सरस्वती को देखकर हँस उठे। सरस्वती का मुख एकदम आरक्त हो उठा। और दोनों भीतर भाग गई।

सौभाग्य मंजरी ने मुस्कराकर कहा : 'स्वामी ! राजकन्या अप्रसन्न हो गईं क्या ?'

'होगी ही !' राजा ने कहा : 'आपके स्वामी ने क्या कम आपत्ति खड़ी की है ! किस पुत्री को अपने पिता से बिछुड़ते हुए दुख नहीं होता।'

'आह !' अमात्य ने लम्बी साँस खींची। मानो राजा ने उनके मुँह की बात छीन ली हो !

वह चाँदनी मुझमें भर गई थी। मैंने कहा : 'आज की रात कितनी सुहावनी है ! यह प्रकृति कितनी सुन्दर है ! सब कुछ कलह है, झूठा है। यह प्रासाद मुझे अच्छा लगा है राजन् !' और मैंने सुभद्रा से कहा : 'देवी ! क्यों न हम भी ऐसा ही एक स्थान एकांत में बनवायें और वहीं रहें। शांत ! न यश की तृष्णा, न वैभव का दासत्व।'

सुभद्रा ने कहा : 'ऐसा स्वप्न मैं न जाने कितनी बार देखती हूँ। मेरे भैया शालिभद्र कहा करते थे मुझसे : सुभद्रा ! मैं कहीं दूर चला जाना चाहता हूँ, जहाँ हम सब हों। शांति हो। न अहंकार हो, न घृणा।'

सौभाग्य मंजरी ने सहा : 'बहन ! ऐसी ही ज्योत्स्नामयी विभावरी में ब्रह्म अपने आनन्द को प्रगट करता है।'

सुभद्रा को जैसे तृप्ति नहीं हुई। कहा : 'जब वीतराग जिनेन्द्र का समवशरण होता है, तब इससे भी अच्छी रात होती है।'

दोनों ने एक दूसरी को आँखों में तोला। जीवन के दो दृष्टिकोण। परन्तु मैंने कहा : 'नहीं। सबसे परे हैं शांति। क्यों राजन् ! आप क्या सोचते हैं ?'

राजा जितारि अपने ध्यान में मग्न थे। अमात्य उठकर चले गये थे।

'राजकन्या कहाँ गई ?' सुभद्रा ने पूछा : 'उनके बिना तो सभा ही सूनी हो गई।'

'श्रेष्ठकुल की स्त्रियों से ऐसी ही आशा होती है।' राजा ने कहा : 'अब मेरी चिन्ता दूर हो गई। इस लोक में यह जो विवाह होता है यह पहले से दैव के हाथों निश्चित रहता है। अन्यथा अनजाने स्त्री-पुरुष क्यों मिलते हैं। और स्त्री ! कैसे वह अपने को समर्पित कर देती है ! उसके उल्लास में इतना बल होता है कि वह माता-पिता के बिछोह की वेदना को भी भूल जाती है। सचमुच कन्या पराया धन ही होती है।'

राजा का स्वर उच्छ्वसित हो उठा।

सुभद्रा ने प्रसन्न होकर कहा : 'राजन् ! आप मेरे पिता तुल्य हैं। आपने जो कहा वह प्रशंसनीय है। स्त्री की वेदना स्त्री ही जानती है। सच, विधाता ने स्त्री को विचित्र बनाया है। उसके नयनों में आँसू और अधरों पर मुस्कान देकर भाग्य उसे सदैव खेल खिलाता रहता है।'

मैंने सुभद्रा को इतना गम्भीर नहीं जाना था। प्रकोष्ठ में से निकली गीतकला, पीछे सरस्वती, पीछे अमात्य। दोनों के हाथों में सुन्दर मालाएँ—वरमाला।

आई। मंथर गति से। आँखों में आँसू ! होठों पर मुस्कान और मेरे गले में डाल दीं।

मैं अवाक् रह गया। सुभद्रा और सौभाग्य मंजरी भी।

'राजन् !' मैंने अचकचाकर कहा।

किन्तु वृद्ध जितारि ने मेरे हाथ पकड़कर कहा : 'आर्य ! यह मेरे जीवन की साधना का प्रश्न है। गीतकला की प्रतिज्ञा थी कि जो उसे संगीत में हरा देगा, वह उसकी ही पत्नी बनेगी, चाहे वह कैसा भी हो, क्योंकि कला ही उसकी जीवन की एकमात्र साधना है। और उसे कोई चाहना नहीं। और···

अमात्य ने कहा : 'यह मेरी सरस्वती की प्रतिज्ञा थी कि गीतकला सदैव उसकी स्वामिनी रहेगी, इसीलिये उसकी सेवा करने को वह भी उसीको पति मानेगी, जो गीतकला का पति होगा।'

मैंने कहा : 'किन्तु राजन् ! मेरे पत्नियाँ हैं, यही दो नहीं, दो और हैं···

जितारि हतप्रभ हो गये। मेरे हाथ छोड़कर सुभद्रा से हाथ जोड़कर कहा : 'देवी ! मेरी बेटी का जीवन नष्ट हो जायेगा !'

गीतकला और सरस्वती ने सिर झुका लिये। गीतकला ने कहा : 'जाने दें पिता ! मेरा स्वप्न पूर्ण हुआ। कष्ट न दें। सपत्नी का दुख कौन नहीं जानती, कौन चाहती है उसे ? पर मेरा विवाह हो गया। अब मुझे क्या आवश्यकता है। मैं और मेरी सखी, मृत्यु तक सुहागिन बन गई हैं ! आपके रोकने पर भी हमने हठ किया था न ? हठ तो दैव ने निभा दिया, परन्तु गुरुजन की आज्ञा उल्लंघन करने का जो दण्ड दिया है, वह भी हम ही झेलेंगी।'

सरस्वती ने कहा : 'सखी ! क्या हम दासी बनकर भी नहीं रह सकेंगी अपने वर के साथ ?'

मैं उत्तर नहीं दे पाया।

जितारि देखते रहे सुभद्रा को। सुभद्रा देखती रही। फिर उसने उठकर कहा : 'मैंने कहा था राजन् ! आप मेरे पिता तुल्य है ! कहा था न ? तब यह मेरी बहिनें हुई और भगिनी-पति तो पति सदृश ही होता है !'

सौभाग्य मंजरी अब आश्चर्य से बाहर निकली। कहा : 'स्वागत है ! आओ राजकन्ये ! आओ अमात्य कन्ये !' फिर हँसकर कहा : 'स्त्री का हृदय बहुत संकुचित होता है न ? इसीलिये उसे दैव इतना विशाल बनाने का उपदेश दिया करता है !'

यह भी कोई बात हुई। मैं जैसे कुछ था ही नहीं। एक राजकन्या ने प्रतिज्ञा की है, एक अमात्यकन्या ने ! कोई मुझसे कुछ पूछ रहा है कि मैं क्या सोच रहा हूँ ?

सौभाग्य मंजरी शायद मेरे भाव समझ गई। उसने गीतकला को अपने पास बिठाकर कहा : 'कैसी सुन्दर है !'

गीतकला झुकी बैठी रही।

और मैं ! वह चाँदनी जहाँ-कहाँ चली गई थी। अब मुझे वह आनन्द नहीं मिल रहा था। किन्तु क्या इस प्रकार मुझे इनका अपमान करना उचित है ? मेरी किंकर्तव्यविमूढावस्था को देखकर सुभद्रा ने मुझसे कहा : 'स्वामी ! संगीत आपका जीवन है, और हममें से कोई भी उसे आपको नहीं दे सकी। यह विवाह और स्त्री का प्रश्न नहीं। यह है नारी के गौरव का प्रश्न। आप तो गाते हैं और राजकाज में लगे रहते हैं। हमें भी कोई मनबहलाने को चाहिये न ?'

मैं नहीं समझ पाया कि यह व्यंग्य था, या सत्य।

सौभाग्य मंजरी ने कहा : 'स्त्री प्रेम देने को जन्म लेती है, और पुरुष पाने को। उसे देना ही क्या है जो आप डरते हैं।'

मुझे लगा कि मैं अब कुछ नहीं था। जितारि अपने हाथ जोड़े देख रहे थे। मैंने सबकी ओर देखा और हठात् न जाने मेरे भीतर से कौन हँसकर कह उठा : 'मैं धन्य हुआ राजन् ! मुझे स्वीकृत है।'

देखा कनखियों से सुभद्रा को, सौभाग्य मंजरी को। क्या वे सचमुच हर्षित

थी ? थीं, तो मैं मानता ही हूँ । नहीं हैं, तो अपने बोये को काटें । पुरुष हूँ मैं । मेरा क्या ? लोक यही करता है । और यह दो स्त्रियाँ ! इनसे मुझे प्रेम करना होगा अब ! कितना विचित्र था यह विचार ! किया ही तो है मैंने चार-चार से ! अब ही यह कैसी रुकावट है मुझमें ? तब मुझे लगा कि मैं एक पात्र था। जब तक खाली रहा तब तक उसे भरता रहा, भरता रहा । परन्तु स्रोत नहीं रुका । पात्र भर गया और तब रस बाहर फैलने लगा । भीतर भरा था, भीतर गीला था । अब बाहर गीला तो हो गया, परन्तु अब रस मुझमें रुक नहीं सकता था । उसका बहना ही अब अनिवार्य था ।

और विवाह हुआ । प्रजा ने मंगल गाया । सबने मेरी प्रशंसा की । सुभद्रा और सौभाग्य मंजरी भी हँसीं । मुझे दो नये तन मिले, किन्तु मैंने अनुभव किया कि उनमें भी प्राण थे। तब मुझे लगा कि मेरी तृष्णा अभी और थी, अभी और थी'' वह और क्या थी'''सुभद्रा और सौभाग्य मंजरी से कचोट, या अपनी स्ववृत्ति के अहं का प्रसार'''या नयी प्यास'' और नयी प्यास'' जो कहती थी कि यह सब कुछ नहीं है'''यह एक विराट खेल है'''

परन्तु वे नील नयन, वे गन्धित चिबुक, वे मांसल तन, वह वैभव'''अब मेरे बन्धन खुल गये ।

राजा जितारि के आग्रह से मुझे लक्ष्मीपुर में रुकना ही पड़ा । यों ही उपवन में घूमता हुआ सोच रहा था कि यह क्या हुआ ? क्या मैं वही धनकुमार हूँ जो एक दिन पुरपइठान को छोड़ आया था ! और अचानक मुझे पज्जा अम्मा की याद हो आई । वह क्या कहती मेरे इतने विवाहों को देखकर । मेरे पिता और भाइयों ने तो ऐसा नहीं किया। किन्तु उनके पास इतना वैभव भी कहाँ था ! तो क्या विवाह वैभव से होता है ? दरिद्र भी तो कई-कई विवाह करते हैं ! यह तो लोकधर्म है । जाने क्यों मुझे लगा कि मैं अपने आपसे झूठ कह रहा था । मेरा प्रेम कहाँ था ! वैभव आया था मेरे सामने और मैंने उसे ठुकरा दिया था । वह बार-बार ठुकराया हुआ भी मेरे पास लौट-लौट आया । किन्तु वैभव मुझसे बोलता नहीं था । मुझ पर शासन करना चाहता था । परन्तु स्त्री ! क्या वह भी निर्जीव है ! वह शासन नहीं करती, समर्पण करती है ! मेरा सिर फिर भारी हो गया ।

दूसरे दिन मैं राजा जितारि के साथ उनकी सभा में चला गया । आज

एक विचित्र मामला आया था। श्रावक पत्रामलक लक्ष्मीपुर का एक श्रेष्ठि था। उसके मरने पर उसके पुत्रों में सम्पत्ति के बँटवारे के पीछे झगड़ा हो गया। मरते समय पत्रामलक ने अपने चारों पुत्रों—राम, काम, श्याम और गुणधाम को बुलाकर मिले रहने की सलाह दी, और कहा कि यदि तुम मिलकर न रह सको तो इसी भवन के चारों भागों में रहने लगना। ऐसा ही बनवाया है मैंने यह भवन। मेरे प्रकोष्ठ के चारों कोनों में मैंने तुम्हारे हिस्से का धन अलग-अलग तुम्हारा नाम साथ लिखकर गाड़ रखा है। उसे निकालकर देख लेना।—यही उसका अन्तिम आदेश था। इसीसे चारों जब साथ नहीं रह सके तो अपने-अपने मकान के भाग में वे सरक गये और गड़ी हुई वसीयतें निकालीं। परन्तु झगड़ा वहीं प्रारम्भ हुआ। सबसे छोटे गुणधाम के हण्डे में रत्न, मणि, सुवर्ण आदि दो करोड़ की सम्पत्ति निकली। लेकिन राम के हण्डे में धूल-मिट्टी; काम के में पशु की हड्डियाँ और श्याम के में भूर्जपत्र और रेशम के टुकड़े निकले। यह देखकर तीनों ने सिर पीट लिया और न्याय के लिये दौड़े आये; क्योंकि वे चाहते थे कि गुणधाम का धन चारों भागों में बाँट दिया जाये, जिसे गुणधाम स्वीकार नहीं करता था। उनकी बहन लक्ष्मी की इस लड़ाई से विचित्र परिस्थिति थी। उसकी बात कोई भी नहीं सुनता था और रो-रोकर उसने आँखें सुजा ली थीं।

राजा जितारि ने जब सुन लिया तब लक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा : 'देव ! चारों कह चुके। यदि आज्ञा हो तो मैं भी कुछ निवेदन करूँ।'

राजा ने माथे पर बल डालकर कहा : 'कह दो पुत्री ! तू क्या कहती है।'

'महाराज ! इनके कलह से, व्यापार मे, खेत में, धन्धे में तो विप है ही, घर भी श्मशान हो गया है। मुझे इनसे मुक्ति दिलायें। माता-पिता हीना मैं एक दीन कन्या हूँ। मेरा अब कोई नहीं। यह लोग आपस में एक दूसरे का खून पीने को तैयार हो रहे हैं। देव ! मुझे प्रासाद में दासी रख लें !'

लक्ष्मी की यह बात सुनकर सबने उन भाइयों को धिक्कारा परन्तु मैने देखा कि वे अन्धे हो रहे थे। किसीने भी इस विषय का उत्तर नहीं दिया।

राम ने कहा : 'आर्य ! यदि पिता पक्षपात करे तो क्या राजा भी अन्याय करे ?'

राजा जितारि ने राज्य के धर्माधिकरण से न्यायाध्यक्ष को बुलवाकर पूछा।

ब्राह्मण ने सिर खुजाया और कहा : 'देव ! यह पैतृक सम्पत्ति नहीं, श्रावक पत्रामलक की अर्जित संपत्ति थी । पत्रामलक तो पहले फेरी लगाता था । भाग्य ने उसे करोड़पति बना दिया । अपना उत्तराधिकार उसने स्वयं लिखा है । इसमें कोई रास्ता नहीं है ।'

राजा जितारि ने ऊपर देखा, फिर नीचे, और तब कहा : 'अच्छा तुम लोग बाहर प्रतीक्षा करो । हम अभी विचार करते हैं ।'

वे चारों चले गये, पीछे-पीछे लक्ष्मी भी ।

मैंने कहा : 'राजन् ! तो मुझे आज्ञा हो ।'

'कहाँ वत्स !' राजा ने कहा : 'बैठो, बैठो, देखो ! कुछ देखते हो ?'

'क्या देव !'

'अब क्या किया जाये ! किन्तु मनुष्य चाहता है कि सब कुछ उसे ही मिल जाये ।'

'नही देव ! यह कार्य क्या कठिन है । जब पत्रामलक ने भवन के चार भाग बराबर के बनवाकर इन चारों को दिये हैं तब अवश्य उसने ऐसा अन्याय नहीं किया होगा !'

राजा जितारि ने चौंककर देखा और कहा : 'तो ?'

'आप मेरे सामने एक-एक कर बुलवाइये उन्हें । मैं पूछकर तो देखूँ ।'

राजा जितारि ने कहा : 'तो लो तुम ही सम्भालो !'

आया राम ! लंबी आँखें । मुख पर ईर्ष्या और घृणा ।

मैंने कहा : 'श्रेष्ठि राम ! गुणधाम की माता क्या तुम तीनों की माता से छोटी थीं !'

राम ने काटा : 'क्या कहते हैं आर्य ! हमारी एक ही माता थीं ।'

'अच्छा, जब तुम्हारे पिता का देहान्त हुआ था तब यह गुणधाम कितना बड़ा था ?'

'दो वर्ष पूर्व ? ऐसा था पन्द्रह का । यह तो खेलता था । काम तो हम तीनों करते थे ।'

'क्या काम देखते थे तुम ?'

'मैं खेती की देखभाल करता था । सारे खेतों की देखभाल मैं ही किया करता था । उसीका फल है कि मुझे पिता ने क्या दिया है ? धूल ! मिट्टी !'

मैंने पूछा : 'कितने खेत हैं तुम्हारे पास ?'

'आर्य ! मुझे क्या ऐसे याद हैं !'

'बता सकते हो कितनी भूमि है ? उनमें कितने किसान हैं ? वे तुम्हें क्या देते हैं ? राज्य को तुम कितना देते हो ? भूमि का मूल्य क्या है ?'

'देखकर बता सकूँगा आर्य !'

'तो जाओ देखकर आओ !'

इसी तरह श्याम से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह लेन-देन का हिसाब रखता था।

मैंने कहा : 'लेन-देन था। वह धन तुमने वसूल कर लिया ?'

'अभी तो नहीं आर्य !'

'होगा कितना ?'

'देखकर बता सकूँगा आर्य ! अभी जाकर देखता हूँ।'

अन्त में आया काम। हड्डियाँ देखकर उसके नथुने फड़कते रहते थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वही पत्रामलक के पशुधन की देखरेख करता था।

'क्या-क्या पशु हैं तुम्हारे पास !'

'आर्य्य ! यों तो गाय, भैंस हैं। पर वे भेंड़ें भी रखते थे, बकरियाँ भी हैं और भी अनेक पशु हैं। ऊँट भी रखते थे। श्रेष्ठि ऊन का भारी व्यापार करते थे।'

'कुल कितने का धन होगा !'

'आर्य ! देखकर बताऊँगा मैं।'

'जाओ। शीघ्र आना।'

जब वे चले गये, राजा जितारि उठे और द्वार पर पहुँच गये। द्वार पर बैठी लक्ष्मी ने उनके चरणों पर सिर रखकर कहा : 'देव ! मुझे दासी बना लीजिये।'

राजा जितारि की आँखों में आँसू आ गये। कहा : 'तू पत्रामलक की पुत्री है। पत्रामलक मुझे कंबल देने आता था। आज तू इन मूर्ख भाइयों के बीच निस्सहाय है ! करोड़ों का धन रखकर भी वे तुझे नहीं रख सकते ?'

मैं चला आया।

संध्या का समय हो गया। कामकंदला प्रतीहारी ने मुझसे कहा :

'आर्य ! महाराज ने स्मरण किया है।'

पहुँचकर देखा कि राजा जितारि सिहासन पर बैठे थे और तीनों भाई सामने खड़े थे।

मुझे देखा तो राजा ने कहा : 'मुझसे नहीं, उनसे कहो।'

और इससे पहले कि मैं समझूँ तीनों भाइयों ने मेरे चरणों पर शीश रख दिया। राजा जितारि ठठाकर हँसे और बोले : 'जामाता ! देखा तुमने ! मूर्ख ! इनका बाप फेरी लगाता था, करोड़पति हो गया अपनी बुद्धि से, परन्तु यह मूर्ख अब उस धन का नाश कर देंगे।'

मैंने कहा : 'आर्य हुआ क्या ?'

'होना क्या था। एक कहता है कि खेतों का मूल्य है कोई दो करोड़ का। दूसरा कहता है कि पशुधन भी कम नही है। तीसरा कहता है कि लेन-देन इतनी ही होगी ! मैं कहता हूँ कि पत्रामलक ने क्या बुराई की ? बराबर तो बाँट गया है।'

मैं भी हँस दिया।

मेरे फैसले की बात सब जगह फैल गई। दूसरे ही दिन देखता क्या हूँ कि श्रेष्ठि गुणरत्न लुटे हुए-से आकर मेरे सामने बैठ गये। वे राजा के पास आया-जाया करते थे।

'क्या हुआ ?' मैंने पूछा।

बताने लगे। पिंडोल नामक एक व्यक्ति ने उन्हें एक रात चोरों से बचाया पथ पर। प्राणों की रक्षा की। गुणरत्न ने उससे कहा कि जो इच्छा हो माँग ले। वह चुप रहा। गुणरत्न आवेश में बोल उठे : 'धर दे हाथ चाहे जिस पर मेरे भवन में, जिस पर भी पहले हास धरदेगा, वही तेरा होगा।' अब वह हाथ नहीं धरता किसी वस्तु पर। गुणरत्न को लगता है कि वह उनकी स्त्री या पुत्री गुणवंती पर हाथ रखना चाहता है। पिंडोल धूर्त है। कैसे करें, कैसे बचें। लड़की युवती हो गई है। सुन्दर है, विवाह योग्य है, पर क्या धूर्त को दे दें वे उसे ?

मैंने सुझाव दिया : 'भगा दीजिये धूर्त्त को।'

'किन्तु मैंने वचन दे दिया है। वचन के लिये तो बड़े-बड़े मिट गये। वचन

हार जाने पर मुझे नगर में पूछेगा ही कौन ? मै तो यों भी मिट्टी में मिल जाऊँगा !'

मैं जब श्रेष्ठि के साथ उनके घर पहुँचा तो भीड़ जमा थी। लोग पिंडोल को मना रहे थे और वह कह रहा था : 'मुझे तो वचन दिया है श्रेष्ठि ने ! जिस पर भी मैं चाहूँगा हाथ रखूँगा। आप लोग कौन हैं जो मैं आपके मन की वस्तु पर हाथ रख दूँ ?'

मैंने देखा श्रेष्ठिकन्या और पत्नी दुमंज़िले की खिड़की से डरी हुई-सी झाँक रही थीं।

मैंने कहा : 'पिंडोल ! यह धनरत्न कुछ नहीं चाहते ?'

पिंडोल ने बड़ी नम्रता से झुककर कहा : 'आर्य ! मेरी इच्छा है। श्रेष्ठि यदि कहते कि मेरे घर की किसी वस्तु पर हाथ रख दे वह तेरी होगी तो मैं वस्तु तक बद्ध रहता। पर ऐसा नहीं कहकर उन्होंने कहा : जिस पर मेरे भवन में हाथ पहले धर देगा, वही तेरा होगा। अब तो मेरी इच्छा है।'

मैंने समझ लिया कि धूर्त पक्का गुरू था।

'यही होगा।' मैंने कहा। धूर्त मेरी जय-जयकार करने लगा। भीड का मुँह उतर गया। मैं गुणरत्न को भीतर प्रांगण में ले गया और बोला : 'श्रेष्ठि ! काम हो गया।'

वे मुँह देखते रहे मेरा।

'देखो !' मैंने पूछा : 'नसैनी है ?'

'सीढी बांस की ? हाँ, यह धरी उधर !'

'इधर लगा दें चलो। तुरन्त ! सेवक नहीं, हम-तुम उठा लें।'

'आर्य आप ? रहने दें, मै उठाता हूँ।'

परन्तु श्रेष्ठि में इतना बल कहाँ था ? नसैनी खड़ी करवा के मैंने कहा : 'अब स्त्रियों से कह दें कि नीचे वाला द्वार बन्द कर लें। और सामने जो खिड़की है, ठीक नसैनी के ऊपर वहाँ खड़ी हो जायें।'

इतना काम शीघ्र हो गया। और मैंने भीड़ और पिंडोल को वहीं बुलाकर कहा : 'पिंडोल ! अपनी शर्त दुहरा दो।'

'आर्य !' पिंडोल ने स्त्रियों की तरफ़ देखकर बड़ी कुटिलता से मुस्कराकर कहा : 'श्रेष्ठि गुणरत्न ने कहा है कि मैं उनके भवन में जिस वस्तु पर भी पहले

ाथ धर दूँ वही मेरी है ।'

'बस !' मैंने कहा । 'धर दो ।'

धूर्त सीढ़ी की ओर गया । द्वार बन्द था । बोला : 'इसे खुलवाइये ।'

मैंने कहा : 'यह तो श्रेष्ठि ने नहीं कहा था । स्त्रियाँ मानती नहीं । क्या करें ! परन्तु श्रेष्ठि ने फिर भी नसैनी धरवा दी है कि कदाचित् तुम्हें ऊपर कुछ लेना हो ।'

पिंडोल हँसकर बोला : 'श्रेष्ठि बड़े अच्छे हैं । अभी धरता हूं हाथ । आर्य ! याद रहे । जिस पर भी मैं पहले हाथ धरूँ वही इस भवन में मेरी है ।'

भीड़ के गण्यमान्य क्रोध से देखते रहे । परन्तु वचन से वे कैसे हट जाते ! देने को कहकर न देना तो घोर पाप था ! शिवि ने तो अपना मांस काटकर दे दिया था !

पिंडोल बढ़ा । और नसैनी पर पाँव रखा, पर नसैनी पर बिना हाथ का सहारा लिये कोई नहीं चढ़ सकता । उसने ज्योंही हाथ से उसे पकड़ा, मैंने कहा : 'उतर आओ पिंडोल ! अपनी वस्तु ले जाओ ! श्रेष्ठि के जिस भवन में तुमने अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुओं के रहते हुए भी सबसे पहले इस नसैनी पर हाथ रखा है, तो लोभ की अति और सौजन्य का अनुचित लाभ उठाने की धूर्तता का फल देखो । नसैनी ले जा सकते हो !'

भीड़ ठठाकर हँसी । स्त्रियाँ तो ठठाकर हँसती ही चली गईं और पिंडोल नीचे उतरकर खिसियाना-सा चिल्लाने लगा : 'आर्य ! यह तो अन्याय है !'

परन्तु उसका चिल्लाना व्यर्थ गया । सबने उसका खूब मज़ाक ही नहीं उड़ाया; बल्कि उससे नसैनी उठवाई और पथ पर उसे ले गये, जिससे नगरवासी खूब हँसे और खुशी में सौ-पचास ने पिंडोल के चपतें भी लगाईं, जो बेचारे को सहनी पड़ीं । मैं घर आ गया ।

इस कथा को सुनकर सुभद्रा, सौभाग्य मंजरी, गीतकला, सरस्वती, राजा जितारि, अमात्य शंकुक कैसे-कैसे हँसे ! सारे नगर में ठहाके लगे । स्त्रियों ने गाने बना डाले । पिंडोल शाम को ही नगर छोड़ भागा ।

और इसका अन्त हुआ ऐसा कि पिंडोल की तरह मैं भी वह नगर छोड़ भागा । पता चला कि गण्यमान्य सज्जनों के साथ श्रेष्ठि गुणरत्न, सर्वश्रेष्ठि राम, काम, श्याम, गुणधाम आये और राजा जितारि के पाँवों पड़ गये । नगर की

स्त्रियाँ आकर मेरी पत्नियों के चरणों पर लोट गई। मैं मना करता रह गया, पर किसी ने नहीं सुना। गुणवन्ती और लक्ष्मी मुझसे ब्याह दी गई। बल्कि इस अनेक पत्नियों वाले पुरुष से यदि किसीका विवाह करने का विशेष आग्रह था तो इन दोनों का ही। पुरुष का क्या! रो-रोकर आँखें सुजा ली थीं दोनों ने। और मैने सोचा। विवाह क्या है? धनी के लिये खेल! स्त्री स्वयं क्या है? मूर्खा! उपकार का बदला है ऐसा समर्पण!! और मुझे लगा कि यह परिवार नही था। यह मान-मर्यादाओं का रखना-रखाना था। मैं क्या सचमुच किसीको चाहता था! और तब उठी एक आकृति। वह जो मेरे बराबर थी। सुभद्रा!!

एकान्त में मैंने पूछा: 'सुभद्रा! यह सौतें तुम्हें सुहाती हैं? मैं तो सच कहता हूँ, तुम्हें दूसरे पुरुष के प्रति आसक्त देखकर उसकी हत्या कर दूँगा।'

हँसी और कहा: 'झूठ कहते हो तुम! उपक को क्यों न मार दिया?'

'वह? मैं समझा था, तुम उसे चाहती हो। और जिसमें तुम सुखी हो वही मेरा सुख है, समझकर!'

वह मुझे देखती रही, देखती रही। फिर धीरे से बोलो: 'स्वामी! मैं भी तो तीसरी हूँ, फिर रोकने का मुझे क्या अधिकार है? पर कोई समर्पण करे तो क्या मुझे अपने स्वार्थ में रोकना उचित है? पुरुष का मन, कहते हैं, विभिन्नता चाहता है। यही पिता में देखा, यही भाई में। लोक के सारे समर्थ यही करते हैं। मैं नहीं जानती। किन्तु मेरा पुरुष मुझे नगण्य समझे, तिरस्कृत करे, यह मैं नही सह सकती। उसकी सारी निर्बलताओं को क्षमा कर सकती हूँ, दम्भ को नहीं। मैं उपेक्षिता बनकर रह सकती हूँ, परन्तु नारी के रूप में घृणित बनकर नही।'

सुभद्रा की बात सुनकर मुझे लगा कि यह स्त्री सचमुच बहुत गहरी थी। किन्तु परिवार ने मुझे बाँध लिया। मेरी सन्तान मेरे पास थी। बालिका वसुन्धरा और बालक शिरीष मुझे सब भुला देते थे।

आज सोचता हूँ। क्या था वह सब! परन्तु जब वैभव, स्त्रियों और राज-मर्यादा के मद में भूला हुआ मैं मगध में पहुँचा, उसी दिन द्युणिक, जो अब दर्शक कहलाता था, पिता हुआ था, पद्मावती का। प्रजा और राजकुल ने दुगना उत्सव मनाया। दानशूर मलयदास मुझसे गले मिला और उसने लोगों को भोज दिये। मित्रों के अट्टहास गूँजने लगे। कोलाहल में सब कुछ प्रतिध्वनित होने लगा।

मिली कुसुमश्री। बोली : 'समर्थ आ गये।' कहा सोमश्री ने : 'पिता ने भी अच्छा जामाता ढूँढा। मैं जानती थी कि आप क्यों गये हैं। मैंने कुसुमश्री से भी कह दिया था। हमें वह चिन्ता तो नहीं थी। परन्तु यह भीड़ लेकर आयेंगे, यह नहीं मालूम था। सुभद्रा कहती थी कि महीने में डेढ़ दिन हमारे लिये भी होगा। पर स्वामी ! हमने कह दिया कि तीसों दिन तुम्हीं रखो उन्हें। पटरानी तो सुभद्रा ही होगी। उसीने स्त्री की मर्यादा का निर्वाह किया है। मानती ही नहीं वह। कहती है : मैं कुसुमश्री का अधिकार क्यों छीनूँ ?'

'मानना होगा उसे।' कुसुमश्री ने कहा। 'सारा राजगृह उसका गौरव गा रहा है।'

राजहंसिनियों-सी यह स्त्रियाँ उस प्रासाद में ऐसी किलकारियाँ मारतीं एकान्त में, कि मैं विभोर हो उठता। सुभद्रा को उन्होंने पटरानी बनाकर ही छोड़ा। अब सुभद्रा बहुत विनम्र रहती।

किन्तु क्या सब इतना ही था ! राजगृह में हलचल मच रही थी। शास्ता बुद्ध के संघ में ऋणी और सैनिक प्रव्रज्या ले रहे थे। ऋणी प्रव्रज्या लेते ही ऋण से मुक्त हो जाते थे। सीम-प्रान्त पर निरन्तर युद्ध की-सी परिस्थिति के आवेश से तंग आकर सैनिक सब छोड़कर संघ में शामिल होते और वे स्वतन्त्र हो जाते। मैंने देखा। बुद्ध का संघ एक धर्ममात्र नहीं था। वह तो एक संसार, नये प्रकार के राज्य की व्यवस्था थी। जगह-जगह इसीकी चर्चा थी। इसी समय पता चला कि वेश्याएँ जाकर प्रव्रज्या लेने लगीं और कई जगह तो सौतों के चक्कर से परेशान घर-गिरस्तिनें भी जाकर प्रव्रज्या लेकर संघ की शरण में जाने लगीं।

सम्राट् बिंबसार ने मुझे बुलवाया। अपने ऊँचे सिंहासन पर बैठे थे। मुझे देखा तो कहा : 'आओ धनकुमार ! बैठो।'

मैं पास पड़े फलक पर बैठ गया जो स्फटिकों को जोड़कर बनाया गया था।

'तुमने सुना !' सम्राट् ने कहा : 'शास्ता के संघ ने क्या ऊधम मचा दिया है ? वेश्याएँ संघ में गईं। मैंने कहा, जाने दो ! गिरस्तिनें गईं, मैं चुप रहा। ऋणी गये, मैं नही बोला। परन्तु अब सैनिक जा रहे हैं।'

मैंने कहा : 'देव ! शास्ता सम्भवतः नये प्रकार का राज्य बना रहे हैं।'

'धूल बना रहे हैं। शास्ता धर्म प्रचार करें।' सम्राट् संयम खो बैठे :

'किन्तु राज्य संघ बनायेगा ! मैं सैनिकों को प्रव्रज्या देने वालों का सिर कटवा दूंगा। कोई खेल है ? शास्ता महान् हैं, मैं सिर झुकाता हूँ। वेश्या का पाप वे छुड़ाते हैं, छुड़ावें। स्त्री को प्रव्रज्या दें। मैं नहीं बोलता। लोक बोलेगा। ऋणी की बात वे जानें जो ऋण देते हैं, मैं नहीं देता। परन्तु राज्य कैसे टिकेगा यदि वेतनभोगी सैनिक ही सेना छोड़ देगा ? शास्ता धर्म के रक्षक हैं, तो मैं राज्य का रक्षक हूँ। यह नये प्रकार का राज्य है ? चण्डप्रद्योत यों ही निगल जायेगा। शास्ता गणक्षत्रिय है। वे गण के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पाते। वे बेचारे इन छलछन्दों को क्या जानें। म्लेच्छ, बर्बर, वन्यजातियाँ, गणराज्य, कोसल, वत्स, एक दिन में मगध को निगल जायेंगे और प्रद्योत और शतानीक काटकर फेंक देंगे इन भिक्षुओं को। राज्य बना रहे है। ऐसा राज्य जिसमें सब सिर मुँडाकर बैठे संयम करने रहेंगे। खाना कौन देगा इन्हें। हल चलाता है कोई ? हल की रक्षा कौन करेगा यदि सेना नहीं रहेगी ? सेना नहीं रहेगी तो लोक उलट जायेगा। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जाकर भिक्षु-संघ को रोक दो अपनी ओर से !'

अपनी ओर से ! मैं रोकूँ ! बुरा मैं बनूँ। सम्राट् फिर भी शास्ता के सामने भले बने रहना चाहते हैं। बाद में कह देंगे कि भन्ते ! मैं क्या करूँ। वह जैन नहीं माना। कहेंगे—लोक में सब तो हम-आप जैसी ऊँचाई पर नहीं पहुँचे हैं। न अभय को भेजा जा रहा है, न कुणिक को; क्योंकि शास्ता पर प्रतिबन्ध लगवाकर सम्राट इन दोनों को बदनामी से लदवाना नही चाहते, न प्रकारान्तर से ही सही, वे गणक्षत्रियों से वैर बाँधना चाहते हैं।

और सम्राट् ने कहा : 'समझे धनकुमार ! जिस प्रकार मेरी योजना पर चलकर तुमने अभयकुमार को मुक्त कराने में अच्छी तरह कार्य किया, वैसे ही करना होगा !'

तो वह सब भी सम्राट् की योजना थी ! मेरी नहीं ! धनहीन मुझे भेजा। मेरा राजहंस जैसा सेवक मर गया। दुनिया भर की उथल-पुथल हो गई। और वह कुछ नहीं !!

तभी सम्राट् ने फिर हँसकर कहा : 'जो वैभव मैंने तुम्हें अब दिया है, उससे भी अधिक पाओगे।'

मैं जड़ हो गया। मुझे लगा कि मैं एक कीड़ा था। 'न' करने का अर्थ क्या

था ! मृत्यु ! परिवार का विध्वंस ! स्त्रियों का वैधव्य या दासत्व या वेश्या-वृत्ति ! और मेरा शिरीष ! और मेरी वसुंधरा ! तब मुझे घृणा हुई। मैं तो एक दास था ! वैभव में विभोर, परन्तु था क्या मैं ! दास !!

बाहर से प्रतीहारी ने झुककर कहा : 'आर्य श्रेष्ठ ! दानशूर मलयदास मिलना चाहते हैं !'

'भेज दो !' सम्राट् ने कहा और मुझे देखकर बोले : 'यह आया है मलय-दास ! जानते हो क्यों ? अभी सुन लोगे। राज्य की आय है सीमित, इन श्रेष्ठियों की असीम। परन्तु किसके बल पर ? राजा के खड्ग पर, बल के आधार पर ! अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते हैं यह महावीर वर्द्धमान के स्वर में स्वर मिलाकर ! इनके वैभव का कुछ अनुमान कर सकते हो ! एक आया था कंबल वाला ! रानी मृगावती ने लेना चाहा एक। मूल्य पूछा तो वणिक् ने कहा : एक लाख मुद्रा। एक लाख ! रत्न, हीरक, और सुवर्ण के तारों से कढा कंबल, भीतर हिमालय के वन्य जन्तुओं की बालदार ऊन !—मैंने कहा : फिर ले लेंगे। —वह चला गया। रानी का मन छोटा हुआ तो मैने कंबल वाले को तलाश कराया। उससे पता चला तीन कंबल थे, तीनों तुम्हारी सास भद्रा ने खरीद लिये। मैंने एक मूल्य देकर देने को कहा तो बोली कि बहुओं ने पाँव पोंछकर काट-काटकर फेंक दिये। सुना तुमने ! कहती थीं : राजा को क्या अदेय है। पर लाचार है।—मैने कहा : ऐसा वैभव है मेरे राज्य में।—मैं राजा हूँ, और यह मुझसे धनी हैं ! मैं रक्षा करूँ और यह वैभव भोगें ! देखने गया उनके घर ! तुम्हारा साला शालिभद्र ! कल का लड़का। ऐसा मद हो गया उसे कि जब मैं पहुँचा तो शीघ्र मेरा स्वागत करने को उतरा भी नही। मैं तो वैभव देखना ही चाहता था। पहली मंजिल देखी, सब कुछ सुवर्ण था वहाँ। शालिभद्र फिर भी न उतरा, तब मैं दूसरी पर चढ़ गया। देखा सब कुछ मोती और हीरों का था वहाँ। शालिभद्र फिर भी नही उतरा। तब मैं तीसरी मंजिल पर चढ़ा और देखा कि रत्नों की वहाँ दियाली थी। और शालिभद्र तब भी नहीं आया। अन्त में मैं चौथी मंज़िल पर गया। तुम बहुत दिन बाहर रहे हो धनकुमार ! अभी शायद मिले नही शालिभद्र से !'

'देव ! वे सुभद्रा के प्रति अनजानते में किये अपराध के लिये अपनी माता के साथ मुझसे और सुभद्रा से क्षमा माँगने आये थे। अभी नहीं जा पाया हूँ।'

'किन्तु राज्य संघ बनायेगा ! मैं सैनिकों को प्रव्रज्या देने वालों का सिर कटवा दूंगा। कोई खेल है ? शास्ता महान् हैं, मैं सिर झुकाता हूँ। वेश्या का पाप वे छुड़ाते हैं, छुड़ावें। स्त्री को प्रव्रज्या दें। मैं नहीं बोलता। लोक बोलेगा। ऋणी की बात वे जानें जो ऋण देते है, मैं नहीं देता। परन्तु राज्य कैसे टिकेगा यदि वेतनभोगी सैनिक ही सेना छोड़ देगा ? शास्ता धर्म के रक्षक हैं, तो मैं राज्य का रक्षक हूँ। यह नये प्रकार का राज्य है ? चण्डप्रद्योत यों ही निगल जायेगा। शास्ता गणक्षत्रिय है। वे गण के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पाते। वे बेचारे इन छलछन्दों को क्या जानें। म्लेच्छ, बर्बर, वन्यजातियाँ, गणराज्य, कोसल, वत्स, एक दिन में मगध को निगल जायेंगे और प्रद्योत और शतानीक काटकर फेंक देंगे इन भिक्षुओं को। राज्य बना रहे है। ऐसा राज्य जिसमें सब सिर मुँडाकर बैठे संयम करते रहेंगे। खाना कौन देगा इन्हें। हल चलाता है कोई ? हल की रक्षा कौन करेगा यदि सेना नही रहेगी ? सेना नहीं रहेगी तो लोक उलट जायेगा। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जाकर भिक्षु-संघ को रोक दो अपनी ओर से !'

अपनी ओर से ! मैं रोकूँ ! बुरा मैं बनूँ। सम्राट् फिर भी शास्ता के सामने भले बने रहना चाहते हैं। बाद में कह देंगे कि भन्ते ! मैं क्या करूँ। वह जैन नहीं माना। कहेंगे—लोक में सब तो हम-आप जैसी ऊँचाई पर नहीं पहुँचे हैं। न अभय को भेजा जा रहा है, न कुणिक को; क्योंकि शास्ता पर प्रतिबन्ध लगवाकर सम्राट इन दोनों को बदनामी से लदवाना नहीं चाहते, न प्रकारान्तर से ही सही, वे गणक्षत्रियों से वैर बाँधना चाहते हैं।

और सम्राट् ने कहा : 'समझे धनकुमार ! जिस प्रकार मेरी योजना पर चलकर तुमने अभयकुमार को मुक्त कराने में अच्छी तरह कार्य किया, वैसे ही करना होगा !'

तो वह सब भी सम्राट् की योजना थी ! मेरी नहीं ! धनहीन मुझे भेजा। मेरा राजहंस जैसा सेवक मर गया। दुनिया भर की उथल-पुथल हो गई। और वह कुछ नहीं !!

तभी सम्राट् ने फिर हँसकर कहा : 'जो वैभव मैंने तुम्हें अब दिया है, उससे भी अधिक पाओगे।'

मैं जड़ हो गया। मुझे लगा कि मैं एक कीड़ा था। 'न' करने का अर्थ क्या

था ! मृत्यु ! परिवार का विध्वंस ! स्त्रियों का वैधव्य या दासत्व या वेश्या-वृत्ति ! और मेरा शिरीष ! और मेरी वसुंधरा ! तब मुझे घृणा हुई। मैं तो एक दास था ! वैभव में विभोर, परन्तु था क्या मैं ! दास !!

बाहर से प्रतीहारी ने झुककर कहा : 'आर्य श्रेष्ठ ! दानशूर मलयदास मिलना चाहते हैं !'

'भेज दो !' सम्राट् ने कहा और मुझे देखकर बोले : 'यह आया है मलय-दास ! जानते हो क्यों ? अभी सुन लोगे। राज्य की आय है सीमित, इन श्रेष्ठियों की असीम। परन्तु किसके बल पर ? राजा के खड्ग पर, बल के आधार पर ! अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते हैं यह महावीर वर्द्धमान के स्वर में स्वर मिलाकर ! इनके वैभव का कुछ अनुमान कर सकते हो ! एक आया था कंबल वाला ! रानी मृगावती ने लेना चाहा एक। मूल्य पूछा तो वणिक् ने कहा : एक लाख मुद्रा। एक लाख ! रत्न, हीरक, और सुवर्ण के तारों से कढा कंबल, भीतर हिमालय के वन्य जन्तुओं की बालदार ऊन !—मैंने कहा : फिर ले लेंगे। —वह चला गया। रानी का मन छोटा हुआ तो मैने कंबल वाले को तलाश कराया। उससे पता चला तीन कंबल थे, तीनों तुम्हारी सास भद्रा ने खरीद लिये। मैंने एक मूल्य देकर देने को कहा तो बोलीं कि बहुओं ने पाँव पोंछकर काट-काटकर फेंक दिये। सुना तुमने ! कहती थीं : राजा को क्या अदेय है। पर लाचार है।—मैने कहा : ऐसा वैभव है मेरे राज्य में।—मैं राजा हूँ, और यह मुझसे धनी हैं ! मैं रक्षा करूँ और यह वैभव भोगें ! देखने गया उनके घर ! तुम्हारा साला शालिभद्र ! कल का लड़का। ऐसा मद हो गया उसे कि जब मैं पहुँचा तो शीघ्र मेरा स्वागत करने को उतरा भी नही। मैं तो वैभव देखना ही चाहता था। पहली मंजिल देखी, सब कुछ सुवर्ण था वहाँ। शालिभद्र फिर भी न उतरा, तब मैं दूसरी पर चढ़ गया। देखा सब कुछ मोती और हीरों का था वहाँ। शालिभद्र फिर भी नही उतरा। तब मैं तीसरी मंजिल पर चढ़ा और देखा कि रत्नों की वहां दियाली थी। और शालिभद्र तब भी नहीं आया। अन्त में मैं चौथी मंज़िल पर गया। तुम बहुत दिन बाहर रहे हो धनकुमार ! अभी शायद मिले नही शालिभद्र से !'

'देव ! वे सुभद्रा के प्रति अनजानते में किये अपराध के लिये अपनी माता के साथ मुझसे और सुभद्रा से क्षमा माँगने आये थे। अभी नहीं जा पाया हूँ।'

'हाँ ! हाँ, उसका मुझे भी खेद है धनकुमार !' सम्राट् ने कहा : 'उस समय सुभद्रा के विषय में मैंने भी कुछ ऐसा ही कह दिया था। पर स्त्री पर विश्वास भी कैसे करे कोई ? कैसी विवशता है कि वह पुरुष की वासना को अच्छी लगती है। सच तो यह है कि महावीर और गौतम में यही पक्ष मुझे महान् लगता है कि वे स्त्री का त्याग कर चुके हैं।' सहसा बदलकर बोले : 'हाँ, तो चौथी मंजिल का वैभव देखकर मैं चमत्कृत रह गया। मुझे सब पता रहता है कि शालिभद्र अपनी माता के बहुत कहने से वहाँ मिला मुझे। कौन लाता है यह धन इन श्रेष्ठियों के पास। श्रेणिक बिंबसार की भुजा का पराक्रम ! और उस व्यापारी को इतना गर्व ! फिर भी तुम्हारे कारण मैंने कुछ नहीं कहा उससे। जानते हो क्यों ? क्यों कि वह तुम्हारा साला था।'

अब मुझे विश्वास हो गया कि सम्राट् के बारे में जो मुझसे शालिभद्र ने कहा था वह सत्य ही होगा कि वैश्य की बेटी का क्या ठीक ! वह रहता है दुकान में, सार्थ में। वैश्य की स्त्री के पुत्र होते हैं उसके दास के !

घृणा से लगा, मेरा हृदय भीतर ही भीतर गल जायेगा। ऐसे थे सम्राट् ! अपने स्वार्थ में यह आदमी कैसा निर्मम था। अपने को यह इतना ऊँचा समझता था ! तब शालिभद्र के लिये भय हुआ। वह इस व्यक्ति के चरणों पर ही तो था। क्या उसका वह वैभव व्यर्थ ही नही था !

दानशूर मलयदास ने द्वार पर ही प्रणाम किया।

'आयें महाश्रेष्ठि !' सम्राट् ने कहा : 'आसन ग्रहण करें।'

श्रेष्ठि बैठ गया।

'कहिये ! कैसे कष्ट किया श्रेष्ठि !'

'देव !' मलयदास ने कहा : 'राज्य में अब व्यवस्था नहीं रही। ऋणी ऋण लेकर जाते हैं, संघ में प्रव्रज्या ले लेते हैं। फिर उनका कुछ नही होता।'

'तो ?' सम्राट् ने कहा। अविचलित। कठोर।

'देव ! यह क्या उत्तर हुआ ?' मलयदास ने पूछा।

'मर्यादा के भीतर रहो श्रेष्ठि !' सम्राट् ने स्वर उठाकर कहा।

मलयदास बफरे हुए सिंह-सा हिला। वह था दानशूर ! परन्तु था वैश्य। पी गया।

'सम्राट् ! मर्यादा मलयदास जानता है। मर्यादा का अतिक्रमण हुआ है,

तभी तो आया है न्याय माँगने ।'

'न्याय !' सम्राट् ने कहा : 'यह लाभ, यह असीम वैभव है न ? इसीने अव्यवस्था फैलाई है । वैश्यों ने ऋणी को दास बनाया है ।'

'दास !' मलयदास ने शांति से कहा : 'देव ! वैश्य का दिया दासत्व धन देकर छूट जाता है, परन्तु क्षत्रिय का दिया दासत्व पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है ।'

'महाश्रेष्ठि !' सम्राट् झल्ला उठे : 'क्षत्रिय का जब पराक्रम था तब वैश्यों को संपत्ति रखने का भी अधिकार नहीं था । गाय पालते थे और सेवा करते थे वैश्य । न हो तो पूछो प्राचीन शास्त्रों के जानकारों से ।'

मैं अवाक् बैठा रहा ।

दानशूर की आँखें जलने-सी लगी । उसने कहा : 'सम्राट् ! राज्य वैश्यों की समृद्धि पर जीवित रहता है ! किनके सार्थों का कर राज्यकोष को भरता है ? क्या खेती से इतनी आय होती है ? किसके बल पर है यह राजा का वैभव ! कौन देता है संकट में राज्य को ऋण ?'

बिंबसार सहसा ही हँस उठा । अप्रत्याशित । दानशूर ने सिर झुका लिया मानो अपनी उत्तेजना के लिये लज्जित हो ।

'तो !' सम्राट् ने कहा : 'वैश्य लोगों को ऋण देकर उन्हें निचोड़ भी ले ? धर्म से डरो मलयदास । संग न ले जाओगे !'

'हाँ सम्राट् !' मलयदास ने हाथ जोड़कर कहा : 'राज्य और धन ! यह कोई संग नहीं ले जाता ।'

बिंबसार का मन जैसे तिलमिला उठा । परन्तु मैंने उसका असीम धैर्य देखा । उसने कहा : 'दानशूर मलयदास !'

'सम्राट् !'

'वैश्य व्यापार करता है । राजा रोक नहीं लगाते । वैश्य कर देता है, राजा उसके धन की रक्षा करते हैं । न्यायाधिकरण खुला है । परम्परा से जो हुआ शास्त्र में है, उसका अपने आप निर्णय होगा । मुझसे क्या निवेदन कर चाहते हो ?'

'देव ! भिक्षु पर दण्ड लगेगा ?'

'भिक्षु यदि हत्या करे तो क्या होगा श्रेष्ठि ?'

मलयदास सोच में पड़ गया । सम्राट् ने फिर कहा : 'संयम से अवरुद्ध भिक्षु

यदि किसी क्षण विभ्रांत होकर किसीसे बलत्कार कर दे तो क्या होगा श्रेष्ठि ! भिक्षु-संघ क्या आर्यावर्त में नया है ? क्या पहले से ही जिनमुनि नहीं होते आये हैं ? कुटीचक, बहूदक, यायावर आदि नहीं होते आये है ? उनके लिये क्या है नियम ?'

'देव ! वे व्यक्तिरूप में थे यह संघ है ।'

'संघ धर्म के लिये है कि वह एक राज्य में ही एक और दूसरा राज्य है ? शास्ता बुद्ध हैं कि सम्राट् ! वे तो सम्राटों का भी शासन करने वाले हैं न ?'

'देव ! मैं नहीं जानता वे क्या है ? राजपुत्र होकर गृहत्यागी हैं, यही मैं समझता हूँ कि उनकी महानता है । संघ में सब जातियाँ हैं, किन्तु शाक्यों का रक्तगर्व अविदित नहीं । सम्राट् का लिच्छवियों से सम्बन्ध है। क्षत्रिय लिच्छवियों का अहंकार कौन नहीं जानता ? मैं महावीर वर्द्धमान का भी अनुयायी नहीं हूँ । परन्तु इतना जानता हूँ कि सम्राट् स्वयं उनके मौसा लगते हैं । फिर भी वह तपस्वी दीन-दुखियों, कुम्हारों के साथ रहता है । महावीर धर्म की बात कहते नहीं थकता और वह भी मनुष्य के मार्ग का प्रदर्शक है, परन्तु उससे हमें क्या ? प्रश्न है कि राज्य का ऋणी को दण्डित करने का भाग क्या होगा ? मैं सम्राट् की आज्ञा चाहता हूं । क्योंकि राज्य के कर्मचारी, संघ में जाकर ऋणियों को नहीं पकड़ते । इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? श्रेष्ठियों पर कि सम्राट् पर ?'

'किसीकी स्त्री संघ में जाये तो उस स्त्री के लिये कौन लड़ेगा श्रेष्ठि ! सम्राट् कि पति ?'

'देव ! तो निवेदन कर दूँ कि सेना भी राज्य का त्याग कर रही है । बाढ़ एक तरफ़ नहीं ; हर तरफ़ आ रही है ।'

सम्राट् ने हँसकर कहा : 'सेना ! नहीं श्रेष्ठि ! ऐसा नहीं हो सकता । सेना को खूब मिलता है । अवश्य लूट नहीं मिली बहुत दिनों से । वह इसलिये कि मैं हिंसा नहीं चाहता । सेना ऋणियों की भाँति भूखी नहीं है ।'

'तो देव !' मलयदास ने झुककर कहा : 'ऋणी भी भूखा नहीं रहेगा । इतना ही काफ़ी है ।'

वह प्रणाम करके चला गया । सम्राट् उस ओर देखते रहे । फिर कहा :

'मलयदास को कितना गर्व है ! शायद यह भूल गया है कि इसके सार्थ मेरे भुजबल के आंतक से चलते हैं।'

और सम्राट् ने रहस्यभरे ढंग से सिर हिलाया और उठकर कहा : 'हाँ, धनकुमार ! यह कार्य शीघ्र हो जाये।'

अलिंद में आया तो मेरा मन अपमान, विक्षोभ और घृणा से व्याकुल हो रहा था ! यह कौन बोला था मुझसे ? सम्राट् ! किससे ? मुझसे ! धनकुमार से ! वह जिसने वैभव को ठुकराया ! जिसने जीवन को हथेली पर रखा ! आज मैं भृत्य हो गया ! हाँ, मैं अपने वैभव का दास हूँ । मैं दास हूँ । मैंने आदर्श नगर बसाया था ! वह नष्ट हो गया। परन्तु यह राजशक्ति इतनी कुटिल है, इतनी हृदयहीन ! यह सब मैं क्या सोचने लगा ? याद आया। कुसुमश्री, सोमश्री, सुभद्रा, सौभाग्य मंजरी, गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवन्ती और मेरी वसुधरा, मेरा शिरीष ! क्या होगा इनका। तब मेरे साथ कौन था ! जन्म दिया था जिस माता ने वह नहीं रोक सकी और रोक रही है यह स्त्रियाँ जो मेरे वैभव ने जीती हैं ? क्या मैं इनके कारण परतन्त्र हूँ ? एक-एक बात याद आती थी, एक-एक कील-सी हृदय में गाड़ जाती थी । तो क्या करूँ ?

मुझे सेना को रोकना होगा । पर कैसे ? सम्राट् का नाम भी नही आये, ऐसे !

मैं उपवन में घूमता रहा। वातायन से मुझे सुभद्रा ने देखा । मुझे गंभीर देखकर बोली नहीं । नील को देखा सामने धूप सेक रहा था, मौलसिरी के पेड़ के सामने बैठा। मैंने कहा : 'नील ! रथ बुलवा ।'

रथ में बैठकर मैं सीधा गया शास्ता के पास । वे उस समय बीच में बैठे थे एक ओर। सामने अनेक भिक्षु थे। अनेक श्रद्धावान् थे, स्त्रियाँ भी, पुरुष भी। मैंने प्रणाम किया । शास्ता गौतम बुद्ध ने मेरी ओर देखा । गंभीर, करुणा-भरे नयन। गौर वर्ण, उन्नत ललाट, सिर पर सिंघाड़े जैसे बाल । चीवर में से फूटता शरीर का गोरापन । सिंह के समान बैठे थे वे ।

'आवुस !' बुद्ध ने कहा : 'अच्छे हो ?'

मैंने कहा : 'भन्ते ! आप लोक कल्याण के लिये धर्म की दुंदुभी बजा रहे हैं, किन्तु मुझे आज्ञा दें तो मैं कुछ निवेदन करूँ।'

भिक्षु आनन्द, बुद्ध के भाई लगते थे, बोले : 'सम्राट् ने भेजा है ?'

'नहीं भन्ते,' मैंने कहा : 'मैं आया हूँ क्योंकि भिक्षु-संघ ने राज्य की यवस्था में कुछ व्याघात डाल दिया है ।'

बुद्ध ने मेरी ओर देखा । उस दृष्टि में अथाह गौरव था, पर थे निर्विकार ।

'आबुस कहो ।'

'भन्ते ! वेश्याएँ परम्परा और जन्म, कर्मफल और वासना के प्राधान्य से श्या बनती हैं । वे यदि मुक्त हों तो अवश्य व्यभिचार बढ़ेगा, शायद ऐसा न ी हो, परन्तु अवश्य ही फिर भी यह श्रेष्ठ ही होगा कि वे मुक्त हों । वैश्य चक्रब्याज से ऋणी को जन्मभर निचोड़ते हैं, ऋणी संघ में मुक्ति पा जाये, तो व्यापार को अवश्य धक्का लगेगा, फिर भी मुझे आपत्ति नही । पत्नियाँ प्रव्रज्या लें—सपत्नी दुख से विह्वल होकर, तो सम्भवतः पुरुषों में प्राचीन जिन-परम्परा लौट आये कि एक पुरुष के एक स्त्री हो ।'

जिन-परम्परा सुनकर आनन्द मुस्कराये । बुद्ध शांत रहे ।

'किन्तु भन्ते ! सेना भिक्षु-संघ में बिना स्वामी की आज्ञा के प्रवेश पा जाये, यह लोक की व्यवस्था को नष्ट कर देगा । जब तक सब ही संयम का पालन न करें, तब तक यह कैसे सम्भव हो सकेगा ? मगध न रहे न सही, परन्तु लिच्छवि, शाक्य, कोसल, विदेह, वत्स, अवन्ति, काशी तो रहेंगे और इनके पास सेना भी रहेगी । वन जातियाँ रहेंगी । अनार्य रहेंगे । सेना के बिना खेतों की, सार्थो की, स्त्रियों, नगरों, पशुओं की, डाकुओं और चोरों की व्यवस्था कौन करेगा ? भिक्षु-संघ व्यापार नहीं करता, खेती नही करता । भिक्षु-संघ कैसे रहेगा यदि सेना नही होगी ? मगध की सेना भी लूट चाहती है जैसे अन्य देशों की । हमारे सम्राट् अहिंसा का पालन करते हैं । बाहर के देश नहीं । ऐसे समय में यदि सैनिक भिक्षु-संघ में आ जायेंगे तो सब कुछ नष्ट हो जायेगा ।'

भिक्षु आनन्द ने कहा : 'आबुस ! शास्ता का धर्म प्राणिमात्र के लिये है । इसमें किसी प्रकार का भी भेद मनुष्य के सामने नहीं है ।'

'हाँ भन्ते !' मैंने कहा : 'जो सुना है कहता हूँ । जिस समय मेरी पत्नी सुभद्रा प्रव्रज्या लेने आई थी तब शास्ता ने स्वयं कहा था कि जो वे नहीं चाहते थे कि स्त्री को संघ में लिया जाये, उन्होंने महा प्रजापती गोतमी के कारण आज्ञा दे दी । मैं इस मगध के लिये शास्ता की करुणा चाहता हूँ । वे प्राणि-मात्र को लोक में जगायें, सद्धर्म की ज्योति जगायें । वे सैनिक को भी प्रव्रज्या

दें, परन्तु केवल इतनी आज्ञा दें कि सैनिक अपने स्वामी की अनुमति के बिना प्रव्रजित नहीं हो पाये। भन्ते ! यही प्रार्थना है।'

आनन्द ने बुद्ध से कहा : 'भन्ते ! आज्ञा !'

बुद्ध ने मेरी ओर देखा और धीरे से कहा : 'लोक में सब मनुष्य समान हैं आवुस। यह कहना अनुचित है कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और अधिकारा हैं।'

फिर मुड़कर कहा : 'भिक्षुओ ! मनुष्यों में कौन श्रेष्ठ है ?'

एक भिक्षु, जो शाक्य क्षत्रिय था, बोला : 'भन्ते ! मनुष्यों में श्रेष्ठ है क्षत्रिय।'

मैं मुस्करा दिया। बुद्ध ने कहा : 'नहीं भिक्षु ! कोई जाति श्रेष्ठ नहीं, मनुष्य का शील श्रेष्ठ है।'

भिक्षुओं ने सिर झुका लिया। फिर बुद्ध ने मुझसे कहा : 'आवुस ! सब मनुष्यों में शील श्रेष्ठ है। विनय श्रेष्ठ है। भिक्षु-संघ का निर्माण लोक में ज्ञान की ज्योति फैलाने के लिये है। इसीलिये बुद्ध, धर्म और संघ से ऊपर कोई नहीं। किन्तु भिक्षु-संघ भौतिक सुखों के लिये नहीं है। वह धनलिप्सा और राज्य-वैभव के ऊपर है। यहाँ कर्मो का क्षय है, कर्मो का जाल नहीं। दुख से छुटकारा पाया जाता है। भिक्षु-संघ उनके लिये है जो विनय को आचार का आधार मानते हैं। जिससे विनय भंग हो, वह भिक्षुसंघ के लिये नहीं। आनन्द ! आज से जो स्त्री अपने पति, पुत्र, पिता से, जो दास अपने स्वामी से, जो सैनिक अपने वेतनदाता से, जो ऋणी अपने ऋणदाता से सविनय आज्ञा लेकर स्वयं मुक्त होकर नहीं आता, उसे प्रव्रज्या मत दो।'

मैंने प्रणाम करके कहा : 'सद्धर्म्म की पताका फहरे ! संघ की उन्नति हो।'

मैं लौट पड़ा। सीधे सम्राट् के पास गया। कहा। सुनकर प्रसन्न हो उठे और कहा : 'वत्स ! शास्ता महान है। क्या कहते हो ? उत्तर वाले वन में यदि शास्ता के लिये, भिक्षु-संघ के लिये एक विशाल आराम (बाग़ और उसमें मकान) बनवा दिया जाये तो कैसा रहे ?'

मैंने झुककर कहा : 'देव ! मैंने आज्ञा का पालन कर दिया। अब आज्ञा हो।'

'इस समय विश्राम करो जामाता, कल फिर सन्ध्या समय मुझसे मिल लेना।'

'जो आज्ञा।' कहकर मैं प्रासाद की सीढियाँ उतरने लगा। इस समय

सम्राट् ने मुझसे जामाता कहा था। मुझे एक ग्लानि हो रही थी। मैं कितने दिन से अपने बारे में भ्रम में था !

अपने भवन पहुँचा तो द्वार से ही सुना भीतर हाहाकार मच रहा था। मुझे लगा मेरे हाथ-पाँव सुन्न पड़ गये थे। किसी प्रकार अपने को खींचते हुए भीतर पहुँचा और जो देखा, वह मेरे लिये शायद, सैनिकों, दासों, सपत्नियों, वेश्याओं और ऋणियों ने सौगात भेजी थी।

सुभद्रा रो रही थी। रो रही थी। कुसुमश्री छाती पीट-पीटकर, आशंकित खड़ी थी आँसू बहाती सोमश्री, गुणवंती पकड़े थी कुसुमश्री को अपने आँसू गिराती। और गीतकला, सरस्वती और लक्ष्मी रोती हुई कह रही थीं—'हाय रे विधाता! ओ निर्दयी···

परिचारक, सेवक, सेविकाएँ·· सब उदास, कोलाहल···मुझे देखकर सुभद्रा ने रोते हुए कहा : 'आओ स्वामी ! यह है तुम्हारी वसुंधरा ! कुछ नहीं बोलती। नहीं सुनती हमारी एक भी पुकार। तुम शायद, बुलाओ इसे, यह तुम्हारी आवाज़ सुनकर, उत्तर दे। स्वामी ! यह तुम्हारी बहुत लाडली थी न ? यह कभी तुम्हारे बुलाने पर घुटनो के बल चलकर तुम्हारे पास पहुँचने से नही रुकती थी···

हाय !···के मर्मभेदी स्वर से वे फिर रोने लगी। वसुधरा ! मेरी बच्ची मेरी फूल-सी बच्ची। दुधमुँही, तुतलाती बच्ची ! नीलम-सी आँखों वाली मेरे नयनों की दुलारी बिटिया ! इस समय सो रही थी।

कुसुमश्री ने भर्राये स्वर से कहा : 'धात्रेयिका को भेज दिया था मैने, स्वयं देख रही थी इसे। अचानक यह वातायन पर चढ़कर झाँकने लगी। मैं हँसती रही कि बिटिया खड़ी हो रही है, तभी एकदम पाँव उठ गये और नीचे जा गिरी। देखा जाकर। कहीं चोट नही। खून नहीं, पर बोलती नहीं। अरे मैं हूँ हत्यारी माँ ! मैंने अपनी बच्ची को मार डाला···

फिर हाहाकार !

और मैं देखता रहा। यह वसुंधरा ! चली गई ! कितनी देर लगती है मृत्यु को आकर आत्मा को ले जाने में। रोया नहीं मैं। देखता रहा। पास जाकर बच्ची को छुआ और उठाकर छाती से लगा लिया। किन्तु देह ठंडी हो गई थी।

क्यों मरी यह ! मैंने बच्ची को स्त्रियों के करुण क्रन्दन के बीच लिटा

दिया। और मन ने कहा : संतान का सुख-दुख पिता और माता के पाप-पुण्य से तो नहीं बँधा रहता। मृत्यु में आत्मा का आवागमन मात्र है। उससे जो दुख होता है वह पास रहने वालों को होता है।

तो वसुंधरा मर गई थी।

बच्ची को बहुमूल्य कपड़ों में लपेटकर सेवकों ने गाड़ दिया। मैं देखता रहा, अपने मित्रों और सम्बन्धियों के साथ। मेरे साले शालिभद्र के अतिरिक्त सब ही थे। वह क्यों नहीं आया ? समझ नहीं पाया मैं। शायद सचमुच ही उसे गर्व हो गया था ! किसका गर्व ! इसी वैभव का, जिसका अन्त इतना क्षणिक और आकस्मिक था ! श्रेष्ठि कुसुमपाल की आँखें बार-बार भर आती थीं।

और फिर हम बैठ गये। मित्र भोजन लाये। स्नान करके आये तो वे जबरन खिलाने लगे। कोई नहीं चाहता था, परन्तु उन्होंने कहा : 'खाओ, खाओ जीवन और मृत्यु में भेद है। यह दो अलग-अलग है। मरने वाला तो गया, लेकिन जीने वाले को जीना ही होगा। उसे जीने के लिये खाना भी होगा। अपनी-अपनी वेदना सब भोगते है। जिसका समय आ जाता है, वही जाता है। कोई किसीके बदले में नहीं जा सकता। जीवन और मृत्यु में सब अपना-अपना भोगते हैं। सब अलग-अलग हैं। यह सम्बन्ध, यह ममता इस पृथ्वी के हैं। आत्मा तो यात्री है। वह इनमें फँस जाती है तो मृत्यु के बाद भी संस्कार और स्मरण के कारण जीवन में किये पाप-पुण्यों को भोगती है।'

वे देर तक समझाते रहे। कुसुमश्री ने नहीं ही खाया। बाकी ने थोड़ा-बहुत चबाया। और कुसुमश्री के लिए सबने कहा : 'कुछ भी हो, माँ तो माँ ही है। उसके बराबर कौन होगा ?'

सुभद्रा ने कुसुमश्री को अपने सिर की कसम दी और सुलाकर उसके सिर पर हाथ फिराने लगी।

सोमश्री ने शिरीष को लाकर कुसुमश्री के पास लिटा दिया। कुसुमश्री ने देखा तो छाती से चिपकाकर उसे चूम लिया। और मैंने देखा। हर मौत को कम करने के लिये एक नये जीवन की आवश्यकता थी। शायद आदमी मौत को न झेल पाता, अगर नये जन्म ने उसे सहारा नहीं दिया होता।

मैं एकान्त प्रकोष्ठ में आ गया। अपने आप मेरे हाथों ने वीणा सँभाली और मैं जिनेन्द्र की स्तुति गाने लगा। वह गीत कितना हल्का था। कितनी बड़ी

सांत्वना थी मेरे भटके हुए हृदय को।

तभी द्वार पर कुसुश्री ने काँपते स्वर से कहा : 'वसु ! आपके पास है क्या ?'

वह सुपना देखती उठ आई थी। उसको न देखकर अब सुभद्रा भी आ गई। उसने कुसुमश्री को अपनी छाती से चिपका लिया और कहा : 'रो ले अभागिन ! रो ले ! तेरी बच्ची मर गई है !'

और वे दोनों रो पड़ीं। मेरा गीत थम गया। रात बीत गई। प्रभात ने उदासी से प्रवेश किया।

संवाद फैल गया। राज्य के महत्वपूर्ण लोग आने लगे अपनी व्यथा प्रगट करने।

मुझे नहीं मालूम वे क्या कहते थे। मैं केवल सुन रहा था। सुन रहा था। भवन में अगाध नीरवता छा रही थी। कभी-कभी कुसुमश्री का रुदन सुबक उठता था और सुभद्रा की लम्बी साँस उसका पीछा करती थी। आये सम्राट् बिंबसार। व्यथा में तृष्णा होती है, यह तभी मेरी समझ में आया। सम्राट् का आगमन मेरी वेदना की चरम सांत्वना थी, जैसे सबकी समझ में इसके बाद मेरी सफलता की कोई कोर अछूती नहीं रह गई थी। मध्याह्न हो गया। और फिर संध्या हो गई। मैं अपने चतुःशाल में बैठा था। नील ने चरणों के पास बैठकर कहा : 'आर्य ! आपके दुख के कारण नहीं कह सका। नगर मे श्रेष्ठियों में मध्याह्न के समय हलचल मच गई। आज मलयदास के घर में ऐसी चोरी हुई कि कहा नही जा सकता। वे तो यहाँ आये थे। उनका भवन तो नगर के किनारे है ही। चोर किसी तरह भीतर घुसे और उन्होंने स्त्रियों को बाँध डाला और सब ही ले गये। उनके पास तेज़ घोड़े थे। जब वे भाग रहे थे, मलयदास के सेवकों को पता चला। युद्ध भी हुआ, किन्तु कोई पकड़ा नहीं जा सका। दिन-दहाड़े और मलयदास का सब कुछ लुट जाना क्या मामूली बात है आर्य ? मलयदास का वैभव श्रेष्ठि शालिभद्र से भी अधिक है। मलयदास ने क्या किया, सम्राट् से मिले और क्या उत्तर पाया, कुछ नहीं जान सका हूँ मैं। परन्तु सम्राट् ने लुटे घर की रक्षा को सेना तैनात कर दी है और इधर अभी-अभी सुना कि मलयदास के तीन सार्थ, जिनके बल पर मलयदास ने नगर के श्रेष्ठियों से देना-पावना तय कर रखा था, वे नगर के बाहर वन-भाग में उजाले में ही लुट

गये । आर्य ! कितने आश्चर्य की बात हो गई । और ऐसी हृदयहीन है व्यापारी की जाति ! उस अवस्था में भी एक तरफ़ सहानुभूति जताते थे और दूसरी ओर उनका भाव था कि चलो अच्छा हुआ, बहुत बनता था । बड़ा गर्व था इसे ! भूल गया था कि दैव भी ऊपर है । धन के एकाधिकार में सबसे मनमाना लाभ लेकर दानशूर बनने का ढोंग करता था । आर्य ! संध्या तक तो मलयदास का टाट उलट गया । वह दिवालिया हो गया, क्योंकि माँगने वाले आ जुटे । जब उसने कहा कि उसके पास कुछ नहीं था तो बोले : अभी सम्पत्ति है, घर है, बाग़ हैं, दुकानें हैं···आर्य ! करोड़ों का देनदार है मलयदास । वह क्या करता । व्यापारी सम्राट् के पास गये । सम्राट् ने कहा कि क्षमा कर दो ।—व्यापारी बोले : कर देंगे आर्यश्रेष्ठ ! आप हमारा कर क्षमा कर दें ।—तो सम्राट् ने कहा : कर तो छोड़ दूँ, परन्तु मैं अपने लिये नहीं, राज्य के लिये लेता हूँ । राज्य कैसे चलेगा ?—आर्य ! यह सुनकर एक ने कहा : सम्राट् को बड़ी दया है, सम्राट् हैं, दृष्टि में वैभव है, फिर आप ही चुका दे । आखिर तो दिन में चोरी हो, यह सम्राट् का क्या कोई उत्तरदायित्व नहीं है कि व्यवस्था की देख-रेख हो ।—सम्राट् ने कहा : मेरे जामाता की पुत्री कल मर गई । यह भी मेरा उत्तरदायित्व है ? मैंने अकाल मृत्यु क्यों होने दी ? शास्त्रानुसार राज्य कहता है कि कोई झूठ न बोले । कोई झूठ बोलता है तो वह मेरा उत्तरदायित्व है ? चोरी मत करो । कोई करता है तो उसे मैं भरूँ ? मैं क्या हूँ ? मैं राजा हूँ । राज्य चोरियाँ भरे तो इतना कर भी प्रजा दे कि उसका कोष भरा रहे । चोर ढूंढे जायेंगे, दण्ड दिया जायेगा, यह मैं कर सकता हूँ ।—तब व्यापारियों ने कहा : सम्राट् ! फिर हम क्या करें ? हम तो मर जायेंगे ।—सम्राट् ने कहा : जब कोई दिवालिया होता है तो क्या होता है ?—वे बोले : देव ! उसकी सम्पत्ति को राज्य नीलाम कराता है और पहले ऋण चुकाये जाते हैं । परन्तु मलयदास आपके कृपापात्र हैं ।—सम्राट् ने कहा : यह न कहो श्रेष्ठिगण ! राजा का कार्य बड़ा कठोर होता है । उसे तो राज्य के लिये पुत्र का बलिदान देना पड़ता है । यदि तुम्हें विश्वास न हो, तो मैं अपने ही अभिन्न किसी राजकुल के व्यक्ति को यह काम सौंपूंगा जो बिना सहानुभूति के, तुम्हारा काम करने को, राज्य की मर्यादा उठाने को, मलयदास की सम्पति का ब्यौरा-न्यारा कर दे ।—यह सुनकर श्रेष्ठियों ने सम्राट् का जयजयकार किया ।'

'तो वह कौन व्यक्ति है सम्राट् का अभिन्न ?'

'पता नहीं आर्य ! सम्राट् का कोई विशेष कृपापात्र होगा।'

मैं सब सुन गया। श्रेष्ठियों ने मलयदास को काटा है। जैसे कहते हैं कि बर्फानी रात में भूखे भेड़िये किसी गुफा में बैठे रहते हैं। एक भी कोई सो गया तो सब उस पर टूट पड़ते हैं और खा जाते हैं। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं सोच सका। कौन लुटा ? कौन ले गया लूटकर ? कौन बरबाद हुआ ? किसने किसे बरबाद कर दिया ? राजा ने क्या किया ? मलयदास का क्या हुआ ? कुछ नहीं। कोई भाव नहीं जागा। सब सूना-सूना-सा था। अब अँधेरा घना हो गया है। अँधेरा भी दारुण होता है। सूनेपन की गहराई एक बहुत बड़ी शिला की तरह कठोर होती है।

सुभद्रा मेरे पास बैठी है। क्यों बैठी है ? यह मेरी कौन है ? लोग कहते हैं यह मेरी पत्नी है। क्योंकि मैं इसके साथ रातों को सोया हूँ। क्या किया था हमने साथ सोकर ? एक पशु-वृत्ति। उसमें आनन्द खोजा था। परन्तु वह एक आवेश ही था। वह स्थिर नहीं रहता। चढ़ता है, उतर जाता है। स्त्री कुछ न कर के भी आनन्द लेती है। स्त्री !! क्यों करती है वह सब, जब वह एक खिलौनामात्र है पुरुष का ! है, कहीं भूल हो गई है। कहाँ है वह भूल ! क्योंकि हम सो रहे हैं, हम उसे नहीं जान पाते। परिस्थितियों के हम दास हैं। रात बीत रही है। सुभद्रा शय्या पर सो गई है। पर मैं नहीं सोया हूँ। मैं क्यों जाग रहा हूँ ? क्या मैं जाग रहा हूँ ? मुझे कुछ भी तो दिखाई नहीं देता। अन्धेरा जो छा गया है। यह अन्धेरा कबतक छाया रहेगा ? जबतक सूर्य नहीं निकलेगा।

सूर्य कब निकलेगा ? जब उजाला होगा। मैं तबतक बैठा रहूँगा ? हाँ अब मैं बैठा हूँ। क्या इस समय सृष्टि चल रही है ? तब मैं ही कैसे स्थिर रह सकता हूँ। यानी मै भी चल रहा हूँ, लेकिन जान नहीं पाता।

सुभद्रा जागकर कहती है : 'अरे ! आप सोये नहीं ?'

हाँ वह ठीक कहती है। मैं नहीं सोया हूँ। कहता हूँ : 'जाग कर भी जो सो रहा हो, वह क्या कहला सकता है सुभद्रा !'

सुभद्रा देखती है। पर मैं नहीं जानता कि वह क्या देख रही है। नील आकर कहता है : 'आर्य ! यह सम्राट् का पत्र है।'

मैं उसे देखता हूँ। पढ़ता हूँ।

'''धनकुमार तुम मेरे विश्वस्त हो। मलयदास का नीलाम कराने जाओ·····

मैं जाऊँ ?

'''राज्य को धर्म का पालन करना है, निर्भय बनना होगा·····

नील पूछता है : 'आर्य क्या उत्तर दूँ।'

मैं कहता हूँ : 'उत्तर ? यह आज्ञा है नील। इसका पालन करना होगा, अन्यथा यह सब'''सब छिन जायेगा। हम इस सबके स्वामी नहीं'''इस सबके दास हैं'''यन्त्र हैं'''

सुभद्रा कहती है : 'स्वामी ! क्या कहते हैं ?'

नील अवाक् है। मैं हँसता हूँ। कहता हूँ : 'सत्य कठोर होता है सुभद्रे ! मैं जागने लगा हूँ।'

मैं उठ खड़ा हुआ हूँ। मैं नहा रहा हूँ। सुभद्रा मुझे नहला रही है। मैं कौन हूँ ? मैं वही हूँ जिसे लोग धनकुमार कहते हैं। तो यह धनकुमार और मैं एक ही हैं। मैं इस धनकुमार में बंदी हूँ। पर मैं देखता हूँ कि यह धनकुमार बड़ा प्यासा है, बड़ा लोभी है। बड़ा निष्ठुर है। हाँ, हाँ। धनकुमार हँसता है। कहता है : 'धनकुमार ही तेरा अस्तित्व है। अपने को मत छिपा।'

मैं कहता हूँ : 'मलयदास का नीलाम कराने जायेगा तू धनकुमार।'—धनकुमार कहता है : 'चल देख तो सही। डरता क्यों है ? आनी-जानी संपत्ति है तो मनुष्यों की, उस संपत्ति के नीचे हलचल तो देख।'

मैं चल पड़ा हूँ। मलयदास अपने बच्चों और पत्नी के साथ, अपने स्वामि-भक्त सेवकों से हीन, उस विशाल भवन के सामने खड़ा है। अब भी वह कठोर है। वह दानशूर है। मैं आसन पर बैठता हूँ। मैं मलयदास को देख रहा हूँ पर पहचान नहीं रहा हूँ। मेरे सामने बहुत-से श्रेष्ठि हैं। वे मुझे हाथ जोड़ते हैं, मैं उत्तर दे देता हूँ। कार्यस्थ सूची बना रहे हैं, मलयदास की संपत्ति की। माँगने आये है वे, जिन्हें लेना है। मैं देख रहा हूँ कि वे स्वामिभक्त सेवक थे मलयदास के, वे उधर वाले उसके गहरे मित्र थे। मलयदास मुझे देखता है। कहता है : 'धनकुमार ! इस काम के लिये एक तुम ही थे ?'

मैं देखना चाहता हूँ उसे पर देख नहीं पाता। श्रेष्ठि उस पर व्यंग कर रहे

हैं। किन्तु मलयदास कह रहा है: 'अरे मेरी मूँछों में अभी इतने बाल हैं कि आर्यावर्त को इन्हींके बदले ले सकता हूँ।'

उसकी स्त्री रो रही है। उसके बच्चे बिलख रहे हैं। एक-एक चीज़ से चिपट कर रोते हैं और राज कर्मचारी उन्हें हटा देते हैं।

बोलियाँ लग रही हैं। मैं सुन रहा हूँ। मलयदास हँस रहा है: 'अरे फिर यही मेरे मित्र बनेंगे। यही सेवक जो इस समय मुझ पर हँस रहे हैं, मेरे जूते उठायेंगे। इस दुनिया में सबसे बड़ा धन है। मैं उसे फिर कमाऊँगा।'

मैं केवल सुन रहा हूँ। वह मुझे देखकर कह रहा है: 'यह धनकुमार है। देखते हो इसे। आज मुझे नहीं पहचानता!'

वह कैसी कठोरता से हँस रहा है! क्या यह भी मनुष्य का हास्य है।

दिन बीत गया है। मलयदास भूखा है, स्त्री भूखी है, बच्चे भूखे हैं। आभूषण भी बिक गये हैं। कोई इसका साथी नहीं है, क्योंकि लोग जानते हैं कि सम्राट् उससे असंतुष्ट हैं।

मैं उठने लगा हूँ। कार्य हो चुका है। मलयदास राह का भिखारी हो गया है। मैं किसीको नहीं पहचानता।

मलयदास फिर हँसता है। कठोर है। कठोर।

एक व्यक्ति सामने आता है। उसका पुराना सेवक। विश्वस्त सेवक!!

'कौन? तू विधिदास!' सुनता हूँ मैं। कह रहा है मलयदास। फिर हँसता है: 'हाँ-हाँ, तेरा वेतन अभी रह गया है, पर इस समय मेरे पास नहीं है, तू मेरी स्त्री को ले जा सकता है···

विधिदास रोता है और पाँव पकड़कर कहता है उससे: 'स्वामी! पाप मत कराओ मुझसे। यह देह तुम्हारे अन्न से पली है। बहुत गरीब हूँ पर अपने को असहाय मत जानो। इन बच्चों की भूख नहीं देखी जाती मुझसे। इन्हें कहीं नौकरी करके खिलाऊँगा। मेरे घर चलो!'

मलयदास देखता है और फिर मैं सुनता हूँ वह कह रहा है: 'भूख! नौकरी! विधिदास! कोई नहीं था। पर तू है अभी···

'स्वामी! धन से ऊपर मनुष्य है। प्रेम बड़ा है, धन आना-जाना है। जो धन के बल पर आदमी को पहचानते हैं, वे धन के दास हैं···मैं विधि का दास हूँ···

'मनुष्य ऊपर है·····' मलयदास कहता है···वह हँसता है··· 'वे धन के दास हैं···' वह फिर हँसता है···यह कैसा विचित्र हास्य है···प्रतिध्वनित होता हुआ·····

मैं सुनता हूँ। कोई कहता है : 'मलयदास पागल हो गया···

मलयदास बाल नोचते हुए हँसता हुआ राजपथ पर भाग रहा है···पीछे विधिदास है···पत्नी हाहाकार कर रही है···बच्चे चिल्ला रहे हैं···श्रेष्ठि हँस रहे हैं·····

और मलयदास चिल्लाता जा रहा है···'मनुष्य धन से ऊपर है···

उसकी आवाज़ गूँज रही है···लोग पुकार रहे हैं···बलिहारी है समय की ···दानशूर भिखारी हो गया···पागल हो गया···

और मलयदास अब अट्टहास कर रहा है···हा-हा-हा-हा···

मैं घोड़े पर चल पड़ा हूँ···

पूछता है मुझसे धनकुमार : 'यह किसने किया ?'

मैं कहता हूँ : 'यह उसीने किया जिसने बियाबान जंगल में तुझे मुर्दे की जाँघ से निकालकर बहुमूल्य रत्न दिये थे।'

धनकुमार कहता है : 'देख सूर्य डूब चुका है। याद है यह कौन-सी जगह आ गया है तू ?'

मैं देखता हूँ। कहता हूँ···हाँ। यहीं मिला था एक आदमी मुझे, जिसने कहा था : मेरे पाप को पुण्य बना देना···

'और तूने बना दिया वह ?'

'क्यों नही ?'

'झूठे ! पाप से पाप जन्म लेगा कि पुण्य ?'

मैं उत्तर नही पाता। अन्धेरा छा गया है। शाश्वत अन्धेरा। यह कौन कराह रहा है···यह कैसी करुण आवाज़ है···

अच्छा तो यात्री ! उस दिन से तू अब तक तड़प रहा है, क्योंकि धनकुमार तेरे पाप को पुण्य नही बना सका। तू कब तक इसी तरह तड़पता रहेगा अपरिचित ! धनकुमार ! उस कराह को सुनकर तू डरता क्यों है ?

नहीं ! नहीं। यहाँ अवश्य कोई मर रहा है।

मरने वाला तो मर चुका। अब वह कहाँ है !

नहीं मूर्ख ! वह ! वह कोई मनुष्य ही तो है···छटपटा रहा है···

मैं देख रहा हूँ। धनकुमार उठकर उस मनुष्य के पास चला गया है और चिल्लाता है :

'पिता ! मेरे पिता !'

मैं मुस्कराता हूँ : 'इसके पिता यहाँ !'

वह व्यक्ति जो तड़प रहा था, एक धुँधली दृष्टि से देखकर धनकुमार को गले लगाकर रोने लगता है। धनकुमार उच्छ्वसित-सा पूछता है : 'पिता ! यह क्या हुआ ?'

वृद्ध कहता है : 'पुत्र ! धनदेव ने सर्वनाश कर दिया। उसने अधिकार नहीं देखा था। घोर अत्याचार करने लगा। धनदत्त भी वह गया। एक दिन उन्होंने किसीकी स्त्री से बलात्कार कर दिया। स्त्री क्षत्रिय थी। क्षत्रियों की भीड़ ने आक्रमण किया। पुत्र ! तेरी भाभियों को उन्होंने बलात्कार कर के मार डाला। तेरे भतीजे और माँ को मार डाला। मैं जब धनपुर लौटा, मैं बाहर था खेतों में, तो देखा घर जला पड़ा था। लोग क्रुद्ध थे। मैं कोसांबी गया। महाराज शतानीक ने तीनों भाइयों को प्राणदंड दे दिया। प्रजा ने मुझे भी मारना चाहा। परन्तु मैं भागा, रत्नों को समेटकर, तेरे पास···परन्तु मार्ग में डाकुओं ने मुझसे छीन लिया ··घायल कर गये··· मैं चल नहीं सका···तीन दिन से तड़प रहा हूँ ··नहीं जानता···प्राण क्यों नहीं निकलते·····

वृद्ध कराह रहा है।

धनकुमार कहता है : 'मैं जानता हूँ यहाँ एक सरोवर है। अभी लाता हूँ जल।'

मैं कहता हूँ : 'अब मत जा धनकुमार ! अब देर नहीं है···दीपक बुझने ही वाला है···

नहीं···नही···कहता है धनकुमार···अन्तिम साँस तक लड़ूँगा···

जब धनकुमार लौटता है। देखता है एक शव पड़ा है और सामने से एक गीदड़ आ रहा है···

धनकुमार क्रोध से गीदड़ को मारता है। पर वह भागकर छिप जाता है। धनकुमार बैठ गया है।

मैं कहता हूँ : 'धनकुमार, तेरा वह मर गया, जिसने तुझे पाला था।'

'हाँ', धनकुमार कहता है : 'यह मनुष्य मेरा पिता था।'

'चलो नगर ले चलकर दाहकर्म करो इसका।'

'नहीं, नहीं', धनकुमार कहता है : 'वहाँ मत चलो। वहाँ सब इस भिखारी को देखकर हँसेंगे। वहाँ जब कोसांबी मे परिवार के विनाश की बात फैलेगी, सम्राट् बिंबसार और अधिक ऐंठ जायेगा।'

'तो फिर ?'

धनकुमार चिता बना रहा है। धनकुमार उस शव को उठा रहा है, जिसे वह पिता कहता था और आग लगाता है। अँधेरे जंगल में वह चिता दूर से ऐसी लगती होगी जैसे एक दीपशिखा।

धनकुमार निस्तब्ध बैठा है।

मै कहता हूँ : 'धनकुमार ! आज तुझे आवेश क्यों नहीं आता ? पहले तुझमें ममता का रुदन घुमड़ता था, अब क्यों नही घुमड़ता ? पहले तू याद करता कि यह है मेरा पिता, वह जिसने यों किया, यों किया, यों सुख पाया, यों दुख पाया, पर अब वह सब तुझे कुछ लगता ही नही !'

'हाँ', अब धनकुमार कहता है, 'वह लगना झूठ था। भला कौन कह सकता था कि मेरे पिता का यह अन्त होता ?'

चिता बुझ चली है।

मैं कहता हूँ : 'धनकुमार ! शतानिक का अग्निहोत्र सदैव जलता था। वह कहता था कि जब कुरुकुल हस्तिनापुर को छोड़कर कोसांबी आया था, तब भी वह उसी पवित्र अग्नि को ले आया था जो ययाति ने सुलगाई थी। दुष्यन्त, भरत, भीष्म, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर'''जाने किस-किसने उसीको प्रज्वलित किया था'''तुझे याद है कि अग्नि में सब भस्म हो जाता है ?'

धनकुमार कहता है : 'लेकिन अग्नि मे मनुष्य का मन नहीं जलता। आत्मा नही जलती, पाप और पुण्य नहीं जलता।'

मैं कहता हूँ : 'धनकुमार, आधी रात बीत गई है। अब घर चल।'

'चलता हूँ।'

परन्तु धनकुमार थोड़ा भूल गया है। वह पैदल जा रहा है। मैं उसके साथ हूँ। जब वह नगर में पहुँचता है उसे पथ पर एक आदमी हँसता हुआ मिलता है।

धनकुमार कहता है : 'कौन ?'

वह कहता है : 'चोर !'

'अच्छा ! तुम चोर हो !' कहता है धनकुमार ।

'डरो मत !' वह कहता है : 'देखते हो । यह किसका विशाल भवन है वहाँ ?'

'वह शालिभद्र का है ।'

'शालिभद्र !' वह चोर कहता है हँसकर : 'बड़ा चालाक है । तुम भी चोर हो न ? ऐसे अंधेरे में और कौन निकलता है ? वहाँ न जाना उसके यहाँ ! जानते हो ! मैं सेंध लगाकर घुसा तो वह जाग उठा और लेटा रहा । मैंने देखीं, दीप के प्रकाश में खुली आँखें । मै डरा तो बोला : मित्र ! यह सब ले जा ! यह सब बहुत बड़ा पाप है । बहुत बडा पाप है । इसने मुझे बाँध रखा है । इसके कारण ही मैं राजा का दास हूँ । मैं तीर्थंकर महावीर के पास गया था तो वे बोले कि मोह जन्म लेता है धन से, धन ही पाप है । ले जा ! जितना ले जा सके ले जा ! मै आँखें बंद किये हूँ । तू यही समझ ले मैं सो रहा हूँ । —उसकी बात सुनकर मैं काँप उठा । मैंने सोचा : संसार धन के लिये रोता है, लड़ता है, मैं चोरी करता हूँ, पर यह इससे घृणा करता है । तो मैं कमी की वजह से इसके पीछे हूँ, पर यह अघा चुका है । तभी तो छोड़ रहा है, जसे बैल घी पीकर अघा कर मुड़ जाता है ।—मैंने कहा : शालिभद्र ! मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि तू जिसे पाप कहे वह मैं ले लूं ।'

चोर हँसता है और चला जा रहा है । धनकुमार सोचता है·····यह चोर भी किसीके पाप को नहीं लेता और तूने पाप लिया था धनकुमार·····

मैं कहता हूं···धन एक पिशाच है जो सब पर छा रहा है । वह सब पर बैठ गया है । धन के दीपक में अधिकार की दीपशिखा जलती है और अहंकार की चमक फैलती है, जो सब कुछ दिखाती है किन्तु अपने ही नीचे के अंधकार को कभी नही मिटा पाती । धन के कारण पति-पत्नी, स्वामी-सेवक हैं । और लाभ के लिये मनुष्य करता है बेईमानी । ईमान की रोटी का अर्थ है दरिद्रता । दरिद्रता का अर्थ है पाप । उस पाप का प्रतिकार है वैभव ! जो उससे भी बड़ा पाप है ।

धनकुमार कहता है : 'और वह मेरा धनपुर ! मैंने तो किसान देखा है

जो धन नहीं लेता था !'

मैं कहता हूँ : 'पज्जा अम्मा के पुण्य से तू आज तक जीवित रहा है। धनपुर तेरे अहंकार का ही रूप था। पृथ्वी पर स्वर्ग कहाँ ? पुनर्जन्म के भय से लोक में दरिद्र अपने अभावों में तड़पता हुआ सत्य के पास चक्कर लगाता है, पर उसे छू नहीं पाता। धनी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण···यह पुनर्जन्म से डरकर भी नहीं डरते, क्योंकि अधिकार और धन इन्हें पागल किये रहते हैं। उनका स्वार्थ ही उनका अंत है। वे चतुर है अतः दूसरों की आँखों में धूल झोंकते हैं। और इन सब पर है भाग्य। भाग्य! जिसमें व्यक्ति पानी के बुलबुले की तरह फूलता है, रंग-बिरंगा दिखाई देता है और फिर फट जाता है···जन्म एक दुख है····· मृत्यु दूसरा दुख है·· और इनके बीच में मनुष्यों का प्रयोग है·· शाश्वत तब चलना ··व्यक्ति सदैव लोक में बद्ध है·· और यह बन्धन हैं धन के·· धन से पेट पलता है, मैथुन होता है···धन ही पाप है···धन ही दासत्व है·· यह लोक चल रहा है···हम नहीं जानते यह क्यों चल रहा है···कर्मों के फल से जन्मने वाले असाम्य और दुख कैसे दूर हो सकते हैं···व्यक्ति को बचना होगा···क्योंकि यह सब झूठ है···यह सब छलना है···

धनकुमार कहता है···फिर ?

'तू ही सोच···

मैं कहता हूँ : 'धनकुमार ! तू तो फिर इसी जगह लौट आया है···

'हाँ, यहाँ मेरी कुसुमश्री है, सोमश्री है, सुभद्रा है·· सौभाग्य मंजरी है गीतकला है, सरस्वती है···गुणवंती है···लक्ष्मी है·· वे सब मुझे प्रिय हैं ·· उन्होंने मुझे सुख दिया है···उन सबने मुझे प्यार किया है ··

मैं कहता हूँ···नीच ! प्यार ! प्यार किया धन को · तेरी बुद्धि को·· तेरे वैभव को···और बता तो···? तूने किसे प्यार किया है प्यार ऐसे बँट सकता है·· ? प्यार है ही क्या ? तू उनके जन्म के लिये उत्तरदायी नहीं था, न होगा उनकी मृत्यु के लिये···तू, जिसे अपने ही जन्म और मृत्यु पर अधिकार नहीं··· तू कैसे स्वामी बन गया मूर्ख···? तू यात्री है···यात्रा में मत भूल···उस वासना को दबा जो तुझे निर्मल मनुष्यत्व से दूर करती है·· कोई चारा नहीं है···

धनकुमार भीतर चला गया है। गुणवंती बैठी है···

धनकुमार कहता है : 'गुणवंती ! आनन्द क्या मैथुन में है ? मैथुन तो पशुता है न ?'

गुणवंती चौक उठती है । समझ नहीं पाती ।

धनकुमार ठिठक जाता है···सामने शिरीष आ गया है । धनकुमार उसे देखता है । कहता है : 'पुत्र ! तू किसका पुत्र है ?'

शिरीष खेल में लगा है । वह नहीं सुनता ।

धनकुमार वस्त्र उतारता है । धोती पहनकर नहाने बैठता है । सुभद्रा नहला रही है । पानी ठंडा है । अच्छा है ।

अचानक गर्म बूँद गिरती है पीठ पर ।

धनकुमार मुड़कर देखता है । मैं अब चुपचाप दर्शक बन गया हूँ ।

'क्यों रोती हो सुभद्रे !' धनकुमार पूछता है ।

'स्वामी !' सुभद्रा कहती है । धनकुमार वदन पोंछने लगता है । वह कहती है : 'भैया शालिभद्र घर छोड़कर महावीर वर्द्धमान से दीक्षा लेना चाहते हैं । माँ रोती है । एक ही तो पुत्र है । बत्तीस स्त्रियाँ हैं । सब रोती हैं । भैया रोज समझाते हैं उन्हें । पता नहीं, क्यों घृणा हो गई है सबसे ?'

धनकुमार हँसता है । सुभद्रा देखती है । पूछती है : 'क्यों हँसते हैं स्वामी !'

'हँसता हूँ', धनकुमार कहता है—'घृणा हो गई होती तो छोड़ जाता न ?' वह सूखी धोती पहनता है ।

सुभद्रा फूत्कार-सा करती है : 'छोड़ना सरल नहीं स्वामी ! छोड़ने वाले दूसरों पर व्यंग्य नहीं करते ।'

मैं हँस उठता हूँ । कहता हूँ : 'धनकुमार ! सावधान ! आवेश नहीं आना चाहिये । आवेश नहीं करना अब ! सोचकर देखो । यह क्या कहती है !'

धनकुमार सुभद्रा के पाँव छूकर कहता है : 'तू मेरी गुरु है । पथ-प्रदर्शिका है । तू ठीक कहती है । कायरता के कारण ही यह डर लगता है ।'

सुभद्रा अवाक् खड़ी है । धनकुमार चल देता है । मैं देखता हूँ । एक धोती पहने वह राजगृह के पथों पर जा रहा है । पर वह नहीं देख पाता कि लोग क्या कहते हैं, कैसे देख रहे हैं । उसे नहीं पता कि पीछे दूर पर उसकी स्त्रियाँ रोती-पीटती आ रही हैं, रो रहा है शिरीष । एक है जो स्तब्ध है । नहीं रोती । कौन ? सुभद्रा ।

धनकुमार के पीछे भीड़ चल रही है। वह शालिभद्र के द्वार पर पहुँच गया है। भद्रा देखती है जामाता को। कहती है : 'देखो शालिभद्र ! तुम्हारे वैराग्य की सुनकर जामाता तुम्हें रोकने को कैसे भागे आ रहे है। सब रो रहे हैं।'

'शालिभद्र !' धनकुमार पुकारता है : 'देर हो रही है।'

शालिभद्र की स्त्रियाँ रो उठी है। अब फिर चुप हैं।

धनकुमार पुकारता है : 'शालिभद्र ! इस वैभव के दास कब तक बने रहोगे ! कब तक अपने को धोखा देते रहोगे !'

भद्रा अवाक् है। बत्तीस पत्नियाँ स्थिर है, पथरा गई हैं। पास आकर पत्थर-सी खड़ी हैं धनकुमार की पत्नियाँ।

'चलो शालिभद्र !' धनकुमार पुकारता है।

बाहर भीड़ आ गई है। बहुत लोग हैं अब !

धनकुमार कहता है : 'शालिभद्र ! यह सब बहुत बड़ा इन्द्रजाल है। इसे जी कड़ा करके एक झटके से तोड़ दो। मैंने सुना कि तुम इसे छोड़ नहीं पा रहे हो। बहुत दुखी हो रहे हो ! आओ ! मै बाहर निकलकर आया हूं, मैं तुम्हें पुकार रहा हूं ··यह सब कुछ भी अपना नहीं है···

भीड़ में घबराहट होती है, स्त्रियाँ छाती पीट रही हैं···माँ भद्रा सिर पत्थर पर मार रही है···शिरीष रो रहा है···

शालिभद्र आ रहा है। शांत ! भव्य ! एक भी आभूषण नही। एक धोती। मुख पर गांभीर्य !

'चलो शालिभद्र ! उसके पास चलें जो महावीर है। कायर बनकर मत चलो उसके पास।'

शालिभद्र कहता है : 'आ गये हो धनकुमार ? यह सब मुझे बार-बार खींच लेता था। तुम सचमुच पराक्रमी हो।'

धनकुमार कहता है : 'हम दोनों चलेंगे। शालिभद्र ! हम दोनों चलेंगे।'

हठात् एक स्वर गूंजता है : 'तुम दो ही जाओगे ? इस समय भी गर्व नहीं छूटा तुमसे ? मैं भी जाऊँगी न ? मैं क्यों नहीं जाऊँगी ? यह पुरुष और स्त्री का भेद तो बाहरी है न ?'

शालिभद्र हँसकर कहता है : 'अरे सुभद्रा ! चलेगी ! लौटेगी तो नही ?'

धनकुमार कहता है : 'बहन ! चल ! तुझे कौन रोकेगा ! जैसा पुरुष ! वैसी ही स्त्री ! पुरुष को स्त्री बन्धन है, स्त्री को पुरुष ! दोनों के मिलने से ही तो कार्यों का बंधन बँधता है !'

भद्रा ढाढ़ें मारती है। स्त्रियाँ दारुण क्रंदन कर रही हैं।

हठात् फिर सुभद्रा कहती है : 'अरी मंगल गीत गाओ। आज मुक्ति के पथ पर जा रहे हैं हम, तीन अपरिचित आत्माएँ। देह के रूप में एक मेरा भाई था, एक पति था। अब हम स्वतन्त्र हो गये है। आज वीर बेला है। गाओ····· पालकी सजाओ ! वाद्य बजने दो·····

मैं कहता हूँ : 'धनकुमार ! वह देख, कौन आ रहा है·····

धनकुमार मुझसे कहता है : 'यह तो वही है न ? जो बिंबसार कहलाता है ? यही तो मगध का सम्राट् है न ? अब भी क्या मुझे इसे झुककर प्रणाम करना होगा ?'

मैं कहता हूं : 'प्रणाम करने में क्या दोष है ! नम्रता ही श्रेष्ठ है।'

धनकुमार तब सबको हाथ जोड़ता है·····पत्नियों से कहता है : 'माताओ प्रणाम·····नागरिकों, दासों, सेवकों, सैनिकों, दासियों, सम्राट् और श्रेष्ठियों से कहता है·····भाइयो·····बहनो·····प्रणाम·····

(1) बिंबसार कहता है : 'कहाँ जा रहा है वत्स·····मेरी पुत्री·····मेरा दौहित्र·····

धनकुमार कहता है·····बिंबसार ! सब एक जाल है·····ध्यान से देखो·····यह सब एक जाल है·····

अब सुभद्रा कहती है : 'ओ भद्रे ! तुम रजोहरण पात्र लेकर बैठो·····

विशाल भीड़ चल रही है·····

लोग बातें कर रहे हैं·····

धनकुमार और शालिभद्र·····सुभद्रा भी·····

मैं कहता हूँ·····तेरी प्रशंसा हो रही है। अहंकारी ! इस नाम के लिये इतना व्याकुल है तू ? यह नया नाटक रचा है तूने ? देख सुभद्रा को देख ! वह है श्रेष्ठ त्यागिनी ! कभी कुछ न बोली। वह माँगती नहीं। जो ठीक समझती है ले लेती है·····वह कभी अभाव से नहीं दबती·····शालिभद्र को देख ! कैसा नमित है·····

धनकुमार कहता है·····लौट जाओ भाइयो, लौट जाओ बहनो ! बिंबसार ! भद्रा ! सब लौट जाओ। हम आज महान् की शरण में जा रहे हैं। महान् इसीलिये आये हैं·· ···

मैं कहता हूँ·· ···धनकुमार ! अब भी सब चल रहे हैं·····

धनकुमार कहता : 'पर कहाँ हैं ? मुझे तो कोई नहीं दीखता···मैं किसीको पहचान क्यों नहीं पाता····· यह कौन है·····

मैं कहता हूँ ··· 'यह है, शालिभद्र·····यह है सुभद्रा·····

वह कहता है : 'हाँ इसे मैं जानता हूँ·····

मै पूछता हूँ : 'अच्छा यह तुझे याद है ? देख बाकी स्त्रियाँ कैसी रो रही हैं·····

अन्धेरा हो रहा है·····अन्धेरा·····उस अन्धेरे में से एक प्रकाशमान मुख दिखता है···· ····यह कौन है···· महावीर वर्द्धमान·····

तब मैं धनकुमार से मिलकर एक हो जाता हूँ·····और हम दोनों महावीर के चरणों पर फूट-फूटकर रोने लगते है·····और देखते है महावीर असीम दया से·····करुणा से·····

'उतार दो यह वस्त्र ! यह लज्जा का कारण भीतर के पाप को छिपाता है। नग्न हो जाओ, तब देखो कि तुम अपने को विकारों की कुरूपता से छिपा सकते हो या नहीं·····नोंच दो यह केश, यह तुम्हें सुन्दरता का भ्रम देते हैं, इन्हें चिकना मत करो, हृदय में दया और अहिंसा के स्नेह को जाग्रत करो····· इस देह को दुख दो·····दो, क्योंकि इस देह की आत्मा को इस देह ने पाप में डाला है·····यह आत्मा पहले निर्मल थी, उस समय मुक्ति नहीं है जिसे तुम्हारी वासनाओं ने बनाया है। वह तो कर्मों का जाला है ·· 'वह निरन्तर चलता जायेगा ·····मुक्त वही होगा जो कर्मों का क्षय कर देगा·····एक आत्मा लोक के कर्म जाल को कैसे नष्ट कर सकती है ? क्या वह दूसरों को उठा सकता है, बिना अपने को उठाये···पहले अपने को निर्मल करो, फिर आओ··· आओ लोक-मानस को जगाने·····संसार से हिंसा और घृणा को हटाने····· संसार से जाति का अहंकार मिटाने·····अपने को पवित्र इसलिये मत करो कि तुम अपने अहंकार को तृप्त करना चाहते हो·····इसलिये करो कि लोक देखे कि जिस धन-वैभव के जाल में वह फँसा है, उसमें वह कितना निरीह है, और

वास्तव में मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है·····कहाँ तक जा सकता है यह मनुष्य····· न जाने कितनी अवसर्पिणी बीत चुकी है ·····बीतती जायेंगी··· न कभी मनुष्य के लिये जल्दी है·····न देर·····बढ़ते चलो·····बढ़ते चलो ···अविराम·····अविराम है यह क्रम·····आज तक तुमने त्याग किया है, अपने अहं को संतुष्ट करने को, अब उस अहं का नाश कर दो···धन अकेला पाप नहीं होता·····मानव से मिलकर वह पाप बन जाता है·····अन्यथा सुवर्ण भी मिट्टी का ढेला है···· सुख-दुख मनुष्य परिवार में झेलता है·· जन्म और मृत्यु भाव को हँसाते-रुलाते है·····उन्हें प्रकृति का नियम समझो····· छोटे परिवार से विशाल परिवार में आओ···इन्द्रियों को जीतने का मार्ग है जिन मार्ग ····· बहुत प्राचीन है मनुष्य की साधना·· कई बार तप किया है मनुष्य ने··· दुख सत्य नहीं है, दुख की प्रतीति सत्य है·····मनुष्य अपने कर्मो के कारण दुखी है·····प्रकृति को न समझने के कारण दुखी है·····मृत्यु अनिवार्य है·· ···और अपने दम्भ में मनुष्य अमर रहना चाहता है····· यह क्या उसका अज्ञान नहीं ? जो मृत्यु को प्रकृति का नियम मानकर समझ लेगा ·····वह क्यों रोयेगा ? अभाव से रुदन आता है·····अभाव का अनुभव मत करो ···· दीन और धनी सुवर्ण को महत्व न दें, मनुष्य को दें···· तो यह पाप कहाँ रहे ? और धन से भी बड़ा पाप है··· ··अधिकार का लोभ·····इस लोभ के कारण मनुष्य अपने आपको खो देता है·····

मैं सुन रहा हूँ।

वीरप्रभु कहते हैं : 'जाओ ! जिस नगर में शासन किया है वहाँ भिक्षा माँगो·····मिटा दो अपने अहं को·····एक बार जो तुम देने का अभिमान रखते हो यह भी देखो कि यह लोक तुम्हें उतना सदैव देता है जितना तुम्हारे जीवित रहने को आवश्यक है·····

उस क्षण मुझे लगा कि मेरा द्वन्द्व समाप्त हो गया और तब मैं चल पड़ा··· भिक्षा माँगने ··नंगा···मैला-कुचैला···और लौट आया·· मुझे किसीने नहीं पहचाना···लोग मुझे पहचानते थे मेरे वस्त्रों से, मेरे पद से·····मुझे कोई नहीं जानता था।

शालिभद्र और मैं दोनों ने थककर देखा। हम मुस्करा उठे थे।

अब मेरे जीवन में उद्वेग नहीं है। मैं छोड़कर नहीं आया, मैं छूट गया

हूँ···क्योंकि मुझे अब व्यथा नहीं सताती। एक बार याद आया है सब। ऐसा लगा है कि मैं एक और व्यक्ति को देख रहा हूँ। सचमुच वह एक छोटी दुनिया थी। उस समय मै अपने स्वार्थ के लिये अन्याय को भी न्याय बनाकर देखता था, अपने मन को बहलाया करता था। अब ऐसा नही होता। अब मुझे किसीका भी भय नहीं है। मै राजा और प्रजा को एक-सा देख रहा हूँ···पहले राजा बड़ा लगता था···अब वह केवल मनुष्य लगता है·····

आकाश में अनन्त नक्षत्र बिखरे हुए है। लोक के लिये व्यक्ति जाग रहा है ··और व्यक्ति के लिये लोक को जागना होगा और ऐसे ही क्रम चलता चला जायेगा ··निरन्तर·· ···अविराम·····

परिशिष्ट

"इस तरह आदमी ने आज से ढाई हज़ार साल पहले इसी दुनिया की गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी युग-सीमा में ऐसा प्रयत्न किया। और तब भी वह दुनिया को काफ़ी पुराना समझता था। बल्कि उस पुरानी दुनिया की यात्रा में एक मंज़िल पर आकर आदमी सोचने लगा था कि आज तक मनुष्य बर्बर रहा है···आगे वह ठीक होता जायेगा। और निरन्तर यह संसार बढ़ता रहा है··· सुधरता रहा है और हम जो कि नया रास्ता बना रहे हैं···हमें याद रखना है कि अपनी युगसीमा में जिसे हम शाश्वत समझ रहे हैं·····वह भी परिवर्तन-शील है।"